ध्येय IAS
हमारा ध्येय आपकी क्षमता का विकास

DHYEYA The IAS
Aim to Learn, Learn to Aim

INDIAN NATIONAL MOVEMENT

(MAINS)

VINAY SINGH

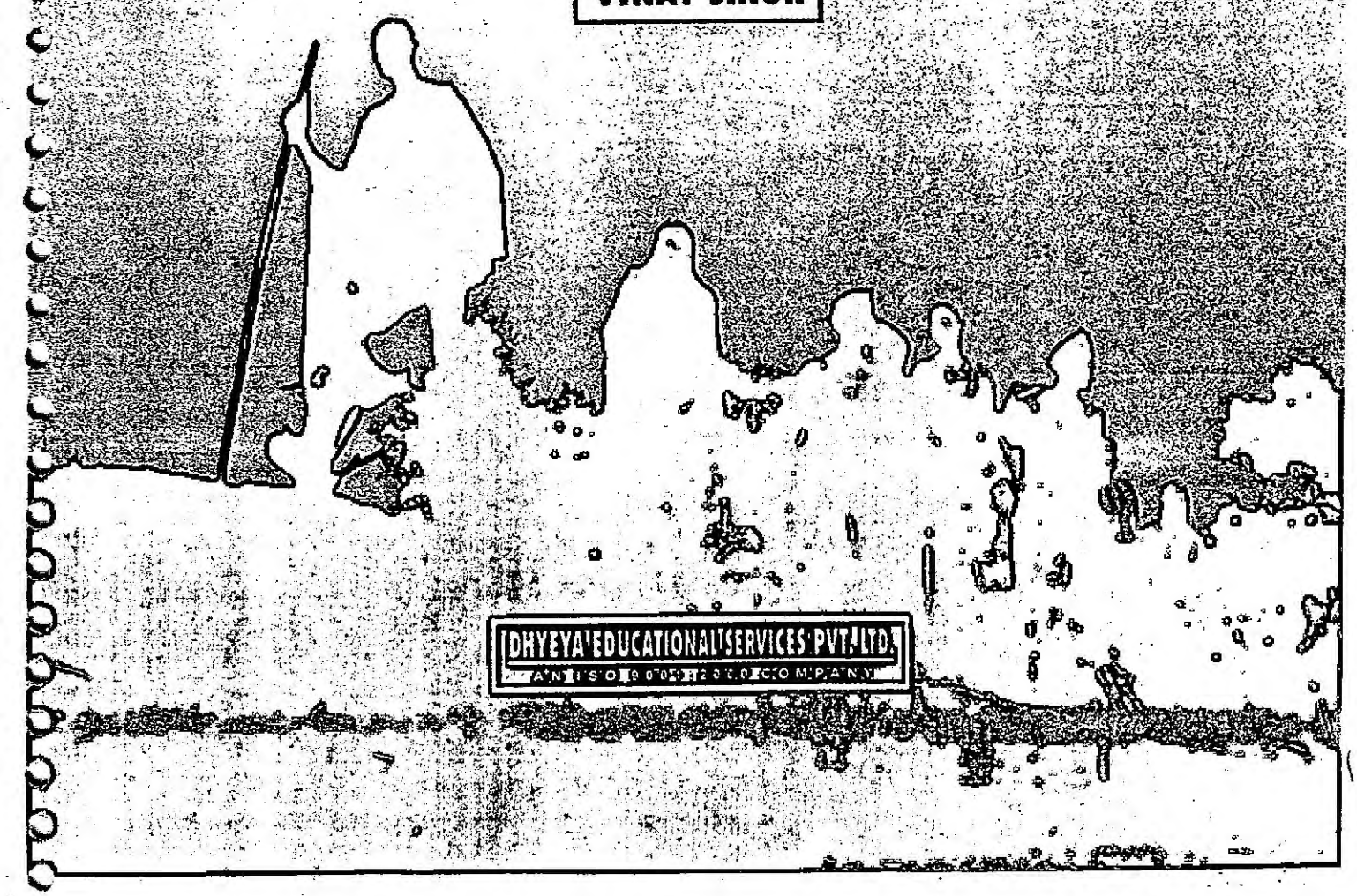

DHYEYA EDUCATIONAL SERVICES PVT. LTD.
AN ISO 9001:2008 CERTIFIED COMPANY

INDEX

अध्याय 1	:	साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद	1 - 14
अध्याय 2	:	भारत में ब्रिटिश साम्राज्य	15 - 22
अध्याय 3	:	सन् 1857 का विद्रोह	23 - 36
अध्याय 4	:	भारत में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलन	37 - 56
अध्याय 5	:	भारत में राष्ट्रवाद का उदय एवं कांग्रेस की स्थापना	57 - 66
अध्याय 6	:	नरमपंथ-गरमपंथ आंदोलन (1885-1913)	67 - 92
अध्याय 7	:	प्रथम विश्व युद्ध की राजनीति (1913-1919)	93 - 110
अध्याय 8	:	राष्ट्रीय आंदोलन और गाँधी (1915-1935)	111 - 138
अध्याय 9	:	द्वितीय विश्व युद्ध की राजनीति (1935-1945)	139 - 150
अध्याय 10	:	भारत स्वतंत्रता की ओर (1943-1947)	151 - 156
अध्याय 11	:	अन्य प्रमुख आंदोलन	157 - 178
अध्याय 12	:	भारत में विभिन्न संस्थाओं का विकास	179 - 194
अध्याय 13	:	विशेष सामग्री (20 शब्द)	195 - 240

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद

अर्थ

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद परस्पर संबंधित विचारधारा हैं। ये दोनों एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हैं कि इन्हें एक दूसरे से अलग करके समझना संभव नहीं। इन दोनों को एक दूसरे के पूरक के रूप में ही समझा जा सकता है। साम्राज्यवाद अंग्रेजी शब्द इम्पीरियलिज्म (Imperialism) का हिन्दी अनुवाद है। इम्पीरियलिज्म शब्द लैटिन शब्द 'इम्परेटर' से बना है, जो अधिनायकवादी और केन्द्रीयकृत सत्ता तथा मनमाने प्रशासनिक पद्धति का प्रतीक है। साम्राज्यवाद पूंजीवादी विकास की उस प्रक्रिया की ओर संकेत करता है, जिसमें विश्व के विकसित और पूंजीवादी देश संसार के कमजोर और विखंडित देशों पर विजय प्राप्त करने और उन पर प्रभुत्व स्थापित करने की महात्वाकांक्षा रखते हैं। साम्राज्यवाद का सर्वप्रथम प्रयोग नेपोलियन की विस्तारवादी नीति के सन्दर्भ में हुआ। बाद में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया। सामान्यतौर पर जब एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के प्रति एक विशेष प्रकार का आक्रामक व्यवहार करता है तथा जिसके अंतर्गत वह विजित राष्ट्र के शासन व्यवस्था को अपने हितोनुकूल बनाने का प्रयास करता है तो इसे सूचित करने के लिए 'साम्राज्यवाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है। दूसरी ओर वह देश, जो पूंजीवादी देश के अधीन हो और उसकी राजनीतिक और आर्थिक गतिविधियाँ शासक देश द्वारा संचालित हो तो वह उसका 'उपनिवेश' कहलाता है, और उपनिवेश में जो घटित होता है उसे 'उपनिवेशवाद' की संज्ञा दी जाती है। इस व्यवस्था के अंतर्गत साम्राज्यवादी देश द्वारा अपने उपनिवेश के संसाधनों का इस प्रकार उपयोग किया जाता है कि उसके देश का आर्थिक विकास संपन्न हो सके। अर्थात् उपनिवेशवाद का मूल तत्व आर्थिक शोषण में निहित है। इस प्रक्रिया में उपनिवेश के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों के संचालन का अधिकार भी शासक देश के हाथों में आ जाता है। दूसरे शब्दों में, किसी देश पर पूर्ण रूप से साम्राज्यवादी प्रभुत्व ही उपनिवेशवाद है।

उपनिवेशवाद की प्रकृति

उपनिवेशवाद अपनी प्रकृति से शोषण की वह स्थिति है जिसमें साम्राज्यवादी देश अपने हित साधन के लिए उपनिवेश के संसाधनों का उपयोग करता है। इसके लिए उपनिवेश के राजनीतिक आर्थिक एवं सामाजिक संगठन में इस प्रकार के बदलाव लाए जाते हैं, जो पूंजीवादी देश के हितों को पूरा करने में सहयोग प्रदान करें। पूंजीवादी देश

उपनिवेशवाद की अलग-अलग अवस्थाओं में उपनिवेश की जीवन शैली को अलग-अलग दिशाओं से प्रभावित करता है ताकि उसके अपने स्वार्थों की पूर्ति में किसी तरह की बाधा उत्पन्न न हो। पूंजीवादी देश उपनिवेशों की जीवन शैली को पूरी तरह पूर्व पूंजीवादी व्यवस्था में भी नहीं रहने देते और न ही उसे पूरी तरह पूंजीवादी व्यवस्था में प्रवेश करने देता है। ऐसा एक सुनियोजित रणनीति के तहत किया जाता है ताकि पूंजीवादी देश अपने औद्योगिक एवं पूंजीवादी विकास के लिए उपनिवेश के कच्चे माल एवं श्रम शक्ति का दोहन कर सके और उपनिवेश सदा के लिए उपनिवेश ही बना रहकर पूंजीवादी देश के उत्पादनों का बाजार बना रहे। वास्तव में यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें उपनिवेश विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का एक अभिन्न हिस्सा बन जाता है, लेकिन उसकी पूंजीवादी उत्पादन के विकास तथा औद्योगिक क्रांति में कोई भूमिका नहीं होती। यद्यपि उपनिवेशवाद विश्व के अविकसित देशों को विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग तो बनाता है तथापि उसे ऐसी दशा में रखता है कि वह पूंजीवादी उत्पादन के विकास या औद्योगिक क्रांति से सीधा संबंध न बना सके। वस्तुत: उपनिवेशवाद द्वारा उपनिवेशों के विकास को अवरूद्ध रखा जाता है, ताकि वहाँ वास्तविक पूंजीवादी व्यवस्था का विकास न हो सके।

उपनिवेशवाद की प्रमुख विशेषताएं

- साम्राज्यवादी राष्ट्र द्वारा अधीनस्थ देश के राजनैतिक और आर्थिक तंत्र पर अधिकार।
- उपनिवेश का विभिन्न स्तरों पर शोषण करके उसके संसाधनों का साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा स्वहित में प्रयोग।
- उपनिवेश के विकास में उस हद तक रूचि लेना जिससे साम्राज्यवादी शक्ति के अपने हितों की पूर्ति हो सके।
- साम्राज्यवाद के विभिन्न अवस्थाओं जैसे-वणिकवाद, स्वतंत्र व्यापार नीति तथा वित्त पूंजीवाद में शोषण की नवीन प्रणाली का विकास जिससे कुल पूंजीवादी लाभ अधिकतम हो सके।
- उपनिवेश को सदा के लिए उपनिवेश बनाए रखने का प्रयास करना, ताकि पूंजीवादी शक्ति को अपने हित साधन में बाधा न पहुँचे।
- ऐसी राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों एवं परंपराओं को बढ़ावा देना, जिससे उपनिवेश कच्चे माल का स्रोत तथा पूंजीवादी तैयार माल का बाजार बन सके।

उपनिवेशवाद की अवस्थाएं

उपनिवेशवाद एक स्थिर ढाँचा नहीं है। इसके विकास की प्रक्रिया विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरती है जो पूंजीवादी देश की आवश्यकता के अनुकूल परिवर्तित होती रहती है। उपनिवेशवाद का स्थिर तथ्य सिर्फ एक है - और वह है पूंजीवादी शक्ति द्वारा अपने हित में उपनिवेश का शोषण। शोषण की यह प्रक्रिया प्रत्येक अवस्था में रहती है। इस शोषण को स्थायी एवं अधिकतम करने के लिए साम्राज्यवादी देश अलग-अलग दौर में अलग-अलग साधनों का प्रयोग करता है, जो उपनिवेशवाद की अवस्थाओं का निर्माण करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि विभिन्न उपनिवेशों के लिए उपनिवेशवाद की अवस्थाएं समान हो, एकस्तरीय हो। अलग-अलग समय में अलग-अलग उपनिवेशों में अलग-अलग अवस्थाएं पायी जाती हैं। भारत में उपनिवेशवाद को तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है-

1. प्रथम अवस्था (1757-1813 ई.)
2. द्वितीय अवस्था (1813-1860 ई.)
3. तृतीय अवस्था (1860-1947 ई.)

प्रथम अवस्था (1757-1813 ई.)

1757 में प्लासी युद्ध में अंग्रेजों की विजय के साथ भारत में उपनिवेशवाद के प्रथम अवस्था की शुरूआत हुई। प्लासी युद्ध में विजय के उपरांत ब्रिटेन की एक व्यापारिक कम्पनी भारत में एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरकर सामने आयी। इसीलिए इस अवस्था को 'ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन काल' के नाम से जाना जाता है। इसे 'एकाधिपत्य व्यापार तथा प्रत्यक्ष विनियोग' का काल भी कहा जाता है। विश्व अर्थव्यवस्था में यह वणिकवाद का युग था। भारतीय संदर्भ में इसे वाणिज्यिक पूंजीवाद के नाम से जाना जाता है। इस काल में कंपनी के भारत में दो मुख्य लक्ष्य थे-

(i) पहला लक्ष्य, भारत के साथ व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करना था। इसका अर्थ था कि अन्य अंग्रेजी व यूरोपियन व्यापारियों व व्यापारिक कम्पनियाँ भारतीय माल को खरीदने व बेचने में ईस्ट इंडिया कंपनी का मुकाबला न कर सकें। साथ ही भारतीय व्यापारी भी ऐसा न कर सके। इस व्यापारिक एकाधिकार से ईस्ट इंडिया कम्पनी जितना सस्ता हो सके, उतने सस्ते में भारतीय माल खरीद सकती थी और विश्व बाजार में ऊँचे से ऊँचे दाम पर बेच सकती थी।

(ii) दूसरा लक्ष्य, भारत की सत्ता पर नियंत्रण स्थापित कर राजस्व नियंत्रित करना था। इसने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी। इस काल या अवस्था में भारी मात्रा में भारत से कच्चे माल का निर्यात ब्रिटेन के उद्योगों को समृद्ध करने हेतु किया गया।

इस दौर में भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की कुछ मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित थीं-

- कम्पनी की राजनीतिक विजय के कारण कम्पनी को भारतीय राजस्व वसूली का अधिकार मिला। वसूल किए गए राजस्व के अधिकतम हिस्से को कंपनी ने भारतीय व्यापार में विनियोजित किया, जिससे कंपनी को अधिकतम लाभ प्राप्त हुआ।
- भारतीय उत्पादनों के निर्यात में वृद्धि हुई, किन्तु निर्यात में वृद्धि का लाभ भारतीयों को नहीं, वरन् कंपनी को मिला क्योंकि कंपनी ने उन्हें अपने हित में कार्य करने के लिए बाध्य किया और उनका शोषण किया।
- उपनिवेशवाद के इस काल में भारतीय उपनिवेश में प्रशासन, न्याय व्यवस्था, व्यापार प्रबन्धन एवं आर्थिक संगठन आदि के क्षेत्र में कंपनी द्वारा कोई विशेष परिवर्तन नहीं किए गए। उन्हीं प्रचलित व्यवस्थाओं में शोषण को लागू करने का प्रयास किया गया।

द्वितीय अवस्था (1813-1860 ई.)

1813 तक ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति सम्पन्न हो चुकी थी और वहाँ एक ऐसे उद्योगपति वर्ग का उद्भव हो चुका था, जो राजनीति को प्रभावित करने की स्थिति में था। इस नवोदित पूंजीपति वर्ग ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापारिक

एकाधिकार पर आपत्ति जतायी और राजनीतिक शक्ति के प्रयोग द्वारा उसे सीमित करने में सफलता भी पायी। 1773 से 1813 तक के विभिन्न चार्टर एक्ट के द्वारा कंपनी का व्यापारिक एकाधिकार क्रमशः खत्म होता गया और 1813 के उपरांत भारत में मुक्त व्यापार का काल प्रारंभ हुआ। इस चरण या अवस्था को औद्योगिक पूंजीवाद के नाम से जाना जाता है। इस दौर में ब्रिटिश उत्पादों के भारत में निर्बाध प्रवेश को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया और ब्रिटेन के पूंजीपतियों की सहायता के लिए भारत में मौजूद ब्रिटिश सरकार के प्रभावों का उपयोग किया गया। मुक्त व्यापार के इस दौर में ब्रिटेन द्वारा भारत से दो प्रमुख पूंजीवादी लक्ष्यों की पूर्ति का लक्ष्य रखा गया – ब्रिटेन के नवोदित उद्योगों को भारत से कच्चा माल उपलब्ध कराना तथा भारत को इन उद्योगों के उत्पादित माल का बाजार बनाना। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ऐसी नीतियाँ बनायी गयीं जिससे भारतीय पारम्परिक व्यवस्था में बदलाव हो और भारतीय लोगों में ब्रिटिश उत्पादों के प्रति रूचि उत्पन्न हो। इस दौर में औपनिवेशिक हितों को पूर्ण करने वाली व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं थीं-

- औद्योगिक क्रांति ने भारत और ब्रिटेन के आर्थिक संबंधों को परिवर्तित कर दिया था। अब ब्रिटेन को व्यापार द्वारा नहीं, बल्कि उद्योग जनित लाभ की आवश्यकता थी। अतः भारत में विद्यमान व्यवस्था को पूर्ण रूप से बदलने की आवश्यकता महसूस की गई।
- मुक्त व्यापार नीति को जारी रखने और अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए ब्रिटेन से भारत आने वाली सभी वस्तुओं पर आयात कर या तो पूर्णतः समाप्त कर दिए गए या अत्यन्त कम रखे गए। परंतु यह मुक्त व्यापार एकमार्गी था अर्थात् ब्रिटेन से भारत को निर्यात होने वाली वस्तुएं तो शुल्क मुक्त थीं, लेकिन भारत से ब्रिटेन निर्यात होने वाली वस्तुओं पर उच्च दरों वाले शुल्क आरोपित किये जाते थे। इससे दो लाभ होते थे, पहला ब्रिटेन के घरेलू उद्योग भारत की कुशल कारीगरी से बनी वस्तुओं से सुरक्षित रहते थे तो दूसरी तरफ ब्रिटिश वस्तुओं के लिए भारतीय व्यापार खुला हुआ था।
- भारत में भूमि बंदोबस्त, प्रशासन और विभिन्न आर्थिक नीतियां लागू कर भारत को ब्रिटिश मुक्त व्यापार के योग्य बनाया गया – स्थायी नहरों के विकास तथा रेलवे की व्यवस्था द्वारा कच्चे माल को बंदरगाहों तक पहुँचाने और तैयार माल को आंतरिक क्षेत्रों तक लाने की व्यवस्था की गई।
- विस्तृत एवं व्यापक प्रशासन द्वारा भारत के दूरगामी तथा आंतरिक क्षेत्रों तक ब्रिटिश व्यवस्था की पहुँच बनायी गई और भारतीय कानून व्यवस्था में परिवर्तन करके ब्रिटिश पूंजीपतियों को सुरक्षा की गारंटी दी गई।
- आर्थिक लेन-देन को आसान बनाने के लिए आधुनिक डाक तथा टेलीग्राफ व्यवस्था विकसित की गई।
- भारत जैसे विशाल देश के प्रशासन को कुशल ढंग से संचालित करने के लिए आधुनिक शिक्षा की आधारशिला रखी गई।
- भारत से अतिरेक धन को ब्रिटेन स्थानान्तरित किया जाना इस अवस्था में भी उपनिवेशवाद का प्रमुख लक्षण बना रहा।
- इस दौर में भारतीय संस्कृति और समाज की तीव्र आलोचना की गई तथा ब्रिटिश शासन को भारत में सभ्यता के प्रसार के साधन के रूप में उपयोग किया गया। अंग्रेजों को इससे दो लाभ हुए--

1. भारतीय समाज का पश्चिमीकरण हुआ जिसने भारत को ब्रिटिश वस्तुओं के बाजार के रूप में परिवर्तित कर दिया।
2. इसने पश्चिमी सभ्यता के वाहक ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में शासन करने का नैतिक आधार प्रदान किया।

तृतीय अवस्था (1860-1947 ई.)

विश्व अर्थव्यवस्था में 1860 तक आये परिवर्तनों के परिणामस्वरूप भारत में उपनिवेशवाद के तृतीय अवस्था का आरंभ हुआ। इस चरण या अवस्था को वित्तीय पूंजीवाद का काल भी कहा जाता है। इस अवस्था के प्रारंभ होने के कुछ बुनियादी कारण थे-

- औद्योगिक क्रांति के यूरोप एवं अमेरिका के देशों में प्रसार के कारण ब्रिटेन की औद्योगिक श्रेष्ठता समाप्त हो गई।
- नवीन शक्ति के साधनों बिजली तथा पेट्रोलियम के प्रयोग से एक नवीन तकनीकी क्रांति का उदय हुआ तथा परिवहन के अंतर्राष्ट्रीय साधनों में क्रांति के कारण विश्व बाजार का अधिक एकीकरण हुआ।
- उपनिवेशों से पूंजी के अधिकाधिक दोहन के परिणामस्वरूप पूंजीवादी देशों में बड़ी मात्रा में पूंजी का संचय हुआ। अब इस पूंजी के निवेश के लिए पुनः एक प्रतिस्पर्द्धा शुरू हुई जिसमें उपनिवेशों का वित्तीय पूंजीवाद के द्वारा शोषण किया गया। इस प्रकार वित्तीय पूंजीवाद ने पुनः विश्व के विभाजन और नव-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया जो भारत में 1860 के बाद प्रारंभ हुई।

भारत में उपनिवेशवाद के इस अवस्था के दौरान संसार में ब्रिटेन की स्थिति को प्रतिद्वंद्वी पूंजीवादी देशों द्वारा लगातार चुनौती दी गई थी। भारत पर अपना नियंत्रण दृढ़ करने के लिए अब इसने सशक्त प्रयत्न किए। उदार साम्राज्यवादी नीतियाँ अब प्रतिक्रियात्मक साम्राज्यवादी नीतियों में परिवर्तित हो गयी।

यह लिटन, डफरिन, लांस डाउन तथा कर्जन के वायसराय के काल में प्रतिविम्बित हुआ। प्रतिद्वंद्वियों को बाहर रखने के लिए तथा ब्रिटिश पूंजी को भारत में आकृष्ट करने व इसे सुरक्षा प्रदान करने के लिए भारत में ब्रिटेन द्वारा पूंजी रेलवे, भारतीय सरकार के ऋण व्यापार व कुछ हद तक बागान, कोयला खान, जूट कारखानों, जहाजरानी तथा बैंकिंग में लगायी गई थी।

इस दौर में पुनः पूंजीवादी संघर्ष प्रारंभ हुआ जिसमें ब्रिटेन के साम्राज्य की सुरक्षा में भारत ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। ब्रिटेन ने इस नव उपनिवेशवाद की अवस्था में भारत पर अधिक तीव्र नियंत्रण की शुरूआत की। अधिक मजबूत, कार्यकुशल एवं व्यापक प्रशासन, निरंकुश किन्तु पितृवत तानाशाही तथा कट्टरवादी और प्रतिक्रियावादी ताकतों को प्रश्रय देने की नीति द्वारा भारत पर अपने राजनीतिक अधिकार को स्थायी रखने का प्रयास किया गया।

उपनिवेशवाद के तृतीय अवस्था की विशेषताएं निम्न थीं-

- भारत में ब्रिटिश पूंजी की सुरक्षा अब ब्रिटिश उपनिवेशवाद का पहला लक्ष्य बन गया था।
- एशिया और अफ्रीका में भी ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा, विस्तार और सुदृढ़ीकरण के लिए भारतीय सेना का प्रयोग किया गया और भारत पर अपने साम्राज्य को अधिकाधिक व्यापक बनाकर भारत के आर्थिक आत्म निर्भरता के प्रयास को दबाया गया।

- भारतीयों में पनप रही स्वशासन और राजनीतिक स्वतंत्रता की इच्छा को पूरी तरह दमन द्वारा कुचलने की नीति अपनायी गयी।

ब्रिटिश आर्थिक नीतियां

आमतौर पर यह विश्वास कि भारत कभी भी औद्योगिक देश नहीं रहा है, सही प्रतीत नहीं होता। इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि प्राचीनकाल से ही भारतीय हस्तशिल्प और कारीगरी कौशल भारत की समृद्धि के एक महत्वपूर्ण तत्व रहे हैं। वित्तीय शासन में गठित इंडस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट में इस बात की चर्चा की गई है कि 'बहुत पीछे के युग तक में, जबकि पश्चिम के व्यापारी साहसिक भारत में पहली बार प्रकट हुए इस देश का औद्योगिक विकास, प्रत्येक दशा में अधिक उन्नत था तथा यूरोपीय राष्ट्रों के औद्योगिक विकास से किसी भी दृष्टि में निम्न नहीं था।' भारतीय उद्योगों के तैयार माल तथा उसकी प्राकृतिक उत्पादों जैसे मोती, सुगंधित द्रव्य, रंगाई का सामान, मसाले, चीनी, अफीम, कपड़े इत्यादि दूर देशों को भेजी जाती थीं। भारत बाहर से सोना, तांबा, जस्ता, टिन, सीसा, शराब, घोड़े आदि मंगाता था। लेकिन बराबर आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक होता था जिसका अर्थ था, अधिक मात्रा में सोने का देश के भीतर की ओर प्रवाह। पहली सदी में प्लिनी ने कठोर शिकायत की कि भारतीय विलास सामग्री के प्रयोग के कारण रोमन साम्राज्य का सारा सोना भारत पहुँच रहा है। इसी तरह की शिकायत अठारहवीं सदी में अंग्रेजों ने भी की थी जिसमें कहा गया था कि भारत में बनी वस्तुओं की पहुँच इंग्लैण्ड के बाजारों तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि उनकी पहुँच अंग्रेजों के बेडरूम और किचेन तक हो गई है। तात्पर्य यह है कि भारतीय निर्यात इतना अधिक हो गया था कि ब्रिटेन का स्वर्ण भंडार प्रभावित होने लगा था।

अठारहवीं सदी में भारत का मुख्य उद्योग कपास, रेशम और ऊन की बुनाई थी। बंगाल के बाहर लखनऊ, अहमदाबाद, नागपुर और मदुरा सूती वस्त्र उद्योग के महत्वपूर्ण केन्द्र थे तथा पंजाब एवं कश्मीर में ऊन की बढ़िया शालें बनायी जाती थीं। पीतल, तांबे और कांसे के औजार और बर्तन भारत में सर्वत्र तैयार किए जाते थे। इनके कुछ उल्लेखनीय केन्द्र थे- बनारस, तंजौर, पूना, नासिक और अहमदाबाद। अन्य महत्वपूर्ण उद्योग थे- रत्न व्यवसाय, पत्थर की संगतराशी, चंदन, हाथी के दांत और शीशे पर कला पूर्ण काम। इनके अतिरिक्त कई दूसरे फुटकर कारीगरी और हुनर के काम थे, जैसे कपड़ा इत्र और कागज निर्माण इत्यादि का कार्य।

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ तक जहाज बनाने का उद्योग इंग्लैण्ड की अपेक्षा भारत में अधिक विकसित था। भारतीय वस्त्र व्यवसाय के समान इसने भी अंग्रेज शिल्पियों में ईर्ष्या जगा दी तथा कानून के द्वारा इसकी प्रगति और विकास को अवरूद्ध कर दिया गया था। बंगाल के समान ही, भारत के अन्य भागों में भी व्यापार और उद्योग का ह्रास अठारहवीं सदी के अंत तक प्रारंभ हुआ तथा उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते इसका नाश करीब-करीब पूरा हो गया।

अन्य भागों में भी ह्रास के प्रमुख कारण वही थे, जो बंगाल में काम कर रहे थे- ब्रिटिश संसद की नीति, यंत्र द्वारा तैयार किये गये सस्ते मालों की प्रतियोगिता तथा भारतीय कारीगरी एवं कौशल की रक्षा करने अथवा उसे प्रोत्साहन

देने में ब्रिटिश भारतीय सरकार की अनिच्छा आदि। किस हद तक भारत में ब्रिटिश सरकार की नीतियां भारत के व्यापार और उद्योग के ह्रास के लिए उत्तरदायी थीं, यह विवाद का विषय है। कुछ लेखकों का विचार है कि भारतीय सूती वस्त्र उद्योग का नाश इंग्लैण्ड में हुई औद्योगिक क्रांति के कारण हुआ, जिसमें सूती वस्त्रों के उत्पादन में यांत्रिक सूत कताई एवं यांत्रिक बुनाई का उपयोग किया गया था। वे कहते हैं कि इस उद्योग की रक्षा करने का कोई सफल प्रयत्न करना शासनाधिकारियों के लिए असंभव था, क्योंकि वे यंत्र और हस्तशिल्प के बीच हुए घोर वैषम्यों को उलटने में सर्वथा असमर्थ थे।

दूसरी ओर प्रसिद्ध लेखकों ने, जिनमें भारतीय और अंग्रेज दोनों शामिल हैं, का मानना है कि औद्योगिक क्रांति स्वयं भारत से लुटे हुए धन का परिणाम थी। ब्रिटिश अधिकारियों ने न केवल पतनोन्मुख भारतीय उद्योगों की रक्षा के लिए कोई उपाय किया, बल्कि उन्होंने उनके मार्ग को अवरूद्ध करने तथा उसे हतोत्साहित करने का पूरा प्रयत्न किया। 1870 से 1905 के बीच बहुत से भारतीय बुद्धिजीवियों ने ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों को विश्लेषित किया। इनमें से तीन का योगदान महत्वपूर्ण माना जाता है। आर्थिक विश्लेषकों में पहला नाम है दादाभाई नौरोजी, जिन्हें 'ग्रैण्ड ओल्ड मैन ऑफ़ इंडिया' की उपाधि से सम्मानित किया गया था। 1825 में जन्में दादा भाई नौरोजी एक सफल व्यापारी थे, लेकिन उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन और सम्पत्ति राष्ट्रीय आन्दोलन को जागृत करने में न्यौछावर कर दिया। इन्हीं के समकालीन महादेव गोविंद रानाडे ने पूरी भारतीय पीढ़ी को आधुनिक औद्योगिक विकास का महत्व समझाया, अवकाश प्राप्त आई. सी. एस. अधिकारी रोमेशचन्द्र दत्त ने भारत का आर्थिक इतिहास लिखा, जो 20वीं सदी के आरंभ के दिनों में प्रकाशित हुआ। दत्त ने अपने इस प्रकाशित पुस्तक में 1757 के बाद से लेकर तत्कालीन ब्रिटिश शासन के समूचे आर्थिक क्रियाकलापों की गहरी छानबीन की थी। इन तीन आर्थिक समालोचकों के अलावा जी.वी. जोशी, पी. सुब्रमण्यम अय्यर, गोपाल कृष्ण गोखले, पृथ्वीचन्द्र राय समेत सैकड़ों अन्य राजनीतिक नेताओं और पत्रकारों ने तत्कालीन अर्थव्यवस्था और औपनिवेशिक सरकार की नीतियों के हर पहलू का गहराई से विश्लेषण किया। इन विश्लेषणों का नतीजा यह हुआ कि भारतीय औपनिवेशीकरण की समूची प्रक्रिया सामने आ गयी और ये लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत के आर्थिक विकास के मार्ग में सबसे बड़ी-बाधा उपनिवेशवाद अर्थात् ब्रिटिश सरकार की नीतियां हैं।

अब भारतीयों को यह तथ्य अच्छी तरह से समझ में आ गया था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का मूल इसी में निहित है कि भारतीय अर्थव्यवस्था हमेशा ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के द्वारा शोषित होती रहे। व्यापार, उद्योग और वित्त के जरिये किस तरह उपनिवेशवाद अपना वर्चस्व स्थापित करता है यह बात पूरी तरह से उजागर हो गयी थी। उन्होंने जान लिया कि उपनिवेशवाद अब भिन्न प्रकार के करों, लूट-खसोट और व्यवसायिक बनियागिरी के कच्चे हथियारों का इस्तेमाल नहीं कर रहा है, बल्कि यह उन्मुक्त व्यापार और विदेशी पूंजी निवेश के जटिल तंत्र की आड़ में शोषण का चक्र चला रहा है। इसके बाद भारतीयों को इस नतीजे पर पहुँचने में देर नहीं लगी कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारत की हैसियत महज एक आपूर्तिकर्त्ता की बना दी है, जो ब्रिटेन को खाद्य सामग्री और कच्चे माल की आपूर्ति करता रहे और साथ ही साथ, भारत ब्रिटेन के लिए पूंजी निवेश बाजार बना रहे। भारतीय पूंजी व सम्पत्ति के भारत से शोषण (निकास) की बात सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने उठाई थी। मई 1867 में उन्होंने कहा था कि ब्रिटेन भारत का खून चूस रहा है।

उन्होंने खुले तौर पर कहा कि भारतीय सम्पत्ति और पूंजी का विदेश जाना ही भारत की गरीबी का मूल कारण है और यही भारत में ब्रिटिश शासन की बुनियादी बुराई है। उपनिवेशवादी अर्थतंत्र के विश्लेषण के क्रम में प्राय: सभी राष्ट्रवादियों ने विकास की बात को मुख्य मुद्दा बनाया, क्योंकि इसने भारत के उद्योगों और कृषि के बेहद जरूरी उत्पादक क्षमताओं को बुरी तरह नुकसान पहुँचाया था। भारतीय पूंजी के दोहन और निकास को सबूत के तौर पर पेश करते हुए राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश शासन के शोषक चरित्र को लोगों के समक्ष उजागर किया और साम्राज्यवादी अर्थतंत्र के खिलाफ एक ऐसा वातावरण तैयार किया जिससे भारतीय ब्रिटिश शासन को संदेह की नजर से देखने लगे।

उपनिवेशवाद के प्रभाव

ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारत के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रत्येक क्षेत्र को असामान्य रूप से प्रभावित किया। भारतीय जीवन, अपने व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से उपनिवेशवाद की सभी दशाओं में विदेशी सत्ता के मनमाने शोषण का शिकार हुआ। लम्बे समय तक रहे औपनिवेशिक शासन ने भारत की मूलभूत संरचना पर विविध प्रभाव डाले। इन प्रभावों को आर्थिक सामाजिक एवं राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखे जाने की आवश्यकता है।

आर्थिक प्रभाव

उपनिवेशवाद एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जिसके मूल में आर्थिक लाभ निहित होते हैं, अत: स्वाभाविक रूप से उसके सबसे अधिक प्रभाव आर्थिक क्षेत्र पर ही परिलक्षित होते हैं। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने अपने प्रत्येक चरण में भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रत्येक पहलू-कृषि, उद्योग, वर्ग, आर्थिक दशा तथा राष्ट्रीय आय आदि को बुरी तरह से प्रभावित किया।

- उपनिवेशवाद के प्रारंभिक दौर ने ही भारतीय पारंपरिक शिल्प एवं उद्योगों को समाप्त कर दिया। भारतीय हस्तशिल्पकारों को कम से कम कीमत पर अपने लिए काम करने को बाध्य करके तथा उन्हें ऊंची कीमतों पर कच्चा माल खरीदने के लिए विवश करके उन्हें दोहरे शोषण का शिकार बनाया जिससे हस्तशिल्प उद्योग नष्ट हो गए।
- औद्योगिक क्रांति के बाद के दौर में भारत को इंग्लैण्ड के औद्योगिक उत्पादों का बाजार बना दिया गया और यहां के लोगों को ब्रिटिश आयातों पर निर्भर हो जाना पड़ा।
- भारतीय कृषकों पर अत्यधिक भूराजस्व आरोपित कर उन्हें जमींदारी व्यवस्था तथा भूमि बंदोबस्तों द्वारा अधिकाधिक दरिद्र बना दिया गया। अंतत: भारतीय कृषक स्वतंत्र कृषक से खेतीहर मजदूर बनता चला गया।
- औपनिवेशिक काल में भारत में कृषि के क्षेत्र में एक नवीन प्रक्रिया का जन्म हुआ, जिसे कृषि का व्यवसायीकरण कहा गया। इसके अंतर्गत कृषि में नकदी फसलों का उत्पादन आरंभ हुआ तथा कृषि बाजार का अंतर्राष्ट्रीयकरण हुआ। यहीं से भारत में पूंजीवादी कृषि की शुरूआत हुई। किन्तु यह समस्त प्रक्रिया भारतीय कृषक के लिए अनिच्छित तथा थोपी गयी व्यवस्था का परिणाम थी, जिसने शोषण चक्र की प्रक्रिया को और बढ़ाया।

- उपनिवेशवाद ने अपने प्रत्येक चरण में भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के ढांचे को परिवर्तित किया, जिसने आत्मनिर्भर ग्रामीण व्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित किया। भारत की बहुसंख्यक जनता (कृषक एवं छोटे कारीगर) अल्पसंख्यक लोगों (जमींदार और महाजन) द्वारा शोषित हुई।
- औपनिवेशिक शासन में भारत की अर्थव्यवस्था लगातार बदतर होती चली गई, जिसका परिचय लगातार पड़ते उन अकालों में मिलता है जो ब्रिटिश शासन के आरंभ से भारत की स्वतंत्रता तक विभिन्न क्षेत्रों में पड़ते रहे। इन अकालों के मूल में औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत कृषकों की बदहाली, कुटीर उद्योगों का समापन, प्रशासन द्वारा लूट खसोट तथा खाद्यान्न उत्पादन में हो रही लगातार कमी आदि थे।

वस्तुतः औपनिवेशिक शासन की नीतियों ने भारत में उद्योगों की स्थापना एवं विकास को रोके रखा और यहाँ की अर्थव्यवस्था को कृषि आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था बनाये रखा। औपनिवेशिक शासन और उसकी नीतियों ने भारत पर कुछ सकारात्मक प्रभाव भी डाले- औपनिवेशिक शासन ने भारत में रेलवे, डाक-तार, बैंक, बीमा तथा आधुनिक पूंजीवाद से प्रभावित औद्योगिक व्यवस्था की शुरूआत की। यद्यपि इन सबका उद्देश्य साम्राज्यवादी व्यवस्था की उन्नति था, फिर भी इन सभी ने भारतीय समाज के आधुनिकीकरण में उल्लेखनीय भूमिका अदा की। इन नीतियों का परिणाम यह हुआ कि पूरे भारत में एक जैसी आर्थिक समस्याएं - कृषि संबंधी समस्याएं, गरीबी, बेरोजगारी आदि उत्पन्न हुईं, जिनसे भारत के राष्ट्रीय आर्थिक एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

सामाजिक प्रभाव

ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारतीय सामाजिक ढांचे में भी महत्वपूर्ण परिवर्तनों की नींव रखी। उपनिवेशवाद द्वारा भारत की आर्थिक संरचना में लाए गए बदलावों ने यहाँ की सामाजिक संरचना को अत्यन्त प्रभावित किया।

- भारतीय ग्रामों के आत्मनिर्भर स्वरूप के विघटन से भारतीय सामाजिक संबंध में महत्वपूर्ण बदलाव परिलक्षित हुए तथा सामाजिक संबंधों के एक नए स्वरूप का जन्म हुआ। भारतीय ग्रामों में जमींदार, अनुपस्थित भूस्वामी (जो शहरों में रहते थे और अपने गुमाश्तों के माध्यम से गाँव से भू-राजस्व की वसूली करते थे), पट्टेदार, काश्तकार मालिक, खेतिहर मजदूर, छोटे व्यापारी व व्यवसायी एवं सूदखोर महाजन जैसे नए वर्गों का उदय उपनिवेशवाद का परिणाम था।
- शहरों में वित्तीय पूंजीपति, उद्योगपति, औद्योगिक मजदूर, आधुनिक पूंजीवादी व्यापारी वर्ग एवं दुकानदार, डॉक्टर, वकील, पत्रकार, शिक्षक जैसे पेशेवर वर्गों का उदय भी उपनिवेशवाद के कारण ही हुआ, जो कालांतर में भारतीय समाज के महत्वपूर्ण स्तंभों में शुमार हुए।
- समाज के पेशेवर वर्ग में सामाजिक चेतना का उदय भी औपनिवेशिक शासन का ही प्रतिफल था। इस सामाजिक चेतना ने स्वतंत्र भारत में राजनीतिक दबाव समूहों का रूप ले लिया।
- भारत में जातीय संगठनों का उद्भव भी औपनिवेशिक व्यवस्था में आर्थिक राजनीतिक लाभों के लिए दबाव बनाने की प्रक्रिया का ही परिणाम था, जिसने आज भी भारतीय समाज को विखंडित रखा है तथा वर्तमान भारतीय राजनीति को प्रभावित किया है।

- भारतीय समाज में साम्प्रदायिकता का उदय एवं विकास औपनिवेशिक शासन का स्वाभाविक परिणाम था जिसके अंतर्गत औपनिवेशिक शासकों ने फूट डालकर राज करने की नीति का अवलम्बन किया।

कुल मिलाकर औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीय समाज को जटिल बनाने का प्रयत्न किया गया, जिसका प्रभाव आज भी देखा जा सकता है।

राजनीतिक प्रभाव

औपनिवेशिक शासन ने भारत में लम्बे समय तक मौजूद रहकर अपने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष परिणामों से भारत को एक राजनीतिक शक्ति के रूप में परिणत कर दिया। इन तत्वों ने भारतीय राजनीति पर दूरगामी प्रभाव डाला, जिनके लक्षण आज भी देखे जा सकते हैं-

- औपनिवेशिक शासकों ने शासन को सुगम और सुविधाजनक बनाने के लिए भारत को एकीकृत कर एक सूत्र में बांधा और एक जैसी प्रशासनिक व्यवस्था की नींव रखी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों में भी राजनीतिक इकाई होने की चेतना जागृत हुई और भारत का एक राष्ट्र के रूप में निर्माण का मार्ग प्रशस्त हुआ।
- औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली ने भारतीयों में लोकतंत्र एवं स्वातंत्र्य चेतना की सोच विकसित किया, जिससे भारतीयों को भी अपने समाज एवं देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था लाने की प्रेरणा मिली।
- औपनिवेशिक शासकों द्वारा भारत पर किये जाने वाले अत्याचारों तथा अपमानजनक व्यवहारों ने भारतीयों में राजनीतिक संगठन के लिए प्रेरित किया। परिणामस्वरूप 1885 में एक राजनीतिक संगठन के रूप में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' का आविर्भाव हुआ, जिसने राष्ट्रीय आंदोलन को नेतृत्व प्रदान कर भारत को स्वतंत्र कराने में अग्रणी भूमिका अदा की।
- भारत के लोकतंत्र तथा वर्तमान राजनीतिक प्रशासनिक स्वरूप पर ब्रिटिश सरकार का अत्यधिक प्रभाव उपनिवेशवाद की ही देन है।

आर्थिक निकास

औपनिवेशिक काल में आर्थिक निकास से तात्पर्य उस प्रक्रिया से था, जिसमें भारतीय धन का प्रवाह निरंतर और बिना अवरोध के इंग्लैण्ड की ओर हुआ और जिसके बदले में भारत को किसी प्रकार का आर्थिक-व्यापारिक लाभ नहीं मिला, बल्कि गरीबी और अनौद्योगिकीकरण जैसी जटिल समस्याएं मिली, जिन्होंने सोने की चिड़िया कहे जाने वाले भारत को काठ का घोड़ा बना दिया। भारत से आर्थिक निकासी की पहली बार चर्चा करने वालों में राजाराम मोहन राय प्रमुख थे। 1831 ई. में लंदन में हाउस ऑफ कॉमन्स की प्रवर समिति को भेजी गयी एक रिपोर्ट में उन्होंने इस मुद्दे का जिक्र किया था। इसी को बाद में राष्ट्रवादियों ने धन का निष्कासन या सम्पत्ति का दोहन की संज्ञा दी। 1867 में दादा भाई नौरोजी ने, लंदन स्थित ईस्ट इंडिया एसोसिएसन की बैठक में प्रस्तुत अपने पत्र 'इंग्लैण्ड डेब्ट टू इंडिया' में आर्थिक निकास अथवा धन के निष्कासन को सैद्धान्तिक स्वरूप प्रदान किया। नौरोजी ने कहा था, "भारत

का धन बाहर जाता है और फिर वही धन भारत में ऋण के रूप में आ जाता है और इस ऋण के लिए और अधिक ब्याज, एक प्रकार से यह ऋण एक कुचक्र-सा बन जाता है।" दादा भाई नौरोजी एवं अन्य परवर्ती अर्थशास्त्रियों ने दर्शाया है कि होम चार्जेस एवं निजी हुंडिया भारतीय निर्यात द्वारा भुनाई जाती थीं। ब्रिटिश कर्मचारियों की पेंशन, ब्रिटेन में खरीदी जाने वाली सैन्य तथा अन्य मदें, परिवहन विकास तथा भारत से भेजे जाने वाले सैन्य अभियानों पर व्यय आदि को भी गृह व्यय में शामिल किया जाता था। गृह व्यय में 1858 के बाद से लंदन स्थित प्रतिष्ठानों और अंशधारियों के लाभांश को हटाकर उसके स्थान पर इसी वर्ष गठित भारत सचिव और इंडिया हाउस पर होने वाले व्ययों को शामिल कर लिया गया। गृह व्यय सामान्यत: भारत राज्य सचिव और उससे सम्बद्ध व्यय के रूप में होता था। पहले भारत का आर्थिक दोहन व्यापारवादी था, लेकिन कालान्तर में यह मुक्त व्यापार के माध्यम से किया जाने लगा। नौरोजी ने धन निष्कासन को समस्त बुराइयों की जड़ बताते हुए इसे 'अनिष्टों का अनिस्ट' (evil of all evils) की संज्ञा दी। आर. सी. दत्त ने अपनी पुस्तक 'भारत का आर्थिक इतिहास' में भारत के आर्थिक दोहन पर प्रकाश डाला। एम. जी. रानाडे ने धन के निष्कासन को भारत के आर्थिक पिछड़ापन के समाजशास्त्रीय कारण के रूप में देखा था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1896 ई के अपने कलकत्ता अधिवेशन में भारत से धन निष्कासन के सिद्धांत को औपचारिक रूप से स्वीकार किया था।

आर्थिक निकास के तत्व

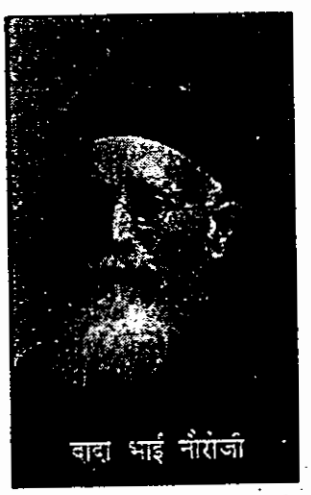
दादा भाई नौरोजी

साम्राज्यवादी शासकों ने भारत को आर्थिक रूप से बदहाल करने के लिए अनेक ढंग अपनाये। भारतीय प्रशासन अंग्रेजों के हाथ में था, जो केवल इंग्लैण्ड के हित में चलाया जाता था। भारत से सम्पत्ति का दोहन या निकास निम्नलिखित रूप में था:-

- **गृह व्यय :** गृह व्यय उस व्यय के रूप में था जो भारत राज्य सचिव तथा उससे सम्बद्ध व्यय के रूप में होता था। 1857 के विद्रोह से पूर्व यह गृह व्यय भारत के औसतन राजस्व का 10-13 प्रतिशत के बीच में होता था। 1857 के उपरांत यह बहुत बढ़ गया और 1897-1901 के बीच यह 24 प्रतिशत हो गया। 1901-1902 में गृह व्यय और बढ़ गया और केन्द्रीय सरकार के समस्त राजस्व का 40 प्रतिशत हो गया।

  इस गृह व्यय के मुख्य तत्व थे-

  (क) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भागीदारों को लाभांश।

  (ख) सैनिक तथा असैनिक व्यय जो अंग्रेजी पदाधिकारियों को पेंशन तथा अवकाश के लिए मिलते थे। इसके अतिरिक्त लन्दन में स्थित इण्डिया ऑफिस के संस्थापन तथा प्रचलन पर व्यय और ब्रिटिश युद्ध के सचिवालय को दिया जाने वाला व्यय भी सम्मिलित था।

  (ग) भारत सचिव तथा भारत सरकार इंग्लैण्ड में करोड़ों का माल सैनिक तथा समुद्री विभाग के लिए अंग्रेजी मण्डियों से खरीदती थी। 1861 और 1920 के बीच यह व्यय गृह व्यय का 10-20 प्रतिशत प्रतिवर्ष होता था।

- **विदेशी पूंजी निवेश पर दिया जाने वाला व्यय :** भारतीय राष्ट्रीय आय से एक अन्य महत्वपूर्ण निकास था, व्यक्तिगत विदेशी पूंजी निवेश पर दिया जाने वाला ब्याज और लाभ। 20वीं शताब्दी में निजी क्षेत्र की बहुत सी पूंजी का भारत में निवेश किया गया। दोनों महायुद्धों के बीच 30-60 करोड़ रूपया प्रतिवर्ष बाहर जाता था। विदेशी पूंजीपति भारत के औद्योगिक विकास में रूचि नहीं रखता था, अपितु उसने भारतीय औद्योगिक विकास के रास्ते में हर सम्भव रूप से अवरोध उत्पन्न करने का प्रयत्न किया और भारतीय साधनों का अपने हित में प्रयोग किया।
- **विदेशी बैंक, इश्योरेन्स, नौवहन कम्पनियां :** बैंक, इश्योरेन्स और नौवहन कम्पनियों ने भारत से करोड़ों रूपया लाभ के रूप में कमाया। यहाँ से धन ले जाने के अतिरिक्त इनकी सबसे बड़ी भारत को दी जाने वाली हानि यह थी कि इन सब कम्पनियों ने भारतीय कम्पनियों को पनपने नहीं दिया।

आर्थिक निकास के प्रभाव

औपनिवेशिक काल में भारत से हो रहे धन निर्गम ने इंग्लैण्ड और भारत दोनों को प्रभावित किया। भारत की लूट से जहाँ इंग्लैण्ड में पूंजी संग्रहण बढ़ा, वहीं भारत निरंतर निर्धन और खोखला होता गया।

इंग्लैण्ड पर प्रभाव

आधुनिक भारत के इतिहासविज्ञ डॉ. ताराचंद के शब्दों में "भारत से होने वाली धन की निकासी ने इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। प्लासी की लड़ाई के बाद इंग्लैण्ड का जो औद्योगिक ढाँचा अस्तित्व में आने लगा, वह प्रधानत: भारतीय उत्पादनों के अवशेषों पर ही निर्मित हुआ था।"

ब्रिटिश इतिहासकारों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। बंगाल में नियुक्त कंपनी के अधिकारियों ने बंगाल में कई बार किंगमेकर की भूमिका निभाये, जिससे उन्हें उपहारों में बेशुमार सम्पत्ति मिली। 1757 से 1765 के बीच कंपनी के पदाधिकारियों ने लगभग 60 लाख पौंड, जो बंगाल की वार्षिक आय का चौगुना था, उपहारों में प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त भूमि कर संग्रह और दस्तक अधिकार दिये जाने के बदले में भी कम्पनी के अधिकारियों ने बड़ी-बड़ी रिश्वतें ली। लूट में जो धन मिला, उससे इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ और इस धन ने औद्योगिक उत्पादन को आवश्यक शक्ति तथा प्रेरणा प्रदान की। ब्रुक्स एडम्स ने स्वीकार किया है कि भारतीय धन ने यहाँ आकर राष्ट्र की नकद पूँजी में उल्लेखनीय वृद्धि करके न केवल उसके शक्ति-भण्डार में वृद्धि की अपितु उसकी लोच और गतिशीलता में भी वृद्धि कर दी। ब्रुक्स के शब्दों में प्लासी की लड़ाई के थोड़े ही समय बाद बंगाल की लूट का ध न लन्दन पहुँचने लगा और उसका तत्काल प्रभाव भी दिखाई पड़ा। 1760 में 'फ्लाइंग शटल' का आविष्कार हुआ और प्राकृतिक कोयला लकड़ी के कोयले का स्थान लेने लगा। 1764 में हरग्रीव ने 'स्पिनिंग जेनी' का आविष्कार किया, 1779 में क्राम्पटन ने यांत्रिक चरखा बनाया, 1785 में कार्टराइट ने शक्तिशाली करघे को पेटेंट कराया और इन सबसे बड़ी बात, 1768 ई. में वाट्स ने भाप से चलनेवाले इंजन को परिष्कृत रूप दिया, इसके बावजूद इन मशीनों को गतिशीलता का कारण नहीं माना जा सकता।" ब्रुक्स लिखता है कि भारत के धन ने ही इंग्लैण्ड की इन मशीनों को गतिशीलता प्रदान की और वहाँ अपरिमित मात्रा में उत्पादन होने लगा। 1760 से 1815 तक विकास की गति काफी

तेज हुई। निश्चित रूप से भारत के धन के इंग्लैंड पहुँचने के बाद ही इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति अपने विकास के चरम बिन्दु पर पहुँच पाई।

भारत पर प्रभाव

भारत से ब्रिटेन को होने वाली धन निकासी ने भारत की अर्थव्यवस्था को बदहाली के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। इसके कई दुष्परिणाम भारत को भुगतने पड़े।

- धन निर्गम के कारण भारत में पूँजी का संचय न हो सका। भारत में आर्थिक संसाधन मात्र इतने ही होते थे, जिससे प्रशासनिक व्यय को पूरा किया जा सके। भारत के लिए उनका उपयोग नहीं किया गया। अगर भारत के पास पूँजी रहती तो उसका उपयोग कृषि, व्यापार, उद्योग आदि में किया जा सकता था।
- भारत से धन निकलने के कारण इंग्लैण्ड में औद्योगिक उत्पादन बढ़ गया वहीं भारत में घट गया। भारत के औद्योगिक उत्पादन में कई बाधाएं उपस्थित हो गईं। भारत से ही कच्चा माल लेकर इंग्लैण्ड ने तैयार औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन किया और भारत में उनका निर्यात कर इसके बाजारों को भर दिया। इससे भारतीय उद्योगों को विकसित होने का अनुकूल अवसर नहीं मिला। विदेशी सरकार की यह नीति थी कि भारत के लोग अपने देश के औद्योगिकीकरण की दिशा में यथासम्भव पूँजी का विनियोग न कर पायें।
- भारत के धन से इंग्लैण्ड की पूँजी बढ़ी और वही पूँजी भारत में वापस आकर लोगों का शोषण करने लगी। इस पूँजी को भारत में प्रयुक्त कर अंग्रेज अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने लगे। पूँजी बढ़ने के अन्य कारण भी थे। सारे आर्थिक साधनों पर यूरोप के लोगों ने अधिकार कर लिया था। सारी कोयले और सोने की खानों, जूट और पटसन की मिलों, मदिरा बनाने के स्थानों, काफी तथा चाय के बगीचों और नील की फैक्टरियों पर उनका एकाधिकार स्थापित हो गया था। भारत की तीन चौथाई ऊनी और कागज की मिलों, जूट, प्रेस, तेल मिलों, लकड़ी मिल, कपास के कारखानों आदि के मालिक विदेशी ही थे। सारे जहाजों का व्यापार, रेलें और बैंक उनके कब्जे में थे। 1900 ई. में कोलिन्स ने ठीक ही लिखा कि "भारत की समस्त आय के साधन इस देश को गिरवी रख दिये गये हैं।" ऐसी स्थिति में भारत पूँजी का संचय कर ही नहीं सकता था।
- आर्थिक निर्गम ने नैतिक निर्गम को बढ़ावा दिया। दादाभाई नौरोजी ने लिखा है कि देश में अंग्रेज अधिकारियों को नौकरियां दी गई। उनकी जगह भारतीय नौकरी कर सकते थे। वे नौकरी करके पूँजी जमा कर सकते थे और उसका उपयोग भारत में ही होता। अंग्रेजों को जहाँ नौकरियों के चलते अनुभव और योग्यता मिली, वहाँ भारतीयों में इनका अभाव रहा। अनुभव तथा योग्यता का यह निकास नैतिक निर्गम ही था, जिसने भारत को पतनोन्मुख बनाया।
- औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीय धन निर्गम ने वास्तव में भारत को आर्थिक दृष्टि से खोखला बना दिया। जब भारत 1947 ई. में स्वतंत्र हुआ, तब उसे विरासत में विभाजित भारत के साथ-साथ विपन्न भारत भी मिला।

❖❖❖

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य

जिस मुगल साम्राज्य ने अपने विस्तृत प्रदेश, विशाल सेना तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों से समकालीन विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया था, वह 18वीं शताब्दी के आरंभ से ही पतन की दिशा में अग्रसर हो गया था। औरंगजेब के बाद कई शासक दिल्ली की सत्ता पर आसीन हुए पर उनमें से कोई भी मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने में सफल नहीं हुआ।औरंगजेब के बाद का मुगल दरबार कुटनीति, घृणा, ईर्ष्या-द्वेष, षड्यंत्र और हत्या का केन्द्र बन गया था। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर प्रांतीय शासकों ने स्वतंत्र व्यवहार करना आरंभ कर दिया। दूसरी ओर मुगल साम्राज्य पर बाह्य आक्रमणों का खतरा भी मंडराने लगा। इस राजनीतिक शून्यता को भरने के लिए मराठों ने काफी प्रयत्न किया, लेकिन वे भी पानीपत तृतीय युद्ध (1761) में अफगान शासक अहमदशाह अब्दाली से पराजित हो गये। इससे स्पष्ट हो गया कि भारत पर शासन मराठा शक्ति नहीं बल्कि कोई अन्य करेगा। इस समय तक भारत में अंग्रेजों का पदार्पण हो चुका था और वे निरंतर अपनी शक्ति को बढ़ा रहे थे। अंतत: कमजोर एवं आयोग्य मुगल शासकों के कारण उभरती राजनीतिक शून्यता को भरने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासकों ने भारत में एक साम्राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

18वीं सदी की राजनीतिक स्थिति

18वीं सदी में भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ अस्थिर एवं अराजकतापूर्ण थी। इस समय का भारत राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल के दौर से गुजर रहा था। वास्तव में मुगल साम्राज्य अपने पतन की ओर उन्मुख था तथा उसके खंडहरों पर नए-नए क्षेत्रीय राज्यों का उदय हो रहा था। इन राज्यों के मध्य संघर्ष प्राय: होता रहता था। इन राज्यों के आपसी संघर्षों का लाभ उठाकर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में अपने साम्राज्य को विस्तारित करने का कार्य आरंभ किया और 1857 के पूर्व तक इसने भारत के अधिकांश भागों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

1707 में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल सिंहासन पर बैठने वाले सभी उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए। दरबार की [illegible] और षड्यंत्रों ने [illegible] और भी कमजोर किया। 1739 में नादिरशाह के आक्रमण और बाद में अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने मुगल साम्राज्य [illegible] और भी आघात पहुँचाया। दूसरी

ओर राजदरबार के मंत्रियों एवं अन्य क्षेत्रीय सरदारों ने सत्ता के नवीन केन्द्रों की स्थापना कर साम्राज्य को दुर्बल बनाने का प्रयत्न किया।

1717 में मुर्शीद कुली खाँ ने बंगाल में, 1722 में सआदत खाँ ने अवध में और 1724 में निजाम-उल-मुल्क आसफजहां ने हैदराबाद में अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ताएँ स्थापित की। मैसूर में हैदरअली नामक एक साधारण सैनिक ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली। पंजाब में रणजीत सिंह का उदय हुआ। लेकिन इन छोटे क्षेत्रीय राज्यों में शीघ्र ही संसाधनों पर नियंत्रण को लेकर शक्ति संघर्ष आरंभ हो गया। इन राज्यों के मध्य चल रहे संघर्षों का लाभ उठाने का प्रयास भारत में आने वाली सभी विदेशी व्यापारिक कंपनियों ने किया, परंतु अंतत: इस कार्य में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को ही सफलता प्राप्त हुयी।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1600 ई. में भारत में एक व्यापारिक कंपनी के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज करवायी। 1623 तक कंपनी ने उत्तर भारत के प्रमुख नगरों सूरत, भड़ौच, अहमदाबाद और आगरा में अपने कारखाने स्थापित कर लिए थे। उत्तर भारत में अपनी स्थिति मजबूत बनाने के बाद अंग्रेजों ने दक्षिण भारत की ओर अपना ध्यान केंद्रित किया। दक्षिण भारत में अंग्रेजों के लिए स्थितियां और भी अनुकूल थीं। दक्षिण में अनेक ऐसे राज्य थे जिनकी शक्ति अत्यंत सीमित थी। 1611 में अंग्रेजों ने अपनी पहली फैक्ट्री मसूलीपट्टनम में स्थापित की। 1639 में उन्होंने मद्रास फोर्ट सेंट जार्ज की स्थापना की। परंतु शीघ्र ही उन्हें दक्षिण में एक अन्य यूरोपीय शक्ति 'फ्रांस' का सामना करना पड़ा।

फ्रांस के सम्राट् लुई बारहवें ने सर्वप्रथम पूर्व के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित करने के लिए एक कंपनी का गठन किया था, लेकिन उसे इसमें सफलता नहीं मिली। इस दिशा में फ्रांस को सफलता तब मिली जब फ्रांस के सम्राट लुई चौदहवें के काल में फ्रांस के वित्तमंत्री कोलबर्ट के सहयोग से 1664 ई. में एक व्यापारिक कंपनी 'कंपनी द इंड ओरिएण्टल' की स्थापना हुई। फ्रांसीसी कंपनी का गठन, उस पर व्यय तथा उसकी सुरक्षा का संपूर्ण दायित्व सरकार पर था अर्थात् फ्रांसीसी कंपनी फ्रांस के सरकार के नियंत्रण में थी। फ्रांसीसी कंपनी का भारतीय अभियान 1667 में शुरू हुआ। फ्रैंको केरो के नेतृत्व में 1668 में सूरत में प्रथम फ्रांसीसी फैक्ट्री की स्थापना हुई। अगले वर्ष 1669 ई. में मर्कारा ने गोलकुण्डा के सुल्तान से अनुमति लेकर दूसरी फैक्ट्री मसूलीपट्टनम में स्थापित की। कालांतर में भारतीय क्षेत्रों पर नियंत्रण को लेकर इंग्लैंड और फ्रांस के बीच होड़ शुरू हो गयी। भारत में अपनी शक्ति स्थापित करने के लिए अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच 1742 से लेकर 1763 के मध्य तीन महत्वपूर्ण युद्ध लड़े गये। इन तीन युद्धों को प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय कर्नाटक युद्ध के नाम से जाना जाता है। डुप्ले फ्रांसीसी कंपनी का पहला अधिकारी था, जिसने भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप किया। उसे यह अवसर दक्षिण भारत में चलने वाले सत्ता संघर्ष से प्राप्त हुआ। उसने कर्नाटक में गद्दी के लिए चल रहे सत्ता संघर्ष में चंदा साहब और हैदराबाद में मुजफ्फरजंग का साथ दिया। परंतु डुप्ले के इस कृत्य ने अंग्रेजों में भी भारतीय राजनीति में शामिल होने की आकांक्षा उत्पन्न की। प्रारंभ में फ्रांसीसियों को कुछ सफलता अवश्य मिली किन्तु तृतीय कर्नाटक युद्ध (1756-63) के पश्चात् भारत में फ्रांसीसी शक्ति नाममात्र की रह गयी। एक-एक करके ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में सभी विदेशी शक्तियों को पराजित कर अपनी शक्ति और साम्राज्य के विस्तार का अभियान जारी रखा। भारत में ब्रिटिश राजनीतिक सत्ता का आरंभ 1757 में प्लासी के युद्ध में बंगाल के शासक सिराजुद्दौला की पराजय के साथ माना जाता है।

ब्रिटिश विस्तारवादी नीति (1757-1857 ई.)

बंगाल पर आधिपत्य (1757 के प्लासी युद्ध) से लेकर 1857 के विद्रोह तक अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्य का निरंतर विस्तार किया। अंग्रेजों ने साम्राज्य विस्तार के लिए जिस नीति का अवलम्बन किया, उसे निम्न आधार पर समझा जा सकता है।

रिंग-फेंस पॉलिसी (सुरक्षा घेरे की नीति : 1765-1785 ई.)

1764 के बक्सर युद्ध में अवध, बंगाल और मुगल सेनाओं के गठबंधन ने अंग्रेजी सेना का सामना किया था, लेकिन अंग्रेजी सेना से उन्हें पराजित होना पड़ा। इस युद्ध में अवध की पराजय के बाद उस पर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी अपना अधिकार स्थापित कर सकती थी। किन्तु लॉर्ड क्लाइव ने ऐसा न करके अवध के साथ एक आक्रामक तथा प्रतिरक्षात्मक संधि की। वारेन हेस्टिंग्स ने इस नीति को सैद्धान्तिक स्वरूप प्रदान किया, जिसे 'रिंग-फेंस की नीति' या 'सुरक्षा के घेरे की नीति' के नाम से जाना जाता है। इस नीति के अंतर्गत कंपनी ने अपने पड़ोसी राज्यों से संधि करके उनकी रक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। उस समय मराठे अवध को हड़पने की कोशिश कर रहे थे। उनका अवध पर अधिकार हो जाने के बाद बंगाल और बिहार की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती। अपनी इस नीति द्वारा कंपनी ने सावधानी के तौर पर अपने पड़ोसी राज्यों की सीमाओं की रक्षा करने की चेष्टा की। बनारस (1773) और फैजाबाद (1775) की संधियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अवध का नवाब अपनी सीमाओं की रक्षा के लिए कंपनी की सेनाओं पर निर्भर था। इस प्रकार अवध को कंपनी तथा मराठों के राज्यों के बीच एक मध्यस्त राज्य के रूप में बनाये रखने की नीति का अवलंबन किया गया। दक्षिण में भी इस नीति का अनुसरण किया गया। इस नीति के अंतर्गत कंपनी तथा देशी राज्यों के मध्य संधियां लगभग समानता के आधार पर होती थी। किन्तु कंपनी के प्रशासकों ने इस नीति का ईमानदारी से पालन नहीं किया तथा अपने स्वार्थ हेतु उन्होंने राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किया। कंपनी के प्रशासकों की कुछ कारवाइयों, जैसे - बनारस के चेत सिंह और अवध के बेगमों से की गई मांगें तथा रामपुर के फैजुल्ला खाँ के प्रति उनके बर्ताव में इस नीति की अवहेलना की गयी।

सब्सीडियरी एलाएंस (सहायक संधि : 1798-1805 ई.)

वेलेजली ने भारतीय राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य की परिधि में लाने के लिए सहायक संधि प्रणाली का प्रयोग किया। इसी समय यूरोप में नेपोलियन का उदय हो रहा था, इससे कंपनी के साम्राज्य के लिए खतरा उत्पन्न हो गया था। अतः कंपनी को भारत में अपनी स्थिति मजबूत करना अपरिहार्य हो गया था। इस प्रणाली के प्रयोग से भारत में अंग्रेजी सत्ता की श्रेष्ठता स्थापित हो गई और नेपोलियन का भय भी टल गया। इस प्रकार सहायक संधि ने कंपनी की जरूरतों को पूरा करने तथा ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

वेलेजली ने सहायक संधि का प्रतिपादन नहीं किया, बल्कि यह प्रणाली पहले से ही अस्तित्व में थी। इस प्रणाली का भारत में सर्वप्रथम प्रयोग डुप्ले ने किया, वह प्रथम यूरोपीय था, जिसने अपनी सेना किराए पर भारतीय राजाओं

को दी थी। क्लाइव के काल से यह प्रणाली लगभग सभी गवर्नर-जनरलों ने अपनायी थी। वेलेजली की विशेषता केवल यह थी कि उसने इसे सैद्धान्तिक स्वरूप प्रदान कर अपने संपर्क में आने वाले सभी देशी राजाओं के संबंधों में इसका प्रयोग किया। इस प्रणाली के प्रमुख प्रावधान निम्न थे--

1. देशी रियासतों के शासक कंपनी की अनुमति के बिना किसी अन्य देशी रियासत से युद्ध या समझौता नहीं करेंगे। अगर कोई बात-चीत होगी तो केवल कंपनी के माध्यप से ही होगी।
2. देशी रियासतों के शासक कंपनी की आज्ञा के बिना अंग्रेजों के अतिरिक्त किसी अन्य यूरोपीय को नौकरी में नहीं रखेंगे।
3. देशी रियासतों के शासकों की रक्षा के लिए कंपनी के अधीन एक सेना रखी जाएगी जिसका व्यय उसी को वहन करना पड़ेगा। या उसके व्यय के लिए रियासत की कुछ भूमि कंपनी को देनी होगी।
4. देशी रियासत के शासक को अपनी राजधानी में एक रेजिडेन्ट रखना होगा।
5. कंपनी देशी रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी।
6. कंपनी देशी रियासतों के शासकों की रक्षा बाह्य तथा आंतरिक शत्रुओं से करेगी।

वेलेजली ने सहायक संधि 1798 में निजाम से, 1799 में मैसूर के हिन्दू राजा से, नवम्बर 1801 में अवध के नवाब से, दिसंबर 1801 में बेसीन की संधि पेशवा से, दिसंबर 1803 में भोंसले से तथा द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध के बाद फरवरी 1804 में सिन्धिया से संधि की। इस प्रकार 1805 तक कंपनी के प्रदेशों का विस्तार भारत के पश्चिमी तट के साथ-साथ सिंधु नदी के मुहाने से कन्या कुमारी तक, फिर उत्तर पूर्व में बंगाल की खाड़ी के साथ-साथ वर्मा की सीमा तक, उत्तरी भारत में कंपनी का राजनीतिक आधिपत्य बंगाल से सिंध के मरूस्थल और पंजाब तक हो गया।

सहायक संधि से कंपनी को होने वाले लाभ:

1. सहायक संधि करने वाले देशी रियासतों की वैदेशिक नीति कंपनी के अधीन हो गई।
2. फ्रांसीसी प्रभाव देशी रियासतों के दरबार में समाप्त होने लगा।
3. बिना किसी प्रकार का व्यय वहन किये कंपनी की सैनिक शक्ति में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हुई।
4. नेपोलियन द्वारा उत्पन्न किये जा रहे संकट से कंपनी को निजात मिल गया, क्योंकि नेपोलियन भारत से ब्रिटिश साम्राज्य को उखाड़ना चाहता था। वह भारत को अंग्रेजों की अधीनता से मुक्त करके ब्रिटिश शक्ति को कमजोर बनाना चाहता था।

सहायक संधि का मूल्यांकन

सहायक संधि से देशी रियासतों के शासकों को कुछ लाभ अवश्य हुए। उनको न तो अब बाहरी आक्रमणों की चिन्ता थी और न ही आंतरिक विद्रोहों की। किन्तु इस लाभ के साथ उनको एक बड़ी हानि भी हुई। वे पंगु हो गये, उन्होंने राज्य के प्रशासन की ओर ध्यान देना बिल्कुल बंद कर दिया, जिसका परिणाम हुआ कुशासन। वे द्वैध शासन की उन

सभी बुराइयों के शिकार होने लगे, जिन्होंने बंगाल को तबाह कर डाला था। औपचारिक रूप से इन राज्यों की आंतरिक सर्वोच्च शासन शक्ति अक्षुण्ण थी। किन्तु यथार्थ व्यवहार में उनके आंतरिक शासन के मामलों में ब्रिटिश रेजिडेन्ट (बहुधा) हस्तक्षेप किया करते थे। सहायक संधि स्वीकार करने वाले राज्य शीघ्र ही दीवालिया हो गए। कंपनी ने प्राय: राज्य की आय का 1/3 भाग आर्थिक सहायता के रूप में राज्यों से लिया। यह इतना अधिक था कि लगभग सभी राज्यों पर शेष धन (arrears) रह जाता था। कार्ल मार्क्स ने सहायक संधि प्रणाली के प्रभावों का वर्णन करते हुए लिखा है, "और स्थानीय राजा, उनका अस्तित्व तो वास्तव में उसी दिन समाप्त हो गया, जिस दिन वे कंपनी द्वारा सुरक्षित बने अथवा कंपनी उनकी सहायक बनी।" एक अंग्रेजी टीकाकार ने सहायक संधि की तुलना एक ऐसी नीति से की है, 'जिसमें मित्रों को उस समय तक मोटा किया जाता है अथवा उन्हें सहायता प्रदान की जाती है जब तक वे हड़पने योग्य नहीं हो जाते।' वास्तव में यह प्रणाली भारतीय राज्यों के लिए एक मीठे जहर के समान थी, जिसका असर धीरे-धीरे होता था।

अधीश्वरता तथा अधीन पृथक्करण की नीति (पारामाउंटेंसी एंड सर्बोडिनेट आइसोलेशन : 1813-1823 ई.)

सहायक संधि सिद्धांतत: समता की भावना पर आधारित थी। लेकिन लॉर्ड हेस्टिंग्स ने 'पारस्परिकता और आपसी मित्रता' की संधियों को 'निम्नपदस्थ सहयोग' की संधियों में परिवर्तित कर दिया। यूरोप में नेपोलियन के पतन के बाद सन् 1813 के बाद हेस्टिंग्स ने देशी राज्यों के प्रति आक्रामक नीति प्रारंभ कर दी। इस समय तक एक ओर नेपोलियन का पतन हो चुका था, जिससे फ्रांसीसी खतरा समाप्त हो गया था तो दूसरी ओर वेलेजली ने भारत में कंपनी का सैनिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति ने औद्योगिक उत्पादन को बढ़ा दिया था, जिसके लिए एक मुक्त बाजार की आवश्यकता थी। अत: लॉर्ड हेस्टिंग्स ने ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखते हुए भारत में राजनैतिक सर्वश्रेष्ठता स्थापित की। इसे ही अधीश्वरता तथा अधीन पृथक्करण की नीति अथवा 'पारामाउंटेंसी एंड सर्बोडिनेट आइसोलेशन का सिद्धांत' कहा जाता है।

इस नीति के प्रमुख तत्व निम्न थे--

1. देशी राज्य द्वारा कंपनी को सर्वोच्च शक्ति मानना तथा देशी राज्य का पूर्णतया कंपनी के अधीन होना।
2. देशी राज्य आपस में बिना कंपनी की अनुमति के कोई समझौता नहीं कर सकते तथा ब्रिटिश रेजिडेन्ट के निर्देशानुसार कार्य करते थे।
3. इस प्रकार की संधि ने सिंधिया, होलकर, गायकवाड़ तथा मध्य भारत के राजपुताना आदि देशी रियासतों पर ब्रिटिश सर्वोच्चता स्थापित कर दी।

अधीश्वरता तथा अधीन पृथक्करण की नीति के तहत सर्वप्रथम लॉर्ड हेस्टिंग्स ने नेपाल से युद्ध किया तथा सुगौली की संधि (1816) की। इसके अतिरिक्त कई नये क्षेत्रों (गढ़वाल, कुमाऊं, शिमला आदि) पर ब्रिटिश सर्वश्रेष्ठता स्थापित हो गई। इसी प्रकार मराठों से निर्णायक युद्ध (आंग्ल-मराठा युद्ध तृतीय) से अंग्रेजों की सर्वश्रेष्ठता स्थापित हुई।

अत: जो व्यक्ति वेलेजली की नीति का आलोचक था, उसी ने उसके कार्यों को पूरा किया। जो राज्य कंपनी की बराबरी करना चाहते थे, वे सभी परास्त कर दिए गए तथा भारत में कंपनी की सर्वश्रेष्ठता पूर्णतया स्थापित हो गयी।

व्यपगत का सिद्धांत (डॉक्ट्रिन ऑफ लैप्स : 1848-1856 ई.)

मुगल साम्राज्य के पतन तथा मराठा संघ की हार के पश्चात् भारत में 1818 ई. तक कंपनी की स्थिति काफी सुदृढ़ हो गई थी। अत: डलहौजी ने गवर्नर जनरल बनते ही साम्राज्य विस्तार की दो नीतियां अपनायी। ये नीतियां थीं, युद्ध और व्यपगत के सिद्धांत की। युद्ध की नीति तो ब्रिटिश विस्तार का आरंभ से ही अभिन्न अंग थी। इसके तहत पंजाब एवं लोअर बर्मा का विलय किया गया। दूसरी व्यपगत की नीति थी, जिसका सामान्य अर्थ शांतिपूर्ण विलय था। इस नीति द्वारा भारत के कुछ महत्वपूर्ण रियासतों को ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर लिया गया।

व्यपगत सिद्धांत के अंतर्गत डलहौजी का मानना था कि 'प्रथम श्रेणी के रियासतों के गोद लेने के मामलों में कंपनी को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। परंतु दूसरी श्रेणी के रियासतों को गोद लेने के लिए कंपनी की अनुमति को सुनिश्चित करना आवश्यक है, फिर भी कंपनी मना नहीं कर सकती थी। तीसरी श्रेणी के रियासतों में गोद लेने की परंपरा में कंपनी बाधा नहीं पहुँचा सकती थी। यही कारण रहा कि डलहौजी ने उत्तराधिकार विहीन रियासतों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की नीति पर अमल किया। डलहौजी ने व्यपगत के सिद्धांत के अंतर्गत सतारा (1848), जैतपुर और संभलपुर (1849), बघाट (1850), उदयपुर (1852), झांसी (1853) और नागपुर (1854) ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया। इस सिद्धांत द्वारा भारत का 2/3 भाग प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासन के अंतर्गत आ गया। वस्तुत: 1757 से कंपनी द्वारा शुरू की गई राजनीतिक सुदृढ़ता 1856 तक पूर्ण हो गई। इस कार्य में व्यपगत के सिद्धांत ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

व्यपगत सिद्धांत के आधार पर भारत की रियासतें तीन प्रकार की थीं--

1. वे रियासतें, जो कभी भी उच्चतर शक्ति के अधीन नहीं थीं और न ही कर देती थीं।
2. वे रियासतें, जो मुगल सम्राट अथवा पेशवा के अधीन थीं और उन्हें कर देती थीं, परंतु अब वे अंग्रेजों की अधीनस्थ थीं।
3. वे रियासतें, जिन्हें अंग्रेजों ने सनदों द्वारा स्थापित की थीं अथवा पुनर्जीवित की गई थी।

डलहौजी के इस विचार की कि 'झुठे रजवाड़े' और 'कृत्रिम मध्यस्थ शक्तियों' द्वारा प्रशासन की पुरानी पद्धति से प्रजा की मुसीबतें बढ़ती हैं और यह सब गलत है, ध्यान में रखकर ही, उसके व्यपगत सिद्धांत को समझा जा सकता है। वास्तव में वह चाहता था कि भारत में 'मुगल सर्वशक्ति' के मुखौटे को तोड़ दिया जाए और जो भारतीय राजा मुगलों के उत्तराधिकारी होने का दावा करते हैं, उन्हें समाप्त कर दिया जाए।

डलहौजी का मानना था कि राजाओं की निजी सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए उसके दत्तक पुत्र को अनुमति है, परंतु गद्दी पर अधिकार के लिए उसे अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। उसके लिए सरकार की अनुमति आवश्यक है। सरकार

दूसरी और तीसरी श्रेणी की रियासतों को गद्दी पर बैठने के लिए गोद लिए पुत्र को अनुमति नहीं देगी और वे रियासतें व्यपगत के सिद्धांत के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर ली जाएगी।

डलहौजी व्यपगत के सिद्धांत का वास्तविक प्रतिपादक नहीं था। 1834 में कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स ने यह कहा था कि पुत्र के न होने पर दत्तक पुत्र लेने का अधिकार हमारी ओर से एक विशेष अनुकम्पा तथा स्वीकृति है जो एक अपवाद के रूप में देनी चाहिए। वस्तुतः डलहौजी का ध्येय सिर्फ यही था कि इस आज्ञा का अक्षरशः पालन किया जाए और कंपनी को भारतीय प्रदेशों को प्राप्त करने का कोई अवसर नहीं गवांना (खोना) चाहिए।

व्यपगत के सिद्धांत का मूल्यांकन

कंपनी द्वारा भारत में शुरू किये गये साम्राज्य विस्तार के साथ ही कंपनी ने भारतीयों के अधिकारों और विशेषाधिकारों की नहीं, वरन् उनके जातीय कानून और धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाओं इत्यादि की रक्षा करने और उनका सम्मान करने का आश्वासन दिया था। हिन्दू रजवाड़ों में दत्तक पुत्र लेने की प्राचीन प्रथा थी। लेकिन डलहौजी ने इस मृतप्राय परंपरा को पुनर्जीवित कर इसका साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया। डलहौजी विलयवादी था। उसने व्यपगत सिद्धांत का प्रयोग आक्रामक उद्देश्यों के लिए किया। अवध जैसे प्रदेशों में जब व्यपगत सिद्धांत लागू नहीं हो सका तो उसने कुशासन की आड़ लेकर उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। व्यपगत का सिद्धांत डलहौजी के साम्राज्यवाद को और 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' के कथन को सिद्ध करता था। लार्ड डलहौजी ने प्रायः परम्पराओं को तोड़ा और बहुत से अवसरों पर साम्राज्यवादी भावना को ही उसने अपना पथप्रदर्शक माना। व्यापगत के सिद्धांत ने कुछ भारतीय राजाओं को असंतुष्ट कर दिया, जिन्होंने 1857 की क्रांति में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था।

❖❖❖❖❖

सन् 1857 का विद्रोह

अंग्रेजों के आगमन के बाद भारत में ब्रिटिश राज्य का तेजी से विस्तार हुआ, जिसने भारत के शांत जीवन में हलचल पैदा कर दी। भारत का समाज अंग्रेजी समाज से भिन्न प्रकृति का था। अंग्रेजी शासन द्वारा भारतीय भूराजस्व व्यवस्था तथा प्रशासनिक व्यवस्था में किये जा रहे परिवर्तनों ने भारतीय समाज को बुरी तरह प्रभावित किया। साथ ही, लोग जो लंबे अरसों से रहने के खास तरीकों में अभ्यस्त थे, उन तरीकों में भी फेर बदल होने लगे। अन्ततः इन परिवर्तनों ने भारतीय जीवन की शांत धाराओं को आंदोलित किया जिससे अंग्रेजों के विरूद्ध भारतीयों की प्रतिक्रियाएं तीव्र होने लगीं। प्रारम्भ में ये विद्रोह स्थानीय स्तर पर छोटे समुदायों द्वारा किये जाते थे, जिनमें नागरिक और आदिवासी दोनों प्रकार के विद्रोह शामिल थे। इस संदर्भ में संन्यासी विद्रोह (1763-1800), भील विद्रोह (1818-22), कोल विद्रोह (1831-32), छोटानागपुर और पलामू में अन्य छोटे विद्रोह, मुस्लिम आंदोलन यथा-फराजी आंदोलन (1838-1857), मोपला विप्लव (1836-51), वहाबी आंदोलन (1830-60) आदि। अंततः देश के विभिन्न भागों और समुदायों में बढ़ते आक्रोश का संगठित स्वरूप 1857 के विद्रोह के रूप में सामने आया।

विद्रोह के कारण

1857 का विद्रोह ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के कुशासन के विरूद्ध विस्फोट था। इसके कारणों को सुविधपूर्वक पाँच शीर्षकों के अंतर्गत रखा जा सकता है- राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सैनिक।

राजनैतिक कारण

- ब्रिटिश शासकों की नीतियां - वेलेजली की सहायक संधि, डलहौजी की संयोजन नीति (जब्ती का सिद्धांत), तथा महान मुगल वंशजों का परम्परागत महल लाल किले से बाहर निकालना आदि राजनीतिक कारणों के उद्गम थे।
- ब्रिटिश सरकार द्वारा 1803 के बाद से ही स्वयं की शक्ति को मुगल सत्ता के समकक्ष घोषित कर दिया गया था। इसने कहीं न कहीं भारतीय जनमानस की धारणा को प्रभावित किया था। भारतीयों की नजर में मुगल राजा के प्रति सम्मान की भावना अभी व्याप्त थी। अंग्रेजों द्वारा मुगलों से लाल किला छोड़ने के प्रस्ताव ने सम्पूर्ण भारतीयों के अहं को ठेस पहुँचायी।

रानी लक्ष्मीबाई

- यद्यपि भारत में अपने सत्ता प्रसार के क्रम में अंग्रेजों ने सहायक संधि, घेरे की नीति आदि कूटनीतिक चालों का प्रयोग किया था, परंतु डलहौजी के जब्ती के सिद्धांत (विलय की नीति) ने भारतीय शासकों को आंदोलित कर दिया जैसे अवध के भूतपूर्व नवाब, उनका सलाहकार अहमद उल्लाह, नाना साहब का भतीजा राव साहब, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई आदि।
- एक और राजनैतिक कारण भारत में ब्रिटिश शासन का स्वरूप 'अनुपस्थित प्रभुसत्ता' के रूप में होना भी था, जिसने अंग्रेजों के विरोध के लिए भारतीय जनमानस को प्रेरित किया।

आर्थिक कारण

- ब्रिटिश शासन की शोषणकारी और दमनकारी आर्थिक नीतियां विद्रोह के प्रमुख कारणों में से एक थी। पैसा वसूलने के लिए जहां तक संभव हुआ, भूमि व्यवस्था के नए-नए उपाय ढूढ़े गये। स्थायी, रैयतवारी और महालवारी एक से बढ़कर एक दमनकारी नीतियाँ अमल में लायी गयी।

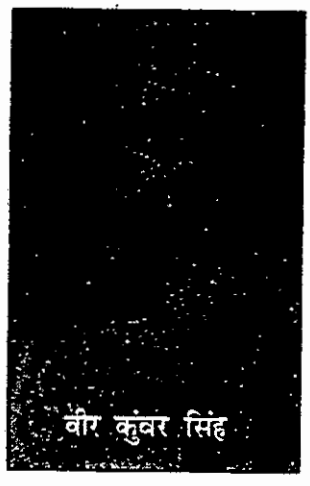
वीर कुंवर सिंह

- नवीन राजस्व व्यवस्था में किसानों के साथ दुर्भावनापूर्ण व्यवहार किया गया। लगान की दरें इतनी बढ़ा दी गई थी जितनी कि उसके पूर्व किसी भी काल में न थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि किसान महाजनों के चंगुल में फंसते चले गये तथा उन्हें अपनी जमीनों से हाथ धोना पड़ा।
- ईनाम (दान) में दी हुई सभी जमीनें कम्पनी द्वारा जब्त कर ली गई, जिसके कारण पुरोहित और मौलवी लोगों की आजीविका पर विपरीत प्रभाव पड़ा।
- ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियाँ भारतीय व्यापार एवं उद्योगों के विरूद्ध थीं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राजनैतिक प्रभाव से भारतीय हस्तशिल्प एवं कुटीर उद्योगों का सर्वनाश हो गया था। कारीगरों एवं छोटे व्यवसायियों को मजदूरी करने के लिए बाध्य होना पड़ा।
- ईस्ट इंडिया कम्पनी सरकार द्वारा खेती की ओर ध्यान न देने के कारण खाद्यान्न संकट उत्पन्न हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अनेक दूर्भिक्ष पड़े जिसमें लाखों लोग काल कवलित हुए।

सामाजिक कारण

- अठारहवीं सदी के अंतिम वर्षों और उन्नीसवी सदी के पूर्वार्द्ध में तेजी से फैल रही पश्चिमी सभ्यता ने भारतीय समाज पर विपरीत प्रभाव डाला।
- विजेता होने के कारण अंग्रेज शासक विजित भारतीयों के प्रति दुर्भावनापूर्ण व्यवहार करते थे। इसके अतिरिक्त वे नस्लवादी भावना से भी प्रेरित थे। वे भारतीयों को हेय दृष्टि से देखते थे।
- रेलवे तथा टेलीग्राफ (तार) के आविष्कार, पश्चिमी शिक्षा का विस्तार, सती और शिशु हत्या-जैसी प्रथाओं का हटाया जाना, 1856 ई. के धार्मिक अक्षमताएं कानून (रिलिजीयस डिसेबिलिटी एक्ट) द्वारा हिन्दुत्व से धर्मांतरित

व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा, 1856 ई. के हिन्दू विधवा पुनर्विवाह कानून द्वारा विधवाओं के पुनर्विवाह को कानूनसंगत बनाया जाना तथा कुछ ईसाई मिशनरियों द्वारा भारतीयों के धर्मों की आलोचना आदि से भारतीय समाज का अधिकांश हिस्सा चिंतित हो उठा।

- भारतीयों में यह विश्वास बढ़ता जा रहा था कि अंग्रेज उनके देश को पश्चिमाभिमुखी बनाने तथा भारतीयों को ईसाई बनाने की योजना बना रहे हैं, परिणामस्वरूप भारतीयों में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध विरोध का स्वर मुखरित हुआ।

धार्मिक कारण

- यूरोपीयों के आगमन के साथ ही भारत में ईसाई मिशनरियाँ भी आयीं, जिन्होंने ईसाई धर्म का प्रचार प्रारंभ कर दिया। सरकार खुलकर इन मिशनरियों को सहयोग देती थी। ये मिशनरियाँ हिन्दू धर्म की बेहिचक आलोचना करती थीं तथा हिन्दू धर्म को नीचा दिखाने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने देना चाहती थीं।
- अंग्रेजों का एक उद्देश्य भारतीयों को ईसाई बनाना भी था। मिशनरियों के धर्म परिवर्तन के रवैये तथा कुछ ब्रिटिश अधिकारियों के क्रियाकलापों ने भारतीयों के मन में यह डर पैदा कर दिया कि उनका धर्म खतरे में है।
- शारीरिक तथा राजनैतिक अन्याय सहन करना कई बार संभव हो सकता है, परन्तु धार्मिक उत्पीड़न सहना बहुत कठीन होता है। अंग्रेजों के मंसूबों का कम्पनी के अध्यक्ष मैंगल्ज के 'हाऊस ऑफ कामन्स' में दिए गए एक भाषण से स्पष्ट होता है जिसमें उसने कहा था कि "दैव योग से भारत का विस्तृत साम्राज्य ब्रिटेन को मिला है ताकि ईसाई धर्म की पताका भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक फहरा सके।"
- मूर्तिपूजा की आलोचना की जाती थी तथा हिन्दू देवी-देवताओं का उपहास उड़ाया जाता था। वीर सावरकर ने यह दर्शाया है कि असैनिक और सैनिक ऊंचे पदाधिकारी राम और मुहम्मद का मजाक उड़ाया करते थे।
- नवीन शिक्षा नीति में धार्मिक शिक्षा की अवहेलना से जनता में असंतोष बढ़ा तथा मौलवी तथा पंडित बेरोजगार हो गये। स्कूलों में ईसाई धर्म के प्रचार के कारण जनता इनको संदेह की दृष्टि से देखती थी। पुनः इन स्कूलों में सभी जातियों के बालक एक साथ बिठाये जाते थे जिसके कारण ऊंची जातियों के हिन्दु असंतुष्ट थे। ब्रिटिश विद्या कार्यालयों को 'शैतानी दफ्तर' के नाम से पुकारा जाने लगा था।
- 1850 में पास किये गये धार्मिक अयोग्यता अधिनियम द्वारा हिन्दू रीतिरिवाजों में परिवर्तन लाया गया। इससे पुत्र को अपने पिता की सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता था। इस कानून का मुख्य लाभ ईसाई बनने वालों को था, जिससे बहुसंख्यक हिन्दुओं की नाराजगी स्वाभाविक थी।

सैनिक कारण

- ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारी अंग्रेज और भारतीय सैनिकों के बीच नस्लवादी भेदभाव रखते थे। एक ही पद पर कार्य करने वाले अंग्रेज सैनिक का वेतन भारतीय सैनिक की तुलना में कई गुना अधिक होता था। इसके अतिरिक्त भारतीय सेना में उच्च पद प्राप्त नहीं कर सकते थे, जबकि नौसिखिये अंग्रेज वरिष्ठ से वरिष्ठ भारतीय सैनिक का अपमान कर देते थे।

- भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार से सैनिकों की सेवा शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। अब उन्हें अपने देश से दूर सेवा करनी पड़ती थी, जिसके लिए उन्हें भत्ता भी नहीं मिलता था।
- 1856 में पारित 'जनरल सर्विस एनलिस्टमेंट एक्ट' के अंतर्गत सैनिक को युद्ध के लिए कहीं भी भेजा जा सकता था। इससे उच्च जातीय हिन्दू सैनिकों में रोष फैला, क्योंकि वे समुद्र पार जाना धर्म के विरूद्ध मानते थे।
- 1854 में डाकघर अधिनियम पारित होने के बाद सैनिकों को अपनी डाक भेजने के लिए क्रय करने पड़ते थे, जबकि इसके पूर्व उनके लिए डाक सेवा निःशुल्क थी।

तात्कालिक कारण

- 1856 में कम्पनी सरकार ने पुरानी लोहे वाली ब्राउन बैस बन्दूकों की जगह नए एनफील्ड राइफलों के प्रयोग का निश्चय किया। इसके बाद शीघ्र ही यह अफवाह फैल गई कि नए राइफलों में प्रयोग किये जाने वाले कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी है, जिसे प्रयोग से पूर्व मुँह से काटना पड़ता है। इन अफवाहों के सच साबित होने पर हिन्दू तथा मुसलमान सैनिकों ने समझा कि अंग्रेज उनका धर्म नष्ट करना चाहते हैं। यही इस विद्रोह के सूत्रपात का तात्कालिक कारण बना।

विद्रोह की असफलता के कारण

एकता का अभाव - 1857 के विद्रोह में भारतीयों में आपसी एकता का अभाव था। यद्यपि बंगाल के सिपाहियों ने विद्रोह में भाग लिया था, किन्तु सिक्ख तथा दक्षिण भारतीय सिपाहियों ने अंग्रेजों की ओर से विद्रोहियों का दमन किया। सिक्खों में मुगल शासन के पुनरूत्थान का भय उत्पन्न हो गया था। इसी प्रकार राजस्थान के राजपूत शासक एवं हैदराबाद के निजाम मराठा शक्ति के पुनरूत्थान से भयभीत थे।

शिक्षित भारतीयों का असहयोग - आधुनिक शिक्षित भारतीयों ने भी विद्रोह को सहयोग नहीं दिया क्योंकि इनके विचार में विद्रोह का रूप पश्चगामी था। यह शिक्षित वर्ग ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था की उपज था। अत: उनकी धारणा बन गई थी कि देश को आधुनिकीकरण की ओर अग्रसर करने में अंग्रेज नेतृत्व प्रदान कर सकते हैं।

योग्य नेतृत्व का अभाव - विद्रोह को संचालित करने के लिए कुशल एवं योग्य नेतृत्व नहीं मिला। विद्रोही नेताओं के बीच आपसी मतभेदों ने भी विद्रोह को कमजोर बना दिया, जैसे मुगल शासक एवं सेना प्रमुख में विवाद, बेगम हजरत महल और मौलवी अहमदुल्ला का आपस में विवाद। नेताओं के स्वार्थ एवं संकीर्ण दृष्टिकोण ने विद्रोह की कमजोरियों को उजागर किया। जॉन लारेन्स ने ठीक ही कहा था कि "अगर उनमें (विद्रोहियों में) से एक भी योग्य नेता निकला होता तो हम सदा के लिए हार जाते।"

ब्रिटिश सैनिक श्रेष्ठता - विद्रोह की विफलता का अन्य मुख्य कारण था अंग्रेजों के पास श्रेष्ठ सैन्य साजो - सामान का होना। विद्रोहियों का सैनिक साजो-सामान अंग्रेजों के सैनिक साजो-सामान की तुलना में निम्नतर कोटि के थे। अंग्रेजी सेना की श्रेष्ठता देखकर अधिकांश सैनिक अपने गांव वापस लौट गए।

विद्रोही नेताओं में ठोस कार्यक्रम का अभाव – 1857 के विद्रोह के दौरान विद्रोहियों ने कुछ समय के लिए ब्रिटिश सरकार और शासन प्रणाली को उखाड़ फेंका, लेकिन उसके बदले वैकल्पिक व्यवस्था के लिए उनके पास कोई ठोस कार्यक्रम नहीं था। उनके पास शासन व्यवस्था की कोई दूरदर्शी योजना नहीं थी, इस कारण उन्हें पुरानी सामन्ती-व्यवस्था का आश्रय लेना पड़ा।

कुछ भारतीय वर्गों का अंग्रेजों को समर्थन – कृषकों के कुछ वर्गों तथा अधिकांश देशी रियासतों के शासकों ने, जो ब्रिटिश शासन से लाभान्वित थे, उन्होंने अंग्रेजों का साथ दिया।

उपरोक्त कारणों के अलावा अंग्रेजों की अनुशासित सेना, कुशल नेतृत्व, सुदृढ़ संचार व्यवस्था आदि ने विद्रोह को दबाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

विद्रोह के परिणाम

1857 के विद्रोह ने ब्रिटिश शासन प्रणाली और उसकी नीति में प्रत्यक्ष रूप से तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किये।

1. विद्रोह के बाद भारतीय सरकार का नियंत्रण अंतिम रूप से क्राउन (ब्रिटिश राजमुकुट) के अधीन हो गया। 2 अगस्त, 1858 ई. को 'भारत के बेहतर शासन के लिए एक कानून' (एन एक्ट फॉर द बेटर गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया) पास हुआ। इस अधिनियम के अनुसार, "भारत सर्वोच्च सत्ता द्वारा तथा सर्वोच्च सत्ता के नाम पर शासित होगा। यह शासन एक प्रमुख ब्रिटिश सरकारी राज्य-सचिव द्वारा होगा, जिसकी सहायता पन्द्रह सदस्यों की परिषद करेगी।" साथ ही भारत के गवर्नर-जनरल को वायसराय (राजप्रतिनिधि) की नवीन उपाधि प्रदान की गयी।

   भारत की सरकार को ग्रेट ब्रिटेन की सर्वोच्च सत्ता के अधीन लाने की घोषणा लॉर्ड कैनिंग ने 1 नवम्बर, 1858 ई. को इलाहाबाद में आयोजित दरबार में की। इसे 'साम्राज्ञी का घोषणापत्र' (द क्वीन्स प्रोक्लामेशन) के नाम से जाना जाता है। इस घोषणा पत्र को भारतीय जनता का 'महान अधिकार-पत्र' (मैग्ना कार्टा) माना गया है।

   - इसके द्वारा भारतीय राजाओं के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा की गयी संधियों एवं पाबन्दियों को वैध ठहराया गया।
   - देशी रियासतों के शासकों के अधिकारों, प्रतिष्ठा एवं सम्मान का आदर करने का वचन दिया गया।
   - भारत की प्राचीन धार्मिक क्रियाओं, रस्मों और प्रथाओं के प्रति उचित ध्यान देने का वादा किया गया।
   - दूसरों के राज्यों में 'अनाधिकार हस्तक्षेप' द्वारा भारत में ब्रिटिश राज्य के विस्तार की सम्पूर्ण इच्छा को अस्वीकार किया गया।
   - ब्रिटिश नागरिकों की हत्या के आरोप में दोषी हुए और होने वाले अपराधियों को छोड़कर लोग सभी अपराधियों को सामान्य राजकीय क्षमा प्रदान की गयी।

- न्याय, उदारता और धार्मिक सहिष्णुता की नीति की घोषणा की गयी तथा सरकार को आदेश दिया गया कि वह भारतीयों के धार्मिक विश्वास या पूजा में हस्तक्षेप से बचें।
- यह घोषणा की गई कि सभी, चाहे वे किसी भी नस्ल या धार्मिक विश्वास के हों, उन्हें निष्पक्षता से नौकरी के पदों पर नियुक्त हो सकते हैं, बशर्ते वे अपनी शिक्षा, क्षमता और ईमानदारी के द्वारा उन पदों के कर्त्तव्यों को उचित रूप से निभाने में समर्थ हो।

2. सेना का पूर्णरूप से पुनर्संगठन किया गया, क्योंकि इसी ने विद्रोह का सूत्रपात किया था। 1893 ई. तक प्रेसिडेंसी सेनाएं पूर्णतया अलग रखी गयीं तथा यूरोपीयन सैनिकों की संख्या में विस्तार किया गया।
3. ब्रिटिश सरकार ने अब भारतीय राज्य के प्रति एक नया रूख अख्तियार किया। इन राज्यों को अब से ब्रिटिश क्राउन की प्रभुसत्ता स्वीकार करनी पड़ी तथा वे एक ही कार्य के अंग समझे जाने लगे।
4. विद्रोह का एक अप्रत्यक्ष परिणाम भारतीय राजनीति में चरम पंथ (गरम दल) का उद्भव हुआ। विद्रोह के दौरान घटित घटनाओं ने कुछ भारतीयों और भारत में रहने वाले अंग्रेजों के मन में शत्रुता की भावना पैदा कर दी। यह भावना नस्लवादी भेदभाव के कारण और भी प्रज्वलित हो गयी।

विद्रोह का महत्व

1857 के विद्रोह की विफलता ने भारतीयों को इस बात का एहसास करा दिया कि सिर्फ शक्ति के बल पर अंग्रेजी शासन से मुक्ति नहीं मिलेगी, बल्कि इसके लिए सभी वर्गों के सहयोग और समर्थन की आवश्यकता है। पहली बार उत्तर भारत के किसानों ने बड़े पैमाने पर विद्रोह में भाग लिया। इसी प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों ने अप्रत्याशित एकता का प्रदर्शन किया और कंधे से कंधा मिलाकर अंग्रेजी दासता से मुक्ति का प्रयास किया। इस विद्रोह से भारतीयों में राष्ट्रीय भावना का बीजारोपण हुआ।

विद्रोह का स्वरूप

1857 के विद्रोह के स्वरूप के बारे कोई स्वष्ट विवरण नहीं मिलता, क्योंकि इस सन्दर्भ में जितने लेखक हैं लगभग उतने ही विचार हैं। इस प्रकार यह एक विवाद का विषय है। भारतीय एवं ब्रिटिश विद्वानों एवं इतिहासकारों ने विद्रोह के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। के. मालेसन. ट्रेविलियन, लारेन्स तथा होम्ज जैसे ब्रिटिश इतिहासकारों ने जो साम्राज्य के प्राकृतिक पक्षपाती थे, उसे केवल सैनिक विद्रोह माना है। कुछ भारतीय विद्वानों के विचार में भी यह एक सैनिक विद्रोह था। कुछ विद्वान इसे 'ईसाइयों के विरूद्ध धार्मिक युद्ध' की संज्ञा देते हैं। कुछ तो इसे पाश्चात्य तथा पूर्वी सभ्यता तथा संस्कृति के बीच संघर्ष का नाम देते हैं। कुछ ब्रिटिश विद्वानों के अनुसार यह 'हिन्दु-मुस्लिम षड्यंत्र' था जिसके द्वारा अंग्रेजी राज्य को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया गया। कुछ राष्ट्रवादी भारतीय इतिहासकार इसे 'सुनियोजित राष्ट्रीय आंदोलन' का सूत्रपात मानते हैं। ऐसा नहीं है कि भारतीय ही इसे राष्ट्रीय विद्रोह मानते हैं, ब्रिटिश रूढ़िवादी दल के नेता बेन्जामिन डिजरेली भी इस बात से सहमत हैं। लेकिन टी. आर होम्ज

जैसे कुछ ऐसे ब्रिटिश इतिहासकार भी हैं, जो इसे जातीय संघर्ष का रूप देने से भी नहीं हिचकते। वे इस विद्रोह को 'बर्बरता और सभ्यता के बीच संघर्ष' बताते हैं, जिनसे संकीर्ण जातिभेद और जातीय श्रेष्ठता की गन्ध आती है।

दो आधुनिक विशिष्ट भारतीय इतिहासकारों, डा. आर. सी. मजूमदार और डा. एस. सेन के बीच विद्रोह को लेकर मतभेद है। मजूमदार ने इसे स्वतंत्रता संग्राम मानने से इन्कार किया है क्योंकि विद्रोह ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप धारण किया। डा. सेन इस आधार-पर इस विद्रोह को स्वतंत्रता संग्राम मानने के लिए तैयार होते हैं कि क्रांतियां प्राय: एक छोटे से वर्ग से प्रारंभ होती हैं, जिसमें जनता का समर्थक होता भी और नहीं भी होता।

लेकिन कुछ आधुनिक लेखकों ने निष्कर्ष निकाला है- यह विद्रोह न तो पूर्णत: संगठित राष्ट्रीय आंदोलन था और न स्वतंत्रता संग्राम ही। यह मात्र सैनिक विद्रोह भी नहीं था। यद्यपि कि यह सैनिक उपद्रव के रूप में आरंभ हुआ था, जिससे कुछ ऐसे असंतुष्ट नरेशों और जमींदारों ने लाभ उठाया, जिनके हित नयी राजनीतिक व्यवस्था से टकराते थे। इन नरेशों और जमींदारों ने अपने इलाके में इसे जन विद्रोह का स्वरूप प्रदान किया, विशेषकर बिहार, अवध और रोहिलखंड में।

विद्रोह का स्वरूप अखिल भारतीय कभी नहीं था, बल्कि स्थानीय ही रहा। कुछ अंशों में यह सीमित और इसका संगठन कमजोर था। इसे संचालित करने के लिए राष्ट्रीय स्तर का कोई नेता भी नहीं था। सैनिक स्तर पर भी ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध सभी सैनिकों ने विप्लव में भाग नहीं लिया। कई अवसरों पर देखा गया कि प्रमुख भारतीय नरेशों और सरदारों ने ही नहीं, बल्कि भारतीय सैनिकों ने भी विद्रोह के दमन में अंग्रेजों का साथ दिया। ह्यूगरोज ने कहा था कि विद्रोहियों में 'झांसी की रानी' के अलावा कोई वीर नेता नहीं था। इसका अर्थ यह नहीं है कि उस समय भारत में ऐसे शासकों की कमी थी, बल्कि यह कि इस तरह के शासकों ने विद्रोह में भाग नहीं लिया। सिन्धिया, गायकवाड़, होलकर आदि ने इस संघर्ष में भाग नहीं लिया था। जबकि उस समय ये भारतीय शक्ति के केन्द्र थे। एक अवसर पर केनिंग ने कहा था, 'यदि सिन्धिया भी विद्रोह में सम्मिलित हो जाए तो मुझे कल ही बिस्तर गोल करना होगा।' विद्रोह की एक विशेष बात यह थी कि विद्रोहियों के विभिन्न दलों में संगठन और उद्देश्य एक दूसरे से भिन्न थे। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में भी इस विद्रोह को सिपाही विद्रोह घोषित किया गया। वास्तव में क्षेत्रीय होने के बावजूद विद्रोह का प्रभाव व्यापक था। इसमें भारत के अनेक वर्गों की सहभागिता रही। दो भारतीय इतिहासकारों वी. डी. सावरकर और अशोक मेहता ने इसे 'भारतीय स्वतंत्रता संग्राम' कहा है। इस विद्रोह के लिए केवल सैनिक ही उत्तरदायी नहीं थे, बल्कि कृषकों एवं उच्च वर्ग में भी अंग्रेजों के प्रति एक आम असंतोष था। समग्रत: यह कहा जा सकता है कि यह विद्रोह मध्ययुगीन व्यवस्था से अपने को बचाने और अपनी खोई हुई मर्यादा प्राप्त करने का अन्तिम प्रयास था। राजा और जमींदार इस जमात के नेता थे। यह मोटे तौर पर एक राजनीतिक आन्दोलन था, जिसका उद्देश्य भारत से विदेशी शासन को दूर करना था। हाल ही में भारत सरकार द्वारा भी 1857 के विद्रोह को भारत का 'प्रथम स्वतंत्रता संग्राम' स्वीकार कर लिया गया है। इस विद्रोह को 150 वर्ष पूरा होने के उपलक्ष्य में वर्ष 2007 को विद्रोह के स्मृति वर्ष के रूप में मनाया गया।

1857 के उपरांत ब्रिटिश साम्राज्य की नीति

सन् 1857 के विद्रोह को पूर्णरूप से कुचल दिया गया, किन्तु इस विद्रोह ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को हिला के रख दिया था। अब अंग्रेजों को यह सोचने के लिए विवश होना पड़ा कि भारत के शासन के संबंध में उनको कुछ नवीन नीतियों का अनुसरण करना होगा। विद्रोह के समय लॉर्ड क्रोमर ने अंग्रेज युवकों को यह सुझाव दिया था कि वे उस विद्रोह का अध्ययन करके उससे कुछ सीखने का प्रयत्न करें, क्योंकि इसमें अनेक चेतावनियां छिपी हुई हैं। इसके अतिरिक्त विद्रोह के उपरान्त पश्चिम के अनेक साम्राज्यीय और पूंजीवादी देशों ने – जिनमें जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका भी सम्मिलित थे, अंग्रेजों के उपनिवेशों और अर्ध उपनिवेशों की अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों में राजनीतिक व्यापारिक स्थिति को चुनौती देने का प्रयत्न किया। इस परिवर्तित परिदृश्य ने ब्रिटेन को इस बात के लिए बाध्य किया कि वह भारत पर अपने नियंत्रण को और भी सुदृढ़ करे। भारत पर नियंत्रण बनाये रखने के तरीके तो पहले ही विकसित हो चुके थे, अब उनको और सुदृढ़ बनाकर मजबूती से लागू करने की रणनीति पर अमल किया गया।

प्रतिक्रियावादियों तथा स्वार्थी लोगों को संरक्षण प्रदान करके उन्हें प्रोत्साहन दिया गया ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति उनकी स्वामिभक्ति बनी रहे। कालान्तर में यही वर्ग भारत में ब्रिटिश राज्य के मजबूत स्तंभ के रूप में उभरकर सामने आया। 'फूट डालो और शासन करो' की नीति का नियमित तथा निरंतर रूप से अनुपालन किया गया। भारत पर नियंत्रण बनाये रखने के लिए इसे एक अचूक हथियार के रूप में प्रयोग किया गया जो अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ। सभी सैनिक तथा प्रशासनिक उच्च पदों पर केवल यूरोपीय लोगों की नियुक्ति करके प्रशासन पर कड़ा नियंत्रण रखा गया। 1 नवम्बर, 1858 के महारानी विक्टोरिया के घोषणा के अनुसार उस तिथि से भारत का शासन ब्रिटिश क्राउन (ताज या सर्वोच्च सत्ता) के अधीन हो गया। ब्रिटिश क्राउन के अधीन भारत में अपनायी गई नीतियों के प्रमुख लक्षण इस प्रकार थे–

- **साम्राज्य विस्तार में शिथिलता :** साम्राज्ञी की घोषणा में देशी रियासतों के नरेशों को विश्वास दिलाया गया था कि उनकी सीमाओं में कोई छेड़छाड़ नहीं की जायेगी। देशी रियासतों को अंग्रेजी राज्य में मिलाने की नीति को समाप्त कर दिया गया। अतः इस घोषणा के फलस्वरूप डलहौजी द्वारा साम्राज्य विस्तार के लिए अपनाये गये व्यपगत के सिद्धांत का अंत हो गया। अब भारतीय नरेशों के गोद लेने के अधिकार को मान्यता प्रदान कर दी गई। इससे देशी नरेश संतान न होने की दशा में अपने राज्य के छिन जाने के भय से मुक्त हो गये।
- **भारतीयों का आर्थिक शोषण :** सन् 1857 के विद्रोह के कारण एक युग समाप्त हुआ था, किन्तु इसी के द्वारा एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। यद्यपि अंग्रेजों ने साम्राज्य विस्तार की नीति को त्याग दिया, किन्तु उसके स्थान पर उन्होंने अपना ध्यान भारत के आर्थिक शोषण की तरफ लगाया। अंग्रेजों को अब भारत के सामंतों से कोई खतरा नहीं रह गया था, क्योंकि वे सब तो अब ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा उसके प्रशासन के निष्ठावान अनुयायी बन गये थे। 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में तो उन्हें चुनौती देने वाला भारत का वह उदारवादी शिक्षित वर्ग था, जिसने जॉन स्टुअर्ट मिल तथा अन्य अंग्रेज उदारवादियों के दर्शन का अध्ययन किया था।

ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप जो अतिरिक्त उत्पादन हो रहा था, उसकी खपत के लिए तथा वहाँ के उद्योगों के लिये कच्चे माल की प्राप्ति हेतु ब्रिटिश शासित भारतीय विशाल भू-खण्ड अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। भारत के संबंध में आर्थिक नीतियां लंकाशायर के उद्योगपतियों तथा ब्रिटिश व्यापारियों के हित में बनाई जाती थीं, जिसके फलस्वरूप भारत में बेरोजगारी, दरिद्रता तथा भुखमरी जैसी विकट समस्याएं उत्पन्न हुईं।

- **भारतीयों को योग्यतानुसार पद देने का आश्वासन :** साम्राज्ञी की घोषणा में भारतीयों को यह भी आश्वासन दिया गया कि वह चाहे किसी भी जाति या धर्म के हों, उन्हें उनकी शिक्षा, योग्यता और ईमानदारी के कारण राज्य सेवा में उस पद पर नियुक्त कर दिया जायेगा, जिसके लिये वे योग्य पाये जायेंगे। इन पदों पर उनकी नियुक्तियां बिना किसी पक्षपात के की जायेगी। घोषणा में किये गये आश्वासन को पूरा करने के लिये सन् 1861 में 'भारतीय प्रशासकीय सेवा अधिनियम' पारित किया गया जिसके अंतर्गत प्रत्येक वर्ष लंदन में एक प्रतियोगी परीक्षा आयोजित करने की व्यवस्था की गई। इस परीक्षा के लिये ऐसे नियम बनाये गये कि यह उच्च पद भारतीयों के लिये नहीं, बल्कि अंग्रेजों के लिये सुरक्षित होकर रह गये।

- **भारतीय प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी को शनैःशनैः बढ़ावा देना :** सन् 1857 के विद्रोह होने का एक प्रमुख कारण शासक तथा शासित के मध्य उचित संपर्क न होने के कारण शासितों में अविश्वास की भावना उत्पन्न होना माना गया था। सर बार्टले फरेरे ने सन् 1860 की अपनी प्रसिद्ध टिप्पणी में इस बात पर जोर दिया था कि भारतीयों को विधान परिषदों का सदस्य बनाया जाना चाहिये। यह विचार किया गया कि भारतीयों का विधि निर्माण में भागीदारी के कारण शासक वर्ग को शासित वर्ग की भावनाओं के विषय में उचित जानकारी रहेगी और इस प्रकार दोनों के मध्य अविश्वास उत्पन्न नहीं होगा। इस प्रकार सन् 1861 के भारतीय परिषद अधिनियम के द्वारा भारत में प्रतिनिधि सभा प्रारंभ हो सकी।

- **भारतीय सेना का पुनर्गठन :** सन् 1857 के विद्रोह में भारतीय सेना ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अतः उसका पुनर्गठन नस्लीय तथा जातीय आधार पर किया गया ताकि एक संप्रदाय के विरूद्ध दूसरे संप्रदाय से बनी सेना का प्रयोग प्रभावशाली ढंग से किया जा सके। सन् 1861 के सेना संबंधी कानून के द्वारा कंपनी की सेना को ब्रिटिश क्राउन (ताज) की सेना में मिला दिया गया। सन् 1857 के भारतीय सेना में यूरोपियनों की संख्या 40 हजार थी, इसको बढ़ाकर 75 हजार कर दिया गया जबकि भारतीय सैनिकों की 2 लाख 15 हजार की संख्या को घटाकर 1 लाख 40 हजार कर दिया गया। नीति यह रखी गई कि बंगाल प्रेसीडेंसी में यूरोपीय तथा भारतीय सैनिकों का अनुपात 1:2 तथा बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसी में यह अनुपात 1:3 रहे। तोपखाने पर केवल यूरोपीयनों का अधिकार रखा गया। सेना के सभी उच्च पद केवल यूरोपीयों को दे दिये गये। स्थिति यह थी कि सन् 1917 तक किसी भी भारतीय को सेना से सम्बंधित 'किंग्स कमीशन' के योग्य नहीं समझा गया था। एक अंग्रेज रंगरूट (नया सिपाही) को एक भारतीय वायसराय कमीशन प्राप्त सैनिक अधिकारी से श्रेष्ठ माना जाता था।

- **परम्परागत भारतीय रीति-रिवाजों को सम्मान देने का आश्वासन :** साम्राज्ञी की घोषणा द्वारा भारतीयों को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया गया कि भारतीयों के हृदय में अपने पूर्वजों से प्राप्त भूमि के प्रति जो ममत्व है, उससे ताज अवगत है तथा उसका सम्मान करती है तथा वह भूमि से संबंधित समस्त अधिकारों को, राज्य

की न्यायोचित मांगों को ध्यान में रखते हुये रक्षा करना चाहती है। अत: ताज की इच्छा है कि सामान्यत: कानून बनाते और व्यवहार में लाते समय भारत की प्राचीन परम्पराओं का प्रयोग हो तथा रीति-रिवाजों का उचित ध्यान रखा जाये। इस प्रकार कंपनी के शासनकाल में जो परंपराओं तथा रीति-रिवाजों से हस्तक्षेप किया जाता था, वह बंद हो गया।

- **फूट डालो और शासन करो की नीति :** एक ओर तो अंग्रेजों ने विखंडित भारत को एकता के सूत्र में बाँधा तथा दूसरी ओर उन्होंने ही फूट डालो तथा शासन करो की नीति के अंतर्गत इसकी परम्परागत एकता का अंत करने का प्रयास किया। भारत में अंग्रेजों ने उद्योग विकसित नहीं होने दिया, इसका परिणाम यह निकला कि शिक्षित बेरोजगारों को सरकारी नौकरियों में आना पड़ा। वहां उनका कुछ इस प्रकार प्रशिक्षण हुआ कि वे स्वयं को भारतीय साधारण जनता से अलग मानने लगे तथा पश्चिम का अंधाधुंध अनुसरण करने लगे। पंडित नेहरू के अनुसार क्योंकि इनको अपने अंग्रेज अधिकारियों के सामने बहुधा झुकना पड़ता था तथा कभी कभी अपमान भी सहना पड़ता था तो उसके बदले में यह साधारण जनता से दुर्व्यवहार करके अपने अहं को तुष्ट करते थे। अंग्रेज़ एक जाति को दूसरी जाति के विरूद्ध, मुसलमानों को हिन्दुओं के विरूद्ध, उच्च जातीय हिन्दुओं को निम्न जातीय हिन्दुओं तथा सिखों के विरूद्ध भड़काते रहते थे।
- **हिन्दुओं तथा मुसलमानों के मध्य वैमनस्य उत्पन्न करने की नीति :** सन् 1857 के विद्रोह के दमन के बाद अंग्रेजों ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच वैमनस्य उत्पन्न करने की नीति अपनायी। 1857 के विद्रोह के दौरान मुसलमानों ने दिल खोलकर विद्रोहियों का साथ दिया था। दक्षिणी भारत जहां उनकी संख्या बहुत कम थी, वहां भी उन्होंने सन् 1857 तथा 1859 के मध्य अंग्रेजों के विरूद्ध षडयंत्र रचे। विद्रोह के दमन के बाद सरकार ने हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों के प्रति कड़ा रूख अपनाया। अनेक मुसलमान विद्रोहियों को फांसियां दी गयीं, देश-निकाला दिया गया तथा उनकी संपत्ति पर अधिकार कर लिया गया। पुन: दिल्ली जो मुस्लिम पुनर्जागरण का केन्द्र था नष्ट हो गया तथा हिन्दू पुनर्जागरण का केन्द्र कलकत्ता बच गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमान पिछड़ गये तथा हिन्दू प्रगति के क्षेत्र में उन्हें मीलों पीछे छोड़ गये। मुसलमान अपनी सुरक्षा के लिये चिंतित हुये तथा हिन्दुओं के प्रति उनका अविश्वास बढ़ा, इसको अंग्रेजों ने और हवा दी। इस प्रकार फूट डालने की नीति के अंतर्गत 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक मुसलमानों का दमन एवं हिन्दुओं का पक्ष तथा 20 वीं शताब्दी के प्रारंभ के दशकों में जब राष्ट्रीय आंदोलन विकसित हुआ तब हिन्दुओं का दमन तथा मुसलमानों का पक्ष लेकर दोनों के बीच वैमनस्य बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया गया। इस प्रकार दोनों समुदायों के बीच सामुदायिक वैमनस्य की खाई को गहरा बनाने का प्रयास किया गया।
- **नस्लवादी भेदभाव की नीति :** सन् 1857 के बाद अंग्रेजी नस्लीय घृणा उभर कर सामने आई। उस समय के एक कार्टून में भारतीयों की आकृति "आधी नीग्रो तथा आधे गोरिल्ला" की दर्शाकर दिखाया गया कि उसको केवल डण्डे के बल पर बस में रखा जा सकता है। इस प्रकार से विद्रोह के बाद सफेद फार्मों (अंग्रेजों तथा अन्य यूरोपियनों) का भारतीयों के प्रति अपमानजनक व्यवहार रहा। पूरे भारतीय शासन का स्वरूप एक स्वामी नस्ल के आधार पर टिका था, जिसका उद्देश्य असभ्य तथा बर्बर गुलामों को सभ्य बनाना था। शासक तथा शासित

वर्ग के मध्य यह खाई निरंतर बढ़ती चली गई जिसका परिणाम था, संघर्ष, हड़तालें, हिंसा और हत्याओं का एक अन्तहीन सिलसिला जो स्वतंत्रता मिलने तक जारी रहा।

1857 के पश्चात् ब्रिटिश राज की देशी रियासतों के प्रति नीति

क्राउन के अंतर्गत भारत का शासन आने के पश्चात् भारतीय रियासतों के साथ ब्रिटिश सरकार के सम्बन्धों में व्यापक परिवर्तन आया। 1857 के पूर्व देशी रियासतों के सम्बन्ध दो प्रकार से निर्धारित थे। पहला यह कि देशी रियासतों के साथ अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग प्रकार की संधियाँ की गयी थी, अतः ईस्ट इण्डिया सरकार के साथ उनके सम्बन्ध एकरूपता लिए हुऐ नहीं थे। दूसरे, संधियों पर गवर्नर जनरलों के व्यक्तित्त्व का भी प्रभाव देखा जा सकता था जैसे कि वेलेजली, हेस्टिंग्स और डलहौजी की नीतियाँ दूसरे गवर्नर जनरलों की अपेक्षा अधिक आक्रामक थीं। परन्तु जब सत्ता क्राउन के हाथों में आयी तो इन रियासतों के प्रति नीति पूर्ण रूप से परिवर्तित कर दी गयी। परन्तु यह परिवर्तन भी आकस्मिक रूप से नहीं आये, अपितु धीरे-धीरे क्रमिक रूप में प्रकट हुए।

1858 के साम्राज्ञी की घोषणा द्वारा ब्रिटिश सरकार ने साम्राज्य विस्तार की अपनी नीति का परित्याग कर दिया तथा विलय की नीति को तिलांजलि देकर रियासती शासकों को प्रसन्न किया गया। इसके उपरांत नयी नीति में कहा गया कि राजाओं को कुप्रशासन के लिए दण्डित तो किया जाए लेकिन उनकी रियासतों का विलय न किया जाए। 1860 ई. में देशी रियासतों के शासकों को सनदें दी गयीं। इसके अनुसार हिन्दू शासकों को दत्तक पुत्र लेने का अधिकार मिल गया और मुस्लिम शासकों को मुस्लिम कानून के अनुसार किसी भी तरह से उत्तराधिकार निश्चित करने का अधिकार मिल गया। इन्हें 'गोद लेने की सनदें' कहा गया। परन्तु 1858 के पश्चात् क्राउन की नीति भारतीय रियासतों पर अपनी सम्प्रभुता स्थापित करने की थी। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति 1876 के कानून द्वारा हुई जिसके द्वारा महारानी विक्टोरिया को 1 जनवरी, 1877 से 'भारत की साम्राज्ञी' का पद प्राप्त हुआ। इससे भारतीय रियासतें तुरंत ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत चली आयीं तथा कानूनी तौर पर रियासतों के शासक और निवासी ब्रिटिश सत्ता के अधीन समझे जाने लगे। 1884 ई. के एक कानून ने ब्रिटिश प्रभुसत्ता की इस स्थिति को और भी दृढ़ कर दिया। इसके अनुसार यह घोषणा की गयी कि देशी रियासतों का कोई भी उत्तराधिकार तब तक अवैध है जब तक वह किसी रूप में ब्रिटिश अधिकारियों की स्वीकृति नहीं पा लेता। भारतीय रियासतों पर आधिपत्य का सिद्धान्त एक और काम करता था। इसने ब्रिटिश सरकार को सुशासन के नाम पर देशी रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने को औचित्य प्रदान कर दिया।

परन्तु ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों पर आधिपत्य, शक्ति के बल पर नहीं प्राप्त किया, बल्कि कूटनीतिक चालों के माध्यम से यह प्रक्रिया पूरी की गयी। विलय से तो मुक्ति मिल गई, परंतु, अनेकों उपायों द्वारा रियासती राजाओं को यह एहसास कराया गया कि वे पूर्ण रूप से क्राउन (सर्वोच्च सत्ता) के अधीन हैं। 1909 की एक घोषणा में कहा गया था कि 'क्राउन की सर्वोच्च श्रेष्ठता का अर्थ रियासतों की अधीनता है।' भारतीय नरेश आडम्बरों और दिखावों पर बहुत विश्वास करते थे। लिटन एवं कर्जन जैसे वायसरायों का मानना था कि भारतीय नरेश अपनी सलामी में दागी

जाने वाली तोपों की संख्या में वृद्धि के लिए कोई भी कीमत चुका सकते हैं। यही कारण था कि इन दोनों वायसरायों ने दिल्ली दरबार का आयोजन किया। इन दरबारों में देशी रियासतों के नरेशों को आमंत्रित किया जाता था। उन्हें नयी-नयी पदवी से विभूषित किया जाता था और उनकी सलामी में दागी जाने वाली तोपों की संख्या में वृद्धि कर दी जाती थी। इस प्रकार रियासतों के नरेशों की भावनाओं को संतुष्ट कर उनकी निष्ठा प्राप्त करने का प्रयास किया गया।

लार्ड मिंटो के काल में ब्रिटिश सरकार द्वारा देशी रियासतों के प्रति नई नीति का सूत्रपात किया गया। अब प्रयास किया जाने लगा कि नरेश एवं उनकी प्रजा के बीच के मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जाए। अत्यधिक कुप्रशासन होने की स्थिति में ही हस्तक्षेप की बात सोची जा सकती थी। इसका अर्थ था कि देशी रियासतों के नरेशों को पर्याप्त स्वतंत्रता दी जाए। इसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध राष्ट्रवादी आन्दोलन में देशी रियासतों का समर्थन प्राप्त करना था। साथ ही इसका लाभ प्रथम विश्वयुद्ध में उस समय प्राप्त हुआ, जब देशी रियासतों के नरेशों ने अंग्रेजों के युद्ध प्रयत्न में अपना बहुमूल्य सहयोग दिया। 1921 में नरेन्द्र मण्डल के गठन के बाद देशी रियासतों को अपनी सत्ता के उपभोग में मिली स्वतंत्रता का पूर्ण उपयोग का अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु भारत में चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलन से ये रियासतें अछूती नहीं रह सकीं और जब इस आन्दोलन ने ब्रिटिश नींव की जड़े हिलानी शुरू की तब इन देशी रियासतों की सत्ता बनाए रखना सम्भव न रह सका। जब भारत के संघीय स्वरूप में रियासतों को शामिल करने की बात चलने लगी तो 1921 में स्थापित नरेन्द्र मण्डल ने संघ में शामिल होने के लिए निम्न शर्तें रखीं-

- संविधान में रियासतों को आवश्यक संरक्षण दिया जाए,
- संधियाँ, सनदों, और समझौतों से मिले अधिकार अनुल्लंघनीय बने रहें।
- रियासतों की संप्रभुता तथा आंतरिक स्वतंत्रता और रियासतों के अधिकार अनुल्लंघनीय बने रहें।

इस प्रस्ताव को कांग्रेस ने मानने से इंकार कर दिया। ब्रिटिश सरकार भी इस प्रस्ताव को मानने की स्थिति में नहीं थी। सरकार का तर्क था ऐसे समय में जब ब्रिटिश भारत में निरंकुश तंत्र का खुला विरोध हो रहा हो वहाँ रियासतों की सर्वोच्चता बनाए रख पाना सम्भव नहीं था। इसी बीच कांग्रेस ने रियासतों में लोकतंत्रवादी आन्दोलन को समर्थन देना आरम्भ कर दिया। राज्यों में उत्तरदायी सरकारों के गठन का समर्थन करते हुए कांग्रेस ने यह भी घोषणा की कि राज्यों में लोकतांत्रिक संघर्ष चलाने की जिम्मेदारी आवश्यक रूप से, स्वयं राज्यों की जनता को लेना चाहिए। अंततः 'राष्ट्रवाद और लोकतंत्र के एक ऐसे ज्वार ने रियासतों को घेर लिया जिससे निपट पाना न यहाँ के शासकों के वश में था और न ही ब्रिटिश सरकार के। 1920-22 के बीच खिलाफत आन्दोलन तथा असहयोग आन्दोलनों ने रियासती जनता में जनसंगठन का आदर्श प्रस्तुत किया। परिणाम स्वरूप, हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, काठियावाड़ तथा इन्दौर आदि अनेकों रियासतों में 'अखिल भारतीय स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेंस' का गठन हुआ। अधिकतर रियासती राजा अपनी रियासतों में राजनीतिक संस्थाओं के गठन के अत्यधिक विरोधी थे। कांग्रेस ने 1920 में नागपुर अधिवेशन में पहली बार देशी रियासतों के प्रति अपनी नीति घोषित करते हुए रियासतों में उत्तरदायी सरकार के गठन की मांग की। 1929 के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि रियासतें शेष भारत से अलग नहीं रह सकती, परंतु वहाँ की जनता ही रियासतों में अपने भविष्य का स्वरूप निर्धारण करेंगी। लेकिन 1938 में कांग्रेस के हरिपुरा अधि

वेशन में पहली बार स्पष्ट रूप से घोषणा की गई कि वह देशी रियासतों की जनता का शासकों के विरूद्ध संघर्ष में नैतिक समर्थन देती है। यही नहीं अगले ही वर्ष त्रिपुरी अधिवेशन में कांग्रेस ने देशी रजवाड़ों की स्वतंत्रता संबंधी प्रस्ताव भी पारित कर दिया।

रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति ने रियासती नरेशों के मन में यह विश्वास पैदा कर दिया था कि ब्रिटिश सत्ता के अधीन उनकी सत्ता की स्वतंत्रता सुरक्षित है। मिण्टो के काल में निर्धारित अहस्तक्षेप की नीति ने रियासतों को स्वतंत्रता तो प्रदान की थी, परन्तु साथ ही कांग्रेस द्वारा रियासतों की जनता द्वारा चलाये जाने वाले आन्दोलनों की पृष्ठभूमि भी तैयार कर दी अब ऐसे आन्दोलनों से निपटने का दायित्व रियासतों पर था जिनमें वो असफल रहे। 1935 के अधि नियम के अनुसार प्रस्तावित समस्त भारत के संघ की संघीय विधान सभा में रियासतों को 375 में से 125 स्थान दिये गए और राज्य विधान परिषद में 260 में से 104 स्थान। चूंकि पर्याप्त रियासतों ने संघ में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया, अतएव संघ अस्तित्व में नहीं आ सका।

1937 के चुनावों में कांग्रेस की सफलता का प्रभाव रियासतों पर भी बड़ा और वहां भी उत्तरदायी सरकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं के लिए आन्दोलन होने लगे। अगस्त 1942 में जब 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का सूत्रपात हुआ तो रियासतों की जनता भी भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष में शामिल हो गई।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत में परिस्थितियाँ तेजी से बदलीं। अंग्रेजों ने भारत से चले जाने का निश्चय किया। इसके लिए उन्होंने 3 जून, 1947 को एक योजना प्रस्तुत की, जिसमें 15 अगस्त, 1947 को भारत को स्वतंत्रता सौंपने की बात कही गयी। इसके लिए भारत को दो प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों में विभाजित करने की शर्त रखी गयी और रियासतों को इन दो स्वतंत्र राजनीतिक इकाइयों भारत और पाकिस्तान में शामिल होने की छूट दे दी गई। कुछ रियासतों ने भारत में स्वेच्छा से शामिल होने का प्रस्ताव किया, पर कुछ ने ऐसा करने से इन्कार किया। अंततः स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने इन रियासतों के साथ सख्ती से निपटते हुए इनका विलय भारतीय संघ में कर लिया। वस्तुतः रियासत के नरेशों में यह दूर दृष्टि नहीं थी कि वे यह कल्पना कर पाते कि सर्वोच्च सत्ता जिस पर वो आश्रित थे, स्थायी नहीं थी और स्वयं उनके पास ऐसी राजनीतिक शक्ति नहीं थी जिसके द्वारा ब्रिटिश संरक्षण हटने के बाद वो अपने अस्तित्व को कायम रख पाते।

❖❖❖❖❖

भारत में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलन

उदय के कारण

भारतीय इतिहास में 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध का काल सामाजिक व सांस्कृतिक जागृति के उदय के काल के रूप में जाना जाता है। इस काल तक यूरोप के आधुनिक प्रभाव छन-छन कर भारत में आने लगे थे। भारतीय नवशिक्षित वर्ग भी यूरोप के तर्कवाद, विज्ञानवाद तथा मानववाद से प्रभावित था। अंग्रेजों द्वारा भारत में फैलाए जा रहे औपनिवेशिक सांस्कृतिक प्रभुत्व के विरोध में प्रबुद्ध भारतीयों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने इस संदर्भ में दो लक्ष्य निर्धारित किये। एक तो सांस्कृतिक प्रभुत्व के कारणों का पता लगाना व दूसरा भारतीय समाज में व्याप्त दुर्बलताओं एवं कमजोरियों को दूर करना। पहले लक्ष्य के अंतर्गत औपनिवेशिक सरकार द्वारा प्रसारित की जा रही आंग्ल शिक्षा नीति, ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्मांतरण के किए जा रहे तीव्र प्रयास, यूरोपीय विद्वानों द्वारा किया जा रहा भारतीय अतीत की दुर्बलताओं का प्रसार और ब्रिटिश आर्थिक-सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार भारतीय समाज में हस्तक्षेप को समझने का प्रयास किया गया। इन बुद्धिजीवियों ने जल्द ही यह समझ लिया कि प्रगतिशील पाश्चात्य संस्कृति से सामना करने के लिए सुप्तावस्था में पड़े भारतीय समाज में आधुनिकता के तत्वों का समावेश करना पड़ेगा। दूसरा लक्ष्य, भारतीय समाज में व्याप्त दुर्बलताओं को दूर करने के लिए भारतीय जनता में चेतना का प्रसार करना था। इन दुर्बलताओं में व्याप्त रूढ़ियाँ, अंधविश्वास, असंतोष की भावना, शासक वर्ग को दैवीय उपहार मानना, मूर्तिपूजा, बहुदेववाद आदि प्रमुख थे। इन दुर्बलताओं को दूर करने के लिए सामाजिक-धार्मिक सुधार कार्य अनिवार्य हो गया।

एक ओर पाश्चात्य सभ्यता के आलोक में भारतीयों में नई चेतना व समाज के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास हो रहा था तो दूसरी ओर भारतीय जनता में औपनिवेशिक संस्कृति की वास्तविकताओं के प्रति गहरा रोष उत्पन्न होता जा रहा था। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग अब भली-भांति समझने लगा था कि अंग्रेजों द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित सारे सांस्कृतिक उत्थान कार्य औपनिवेशिक हितों की पूर्ति के लिए है। यह वैचारिक दिशा रूडयार्ड किपलिंग की 'श्वेत व्यक्तियों के बोझ' सिद्धांत के विपरीत जन्मा था जिसमें कहा गया था, कि अंग्रेजी राज की स्थापना एक पवित्र मिशन के तहत भारत में की गयी है जिसका उद्देश्य असभ्य जंगली एवं बर्बर भारतीयों को सभ्य बनाना है।

वस्तुत : यूरोप में प्रस्फुटित हुए नवीन विचारों के विक्षोभ ने भारतीय संस्कृति में एक नई चेतना को आधार प्रदान किया। इसी चेतना ने भारतीयों में पुनर्जागरण की भावना का संचार किया तथा उन्हें अपने देश के भूतकाल को परखने के लिए प्रेरित किया।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि 19वीं शताब्दी के बिखरे हुए भारत में यह चेतना देश के सभी भागों में उभरी। साधन के स्तर पर भिन्न-भिन्न विचारधारा होने के बावजूद उद्देश्यों के स्तर पर 19वीं सदी के सभी बुद्धिजीवी इस बात पर सहमत थे कि सामाजिक-धार्मिक सुधारों की तत्काल आवश्यकता है।

प्रवृत्तियां

सामाजिक सांस्कृतिक सुधारों के अंतर्गत भारतीय जनता के दुर्बल पक्षों को दूर कर उन्हें सांस्कृतिक रूप से सुदृढ़ करने का प्रयास आरंभ किया गया। इसके लिए भारतीय जनता को जागृत करना पहली आवश्यकता थी। तात्कालिक परिस्थितियों में व्याप्त रूढ़ियों, कुरीतियों, अंधविश्वासों आदि को दूर करने के लिए सामाजिक सुधार के प्रयास प्रारंभ किए गए। चूंकि समाज धर्म से पूरी तरह आबद्ध था, ऐसे में धार्मिक सुधारों को भी लक्षित किया गया। यह कार्य दो स्तरों पर प्रारंभ हुए। एक तरफ उच्चवर्गीय प्रबुद्ध भारतीयों ने सामाजिक धार्मिक क्षेत्रों में व्याप्त बुराइयों को दूर कर एक जुटता तथा राष्ट्रीय चेतना फैलाने का कार्य किया तो दूसरी तरफ निचली जातियों ने अपने अधिकारों की मांग हेतु तथा मानव के लिए गरिमामय जीवन जीने के अधिकारों की प्राप्ति हेतु स्वयं जातिगत सुधारों का कार्य प्रारंभ किए। दोनों स्तरों पर विभिन्न धर्मों में कई प्रवृत्तियां देखी गई।

प्रथम प्रवृत्ति, पाश्चात्यीकरण समर्थक ऐसे लोगों की समूह थी जो सामाजिक-धार्मिक सुधारों में पश्चिमी ज्ञान, लोकतांत्रिक मूल्यों, शिक्षा तथा साहित्य को आधार मानते थे। इस वर्ग के बुद्धिजीवियों ने पश्चिम का अंधानुकरण नहीं किया, बल्कि अपने समाज की आवश्यकतानुसार पश्चिमी मूल्यों तथा मानववाद, तर्कवाद आदि का सहारा लेकर सामाजिक बुराइयों को दूर करने का सार्थक प्रयास किया।

इनमें राजा राम मोहन राय का ब्रह्म समाज, देवेन्द्र नाथ टैगोर की तत्वबोधिनी सभा, सैय्यद अहमद खान का अलीगढ़ आंदोलन आदि प्रमुख थे। इनके प्रयासों से नारी मुक्ति के क्षेत्र में सराहनीय कार्य हुआ। उदाहरण के लिए विधवा विवाह अधिनियम, सती प्रथा, बाल विवाह विरोध अधिनियम, स्त्री शिक्षा आदि।

दूसरी प्रवृत्ति, पुनर्उत्थानवादी आंदोलन के नाम से जानी गई। इनमें आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी व वहाबी आंदोलन आदि प्रमुख हैं। इन्होंने भारतीय संस्कृति, धर्म-दर्शन, प्राचीन साहित्य, गौरवमय इतिहास आदि को केन्द्र में रखते हुए भारतीय सभ्यता का गौरवगान किया। इन्होंने सुसुप्तावस्था एवं जड़त्व के घेरे में बंधी भारतीय जनता में आत्म-सम्मान, स्वदेश प्रेम की भावना जगाकर उन्हें एकजुट करने का प्रयास किया। औपनिवेशिक सांस्कृतिक प्रभुत्व के विरुद्ध तार्किक आधार पर भारतीय संस्कृति का पक्ष लिया और दो संस्कृतियों के संघर्ष में स्थानीय, क्षेत्रीय व राष्ट्रीय आधार पर भारतीयों का मनोबल सदैव ऊँचा रखा। इनकी सबसे बड़ी विशेषता देशी साहित्य, देशी भाषा आदि का प्रयोग करना था, जो जनता को ज्यादा आत्मीय प्रतीत हुई। कालांतर में यह प्रवृत्ति गरम पंथ का आधार बनी तो दूसरी तरफ अपनी कुछ सीमाओं के कारण साम्प्रदायिकता का आधार बनी।

तीसरी प्रवृत्ति यथास्थितिवादी कहलाती है। इसमें भारतीय संस्कृति की चली आ रही परंपराओं को यथावत बनाए रखने का प्रयास किया गया। इस वर्ग ने ब्रिटिश सरकार द्वारा किए जा रहे सुधार कार्यों के साथ-साथ भारतीय सुधारकों द्वारा किए गए सुधारवादी परिवर्तनों का भी विरोध किया। उदाहरण के लिए सती प्रथा के विरोध में राधाकांत देव द्वारा रचित धर्मसभा। प्रगतिशील विचारों के दृष्टिकोण से भले ही यह प्रवृत्ति रूढ़िवादी दिखायी देती हो, लेकिन आम जनता में यही प्रवृत्ति लोकप्रिय थी।

स्वरूप

भारतीय सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन का समाज के साथ-साथ धर्म से भी अंतर्संबंध था, क्योंकि समाज के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का व्यापक प्रभाव था। सामाजिक परंपराओं यथा वैवाहिक नियमों, स्त्री के प्रति कठोर व्यवहार, जाति-प्रथा जैसी कुरीतियों, आडंबरपूर्ण वैदिक आयोजनों आदि में धर्म का व्यापक हस्तक्षेप था। इन धार्मिक रूढ़ियों को तोड़ने में आधुनिक पश्चिमी ज्ञान का सहारा लिया गया।

इस ज्ञान के प्रभाव में भारतीय समाज में सुधार के प्रयास किए गए, जिसे भारतीय नवजागरण की संज्ञा दी गई। यद्यपि यह यूरोपीय पुनर्जागरण के समक्ष बहुत सीमित प्रभावोत्पादक रहा, किंतु तात्कालिक भारतीय समाज में इसका प्रभाव धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक लगभग सभी क्षेत्रों पर पड़ा। इन सभी क्षेत्रों में सुधार का स्वरूप उपयोगितावादी एवं व्यवहारिक बना रहा।

मानव जीवन को केन्द्र में रखकर तर्कवाद, बुद्धिवाद एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए उसे सुखमय बनाने का प्रयास किया गया। सामान्यतौर पर सुधारकों ने पारलौकिक जीवन के स्थान पर इसी जीवन में प्रगति व सुधार पर बल दिया। धर्म व दर्शन का अध्ययन मानवीय कल्याण को ध्यान में रखकर किया गया।

उपयोगितावादी दृष्टिकोण होने के बावजूद सुधार कार्य मूलत: धार्मिक क्षेत्र में ज्यादा प्रभावी रहा और सामाजिक ढांचे में परिवर्तन या मौलिक क्रांति लाने का प्रयास नहीं किया गया। इन सुधार कार्यों के लिए विभिन्न माध्यम अपनाए गये जैसे आंतरिक सुधार कार्य जिसमें समाज को स्वयं-स्फूर्त व जागृत करने पर बल दिया गया। दूसरा कानून द्वारा सुधार जिसमें राज्य के सहयोग द्वारा सुधार पर बल जैसे - सतीप्रथा कानून-1829, विधवा विवाह अधिनियम-1856 आदि। तीसरा संस्थात्मक स्तर पर प्रतीकात्मक बदलाव लाने का प्रयास तथा चौथा सामाजिक कार्यों के द्वारा सुधार किया गया। इन सुधार कार्यों का स्वरूप मूलत: मध्यवर्गीय एवं शहरी बना रहा, वहीं जातिगत आंदोलनों का स्वरूप मूलत: क्षेत्रीय व ग्रामीण बना रहा।

कुल मिलाकर आंदोलन का स्वरूप प्रगतिशील, लोकतांत्रिक और आधुनिक मूल्यों को समायोजित किए हुए था, जो कालांतर में न केवल राष्ट्रीय एकता का आधार बना बल्कि इसने राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों के परिणाम, उपलब्धियां एवं सीमाएं

परिणाम

- 19वीं शताब्दी के सुधार आंदोलनों ने कई प्रवृत्तियों को जन्म दिया। एक प्रवृत्ति के रूप में आधुनिक पश्चिम ज्ञान का अनुसरण कर पाश्चात्य ज्ञान समर्थक भारतीयों ने भारत में व्याप्त सामाजिक, धार्मिक कुरीतियों तथा मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, धार्मिक आडंबर, नारी के प्रति कठोर कुरीतियों, जातिप्रथा आदि का प्रखर विरोध किया।
- पश्चिमी उदारवादी मूल्यों ने संवैधानिक ढांचे लोकतांत्रिक मांगों, प्रशासनिक-राजनीतिक अधिकारों आदि के प्रति भारतीयों में चेतना पैदा की। इन्होंने विभिन्न संगठनों के निर्माण तथा अखिल भारतीय संपर्कों के माध्यम से राष्ट्रीयता की भावना का सूत्रपात किया एवं बुद्धिवाद, तर्कवाद-विज्ञानवाद के मूल्यों की महत्ता को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हो रही घटनाओं के आलोक में देशवासियों के सम्मुख प्रस्तुत किया। पश्चिमी विचारकों के भारत विषयक ज्ञान के प्रचार के प्रति राजाराम मोहन राय जैसे प्रख्यात मनीषियों ने एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण विकसित किया। इन विद्वानों ने भारतीय ज्ञानविज्ञान, दार्शनिक विवेचन, परंपराओं आदि के प्रति जहाँ सकारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। वही आलोचनात्मक रवैया अपनाकर भारतीयों के मन में व्याप्त रूढ़ियों को भी दूर करने का प्रयास किया।
- दूसरी प्रवृत्ति के रूप में भारतीय अतीत के गुणों को आधार मानने वाले आंदोलन ने भारतीय संस्कृति की धार्मिक सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विशेषताओं का समग्र विश्लेषण प्रस्तुत कर भारतीयों के मन में आत्म सम्मान और आत्मगौरव की भावना जगाने की कोशिश की।

उपलब्धियां

- इन सुधार आंदोलन की महत्वपूर्ण उपलब्धियों में नारी शिक्षा एवं जातिगत सुधार के क्षेत्र में किये गये सार्थक प्रयासों को लिया जा सकता है। महिलाओं को शिक्षा क्षेत्र, सार्वजनिक जीवन में भागीदारी एवं व्यक्तिगत आत्मनिष्कर्ष आदि में योगदान देकर प्राचीनकाल में शोषित पिछड़ी जातियों के मौलिक अधिकारों की मांग एवं अधिकारों की प्राप्ति के लिए संगठन निर्माण करने का महत्वपूर्ण योगदान दिया।
- इन आंदोलनों ने राष्ट्रीय आंदोलन के लिए एक आधार तैयार किया जो कालांतर में औपनिवेशिक ताकतों के लिए महत्वपूर्ण चुनौती बने। जहां पाश्चात्यीकरण सुधारकों के प्रभाव में नरमपंथी आंदोलन का विकास संभव हुआ, वहीं गरमपंथी विचारधारा के उदय में संभवत: पुनर्उत्थानवादी सुधारकों की प्रेरणा विद्यमान रही।

सीमाएं

- 19वीं शताब्दी के सामाजिक-सुधार आंदोलन व्यापक उपलब्धियों के बावजूद इनकी कुछ सीमाएँ भी रहीं। पश्चिमी शिक्षा व आधुनिक मूल्यों का प्रभाव मूलत: शहरी एवं धनाढ्य वर्ग पर पड़ा था। अत: सुधार कार्यों का विस्तार क्षेत्र सामान्यत: शहरी क्षेत्र एवं उसका चरित्र मध्यवर्गीय ही रहा। इस कारण स्वविवेक, अपनी सामाजिक

आवश्यकताओं, ब्रिटिश संबंधों आदि को केन्द्र में रखकर सुधारों के क्षेत्र व उद्देश्य तय किए गए। ब्रिटिश नीतियों यथा संवैधानिक मूल्यों, राजनीतिक सुधारों और तर्कवादी चिंतन आदि तत्वों में उसका अटूट् विश्वास रहा। परिणामस्वरूप भारतीय समाज की वास्तविकताओं से परिचित होते हुए भी विरोध नहीं किया गया। बल्कि तत्कालिक समय में गरिमामय जीवन की प्राप्ति हेतु चल रहे जातिगत आंदोलनों को भी नेतृत्व प्रदान नहीं किया। जिससे यह आंदोलन एक समानांतर आंदोलन के रूप में उभरा और राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भी इसने अपनी पृथक स्थिति बनाए रखी।

- पुनर्उत्थानवादी प्रवृत्ति के सुधारकों द्वारा किए गए धार्मिक गतिविधियों ने कालांतर में कट्टर रुख अपनाया जिसने साम्प्रदायिकता का रूप धारण किया। उदाहरण के लिए आर्यसमाज व वहाबी आंदोलन द्वारा क्रमश: हिन्दू व मुस्लिम धर्म सुधार हेतु किए गए कार्य कालांतर में साम्प्रदायिक दंगों में परिवर्तित होने लगे।
- ये आंदोलन मुख्यत: नारी मुक्ति एवं जातिगत सुधार के अलावा समाज के अन्य सुधारों पर मौन रहा। यहां नारी मुक्ति के विभिन्न प्रश्न जैसे-सती प्रथा, विधवा विवाह, पर्दा प्रथा मुख्यत: कुलीन वर्ग की महिलाओं से ही संबंधित थे न कि निम्नवर्गीय महिलाओं से। निम्नवर्गीय महिलाओं का शोषण व सुधारों पर विशेष बल नहीं दिया गया।

परिणामस्वरूप अखिल भारतीय स्तर पर जनता को संगठित करने एवं अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रवाद जगाने की दिशा में इसका प्रत्यक्ष योगदान सीमित रहा।

सामाजिक तथा सांस्कृतिक आंदोलन

उन्नीसवीं शाताब्दी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य संस्कृति के कारण पुरातन तथा मध्ययुगीन परम्पराओं को भारी धक्का लगा। प्रत्येक दिशा में पाश्चात्य संस्कृति भारतीय संस्कृति को चुनौती दे रही थी। इस कारण भारतीयों को अपने विचारों तथा परम्पराओं का विश्लेषण करना पड़ा। पाश्चात्य संस्कृति के कारण अब उन्होंने रूढ़ियों तथा परम्पराओं को तर्क की कसौटी पर रखकर उसके गले-सड़े अंगों को उससे पृथक कर दिया तथा संशोधित विचारों तथा परम्पराओं के बल पर उन्होंने पुन: अपने धर्म को गतिशील बना डाला।

ब्रह्म समाज

धार्मिक तथा सामाजिक आंदोलन के जनक राजा राममोहन राय (1772-1833) थे। उनका जन्म बंगाल के राधानगर नामक स्थान पर एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन पर पाश्चात्य संस्कृति का अत्याधिक प्रभाव था। उनको भारत का पहला आधुनिक व्यक्ति कहा जा सकता है। वह हिन्दू समाज को रूढ़ियों तथा अंध विश्वासों से मुक्त करना चाहते थे। इस उद्देश्य हेतु उन्होंने सन् 1828 में 'ब्रह्म समाज' नामक एक संगठन की स्थापना की। एक ईश्वर को मानने तथा मूर्तिपूजा का विरोध करने वाले इसके सदस्य बन सकते थे। उनके कार्य को देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा केशवचंद्र सेन ने आगे बढ़ाया। केशवचंद्र के प्रयत्नों से इसका भारत के अनेक भागों में प्रचार हुआ। राजा राममोहन राय के सामाजिक विचार तथा सुधार इस प्रकार हैं :

- राजाराम मोहन राय सती प्रथा के घोर विरोधी थे। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप लॉर्ड विलियम बैंटिक ने इस प्रथा को 1829 में गैर कानूनी घोषित किया।
- तत्कालीन समाज में बहुपत्नी विवाह प्रथा प्रचलित थी, जिसे कुलीन प्रथा के नाम से भी जाना जाता था। राजाराम मोहन राय ने उस पर कड़ा प्रहार करते हुए उसका तीव्र विरोध किया। उन्होंने शास्त्रों के माध्यम से यह सिद्ध कर दिया कि यह अधार्मिक और अव्यावहारिक है।
- राजाराम मोहन राय अंग्रेजी शिक्षा के पक्षधर थे। उन्हीं के प्रयत्नों से ब्रिटिश सरकार ने अंग्रेजी को औपचारिक रूप से प्रशासन की भाषा घोषित किया।
- वे सभी धर्मों को समान मानते थे। उनका मानना था कि सभी धर्मों का मौलिक दर्शन एक है उसमें कोई भेदभाव नहीं है।
- राजाराम मोहन राय ने जिस समाज की कल्पना की थी, उस समाज में अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, जातिभेद तथा छुआछूत आदि का कोई स्थान न था।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर

26 सितंबर, 1820 को बंगाल के मिदनापुर जिले के वीर सिंह नामक ग्राम में एक गरीब ब्राह्मण परिवार में जन्में विद्यासागर ने संस्कृत का अध्ययन कर फोर्ट विलियम कालेज में शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा प्राप्ति के बाद वे संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य बने तथा बाद में उन्होंने विद्यालय निरीक्षक के पद पर कार्य किया। उनके द्वारा किए गए कार्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

- उन्होंने एशियाटिक सोसाइटी के लिये माधवाचार्य रचित "सर्वदर्शन संग्रह" तथा रघुवंशम एवं "किरातार्जुनीयम" का संपादन किया। संस्कृत भाषा में उन्होंने "व्याकरण कौमुदी", "शकुंतला" तथा "उपक्रमणिका" की रचना की।
- उन्होंने स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में महान योगदान दिया। जे.डी. बैथून ने बंगाल में स्त्री शिक्षा की नींव डाली थी जिसको आगे बढ़ाने का कार्य ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने किया।
- उन्होंने विधवा विवाह का प्रचार तथा समर्थन किया। उनके प्रयत्नों से जुलाई 1856 में हिन्दुओं में पुनर्विवाह ने कानूनी रूप धारण कर लिया।
- उन्होंने बहु विवाह के विरूद्ध आंदोलन छेड़ दिया। उन्होंने बहुविवाह के विरूद्ध दो पुस्तकें भी लिखीं जिसमें शास्त्रीय आधार पर यह सिद्ध किया गया कि बहु विवाह हिन्दू धर्म के विरूद्ध है।

प्रार्थना समाज

सन् 1867 में केशवचंद्र ने बंबई में प्रार्थना समाज की स्थापना ब्रह्म समाज की प्रेरणा से की। इसके सदस्यों में प्रमुख आर. जी. भंडारकर तथा महादेव गोविंद रानाडे थे। प्रार्थना समाज ने धार्मिक उलझनों में पड़ने के स्थान पर

समाज सुधार पर अधिक जोर दिया। उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह तथा खान-पान, विधवा विवाह, स्त्री उद्धार, अछूतोद्धार आदि क्षेत्रों में सुधार कार्य किया। रानाडे ने सन 1861 में 'विधवा विवाह संघ' की स्थापना की। दक्षिण शिक्षा समिति के कार्यों को उन्होंने आगे बढ़ाया। वे हिन्दु रूढ़िवादियों से टक्कर नहीं लेना चाहते थे, अपतु शिक्षा तथा समझाने बुझाने पर बल देते थे। समाज सुधार में उनके चार प्रमुख उद्देश्य थे-

1. जाति-पाति का विरोध
2. पुरूषों तथा स्त्रियों की विवाह की आयु में वृद्धि
3. विधवा पुनर्विवाह
4. स्त्री शिक्षा।

स्वामी दयानंद तथा आर्य समाज

स्वामी दयानंद

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती (1824-1883) का जन्म काठियावाड़ के टंकारागांव में हुआ था। उनका बचपन का नाम मूलशंकर था। वह संस्कृत के विद्वान तथा एक संन्यासी थे। उन्होंने अप्रैल 1875 में आर्य समाज की स्थापना बम्बई में की। बाद में इसका मुख्यालय लाहौर स्थानांतरित कर दिया गया। जहां राजा राममोहन राय ने पुनर्जागरण के लिये पश्चिम की ओर देखा था, वही स्वामी दयानंद ने भारत के गौरवपूर्ण अतीत से प्रेरणा प्राप्त की। वह वैदिक काल के शुद्ध हिन्दू धर्म को पुन: स्थापित करना चाहते थे, इसीलिये उनका नारा था "वेदों की ओर लौट चलो"। उन्होंने वेदों के अतिरिक्त किसी अन्य धार्मिक ग्रंथ को मान्यता नहीं दी। पुराणों पर आधारित धर्म पर उनका विश्वास नहीं था, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि स्वार्थी लोगों ने अपने व्यक्तिगत लाभों तथा स्वार्थों के कारण धर्म का रूप बिगाड़ दिया है। दयानंद के इस आंदोलन को पंजाब में सबसे अधिक सफलता मिली। उन्होंने "शुद्धि" आंदोलन चलाया जिसका उद्देश्य गैर हिन्दुओं को हिन्दू बनाना था। इस आंदोलन के कारण आर्य समाज का रूप अर्ध सैनिक तथा आक्रामक हो गया। पुनरुत्थान का पक्ष लेने के बावजूद स्वामी जी ने रूढ़िवादिता का समर्थन नहीं किया। उन्होंने जाति व्यवस्था तथा बाल विवाह प्रथा का विरोध किया। उन्होंने स्त्री शिक्षा तथा विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिया। उनकी शिक्षाओं तथा विचारों ने लोगों में राष्ट्रीयता की भावना को कूटकूट कर भर दिया। आर्य समाज ने शिक्षा के क्षेत्र में अमूल्य कार्य किये।

आर्य समाज और उसका लक्ष्य : आर्य समाज आंदोलन भारत में बढ़ते पाश्चात्य प्रभावों की प्रतिक्रिया के रूप में सामने आया, जिसके संस्थापक दयानंद सरस्वती थे, जिन्होंने इसने वेदों की महत्ता को पहचानने तथा हिंदू धर्म की प्रतिष्ठा को बनाये रखने का आह्वान किया। आर्य समाज ने 20 वीं सदी के धार्मिक सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आर्य समाज का उद्देश्य वेदों की सर्वोच्चता पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धांत में विश्वास

की भावना आदि को प्रतिस्थापित करना था। साथ ही इसके माध्यम से हिंदू धर्म एवं समाज में फैली कुरीतियों को दूर करने का भी प्रयास किया गया। इसने बहुदेववाद, मूर्ति पूजा, धार्मिक कर्मकांड तथा पुरोहितीय आधिपत्य को समाप्त करने का उद्देश्य रखा, साथ ही जाति प्रथा, अज्ञानता, बाल विवाह, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा आदि की भी आलोचना की और विदेश यात्रा, विधवा विवाह, नारी शिक्षा आदि को अपना समर्थन दिया इसका एक प्रमुख उद्देश्य शुद्धिकरण और धर्म परिवर्तन द्वारा अन्य व्यक्तियों को हिंदू समाज में पुनः शामिल करना भी था। यह हिन्दू धर्म का सुधारवादी आंदोलन था, जिसका मुख्य उददेश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप से पुनः स्थापना करना था।

आर्यसमाज के 10 प्रमुख सिद्धांत हैं:-

1. वेद ही ज्ञान के श्रोत हैं अतः वेदों का अध्ययन आवश्यक है।
2. वेदों के आधार पर मंत्र-पाठ करना।
3. मूर्ति पूजा का खंडन।
4. तीर्थयात्रा और अवतार वाद का विरोध।
5. कर्म पुनर्जन्म एवं आत्मा के बारम्बार जन्म लेने पर विश्वास।
6. एक ईश्वर में विश्वास जो निरंकारी है।
7. स्त्रियों की शिक्षा को प्रोत्साहन।
8. बाल विवाह और बहुविवाह का विरोध।
9. कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवा विवाह का समर्थन।
10. हिन्दी एवं संस्कृत भाषा के प्रसार को प्रोत्साहन।

रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण परमहंस (1834-1886) कलकत्ता के निवासी थे। उन्होंने विभिन्न धर्मों के सिद्धांतों का अध्ययन करके यह समझ लिया था कि सभी धर्मों का सार एक है। उनके विचारानुसार सभी धर्मों के उद्देश्य समान हैं तथा सभी एक ईश्वर की प्रार्थना भिन्न-भिन्न नामों से करते हैं। उनके एक शिष्य स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) ने अपने गुरू के आदर्शों तथा विचारों को क्रियान्वित करने के लिए 1897 में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। विवेकानंद का व्यक्तित्व आकर्षक था जो उनके प्रवचन को एक बार सुन लेता था वह उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता था। वह पाश्चात्य प्रगति को भारत की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि से जोड़ देना चाहते थे। विवेकानंद भारत के अतीत में गौरव का अनुभव करते थे, किन्तु उनका दृष्टिकोण आधुनिक था। उन्होंने महात्मा गांधी के पूर्व ही लोगों को निर्भीकता का पाठ पढ़ाया। उन्होंने अस्पृश्यता का विरोध तथा लोक उद्धार के लिये उत्साह प्रकट किया। उनकी प्रेरणा से रामकृष्ण मिशन ने समाज सेवा की एक वृहत् योजना बनाई। इस मिशन ने स्कूल, कालेज, अस्पताल

खुलवाये। बाढ़ तथा अकाल के समय इस संस्था ने प्रभावित लोगों की सेवा की। विवेकानंद की प्रबल इच्छा थी कि हिन्दू धर्म की महानता के पुनरूत्थान तथा मातृभूमि की महानता को स्थापित करने के लिये सुधारकों को विदेशों में जाना चाहिए तथा हिन्दू दर्शन तथा आध्यात्मिकता से संसार को जीत लेना चाहिये। उन्होंने निर्भीक होकर घोषित किया कि वेदांत को ही पूर्ण मानवता का धर्म बनाया जाना चाहिये। उनके प्रवचनों से तरूण भारत में आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ तथा उन्होंने पिछड़े हुए तथा निराश समुदाय के लिये टॉनिक का काम किया। सन् 1894 में शिकागो में हुए सर्वधर्म सम्मेलन में विवेकानंद ने सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी सदस्यों को प्रभावित किया तथा उन्हें सोचने के लिये बाध्य किया कि भारत में ईसाई पादरी भेजना एक बड़ी मूर्खता है।

थियोसोफिकल सभा

भारत में थियासॉफी आंदोलन रूसी महिला ब्लावाट्स्की तथा अमेरिकी कर्नल आलकॉट द्वारा प्रारंभ किया गया। आर्य समाज के निमंत्रण पर इन्होंने मद्रास के निकट अड्यार में अपना मुख्यालय स्थापित किया। इस संगठन की स्थापना अमेरिका में की गई थी। वास्तव में यह आंदोलन यूरोपीय वस्त्रों में हिन्दू धर्म का पुनरूत्थान था। सन् 1893 में एनी बेसेंट भारत आकर इसकी सदस्य बन गई। उन्होनें हिन्दू पुनरूत्थान के आंदोलन को अत्याधिक प्रोत्साहन दिया। उनका विचार था कि भारत के प्राचीन धार्मिक आदर्शों के माध्यम से ही पुनरूत्थान संभव है। इस हेतु बनारस में एक केन्द्रीय हिन्दू विद्यालय की स्थापना की जो आगे चलकर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। इस सभा के प्रभाव से दक्षिणी भारत में अनेक सुधार हुए। थियोसोफिकल सभा ने रूढ़िवादी परंपरा के अनुसार हिन्दू धर्म की व्याख्या की और प्राचीन भावना 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम' को साकार बनाने का प्रयत्न किया।

मुस्लिम धर्म-सुधार तथा सामाजिक आंदोलन

उत्तर भारत में अंग्रेजों की सत्ता स्थापित हो जाने के कारण मुस्लिम समाज के गौरव तथा आत्म सम्मान को गहरी चोट पहुंची। प्रशासन से वे पृथक हो गये। उनको अंग्रेजी शासन तथा पाश्चात्य सभ्यता से घृणा थी। वे अंग्रेजों को संदेह की दृष्टि से देखते थे। 1857 के विद्रोह के दमन के बाद उनकी स्थिति और शोचनीय हो गई। इधर मौलवियों ने अंग्रेजी शिक्षा को धर्म विरोधी घोषित करके उनको पाश्चात्य शिक्षा से वंचित कर दिया, जिसके कारण न केवल वे पिछड़ गये तथा बल्कि बेरोजगार भी हो गये। बेरोजगार होने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति भी बिगड़ गई। कालांतर में ये अपना सामाजिक स्तर बनाये रखने में असफल रहे और भारतीय समाज के अन्य वर्गों से पिछड़ गये। मुसलमानों में नवजागरण हिन्दुओं की अपेक्षा धीरे-धीरे आया, क्योंकि मुसलमान हमेशा यह समझते रहे कि वे भारत के शासक वर्ग से संबंधित हैं। वे खासकर अंग्रेजों के खिलाफ थे, जिन्होंने राजनीतिक सत्ता उनसे छीन ली थी।

1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने जो मुसलमान विरोधी नीति अपनाई, उससे मुसलमानों में अंग्रेज विरोधी भावनाएं पनपीं। इस कारण मुसलमान भारत में अंग्रेजों द्वारा लाई गई नई संस्कृति और शिक्षा के सम्पर्क से बचते रहे

और पुरातनपंथी इस्लाम से जुड़े रहे। 19वीं शताब्दी में मुसलमानों का एक वर्ग पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित हुआ, जिसने मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा के प्रसार को बढ़ावा दिया।

वहाबी आंदोलन

भारतीय मुसलमानों में सर्वप्रथम पाश्चात्य प्रभावों के विरूद्ध प्रतिक्रिया वहाबी आंदोलन के माध्यम से व्यक्त हुई। शाह वली उल्लाह अठारहवीं सदी में भारतीय मुसलमानों में प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने भारतीयों में हुई गिरावट पर चिन्ता प्रकट की थी। उन्होंने मुसलमानों के रीति-रिवाजों तथा मान्यताओं में आई कुरीतियों की ओर ध्यान दिलाया। उनके विचार के दो मुख्य पहलू थे - प्रथम, उन्होंने इस बात पर बल दिया कि इस्लाम धर्म के चार प्रमुख न्यायशास्त्रों में सामंजस्य स्थापित होना चाहिए जिसके कारण भारतीय मुसलमान आपस में विभाजित हैं। दूसरा, यह कि उन्होंने धर्म में वैयक्तिक अंतश्चेतना पर बल दिया। अंतश्चेतना से उनका तात्पर्य, व्यक्ति की अपनी विवेचना से था। वल्ली उल्लाह के विचारों को लोकप्रिय बनाने में सैयद अहमद बरेलवी की महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। उन्होंने इसे राजनीतिक रंग देने का प्रयत्न किया। प्रारंभ में यह आंदोलन पंजाब में सिक्ख सरकार के विरूद्ध था। परंतु 1849 में पंजाब के ब्रिटिश साम्राज्य में विलय के उपरांत इसका रूख अंग्रेजों के विरूद्ध हो गया।

देवबन्द आन्दोलन

मुसलमान उलेमाओं ने, जो प्राचीन मुस्लिम विद्या के अग्रणी थे, देवबन्द आन्दोलन चलाया। यह एक पुनर्जागरण आन्दोलन था, जिसके दो मुख्य उद्देश्य थे-

- मुसलमानों में कुरान तथा हदीस की शुद्ध शिक्षा का प्रसार करना और
- विदेशी शासकों के विरूद्ध 'जिहाद' की भावना को जीवित रखना ।

मुस्लिम उलेमा वर्ग ने मुहमद कासिम ननौत्वी (1832-80) तथा रशीद अहमद गंगोही (1828-1905) के नेतृत्व में देवबंद, उत्तर प्रदेश के जिला सहारनपुर में एक विद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय की स्थापना का मुख्य उद्देश्य मुस्लिम सम्प्रदाय के धार्मिक नेताओं को प्रशिक्षण देना था। विद्यालय के पाठ्यक्रम में अंग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य संस्कृति पूर्ण रूप से वर्जित थी। शिक्षा मौलिक इस्लाम धर्म में दी जाती थी और उद्देश्य यह था कि मुस्लिम संप्रदाय का नैतिक तथा धार्मिक पुनरूद्धार किया जाए। यह आंदोलन अलीगढ़ आन्दोलन के पूर्णतया विरूद्ध था, जो पाश्चात्य शिक्षा तथा अंग्रेजी सरकार की सहायता से मुसलमानों का कल्याण चाहता था। देवबन्द विद्यालय विद्यार्थियों को सरकारी सेवा अथवा सांसारिक सुख के लिए तैयार नहीं करता था, अपितु इस्लाम धर्म को फैलाने के लिए शिक्षा देता था। इसके फलस्वरूप यहां भारत के भिन्न-भिन्न भागों से तथा विदेशों से भी विद्यार्थी आने लगे। राजनीति में देवबन्द शाखा ने 1885 में स्थापित 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' का स्वागत किया। 1888 में देवबन्द के उलेमा ने सैयद अहमद खां की बनाई संयुक्त भारतीय राजभक्त सभा (United Indian Patriotic Association) तथा मुस्लिम एंग्लो-ओरिएन्टल सभा (Muslim Anglo Oriental Association) के विरूद्ध फतवा (धार्मिक आदेश) दे दिया।

अलीगढ़ आंदोलन

सर सैयद अहमद खां

1857 के महान सैनिक आंदोलन के बाद ब्रिटिश सरकार के अंदर यह धारणा बन गई कि मुसलमान लोग षड्यंत्र रचने में अग्रणी हैं। 1860 तथा 1870 के वहाबी आंदोलन ने उनकी इस धारणा की पुष्टि की। 1870 के उपरांत डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर की 'इण्डियन मुस्लिम' नाम की पुस्तक में एक सुझाव दिया गया कि मुसलमानों से समझौता करना सरकार के लिए फायदेमंद होगा।

उन्नीसवीं सदी के मुस्लिम सुधारकों में सर सैयद अहमद खां (1817-98) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सैयद अहमद खाँ भी अंग्रेजों के संरक्षणवादी रूख का समर्थन करते थे। उनका मानना था कि ब्रिटिश सरकार की संरक्षणवादी नीतियों से मुस्लिम समाज के उत्थान में सहायता मिलेगी। उन्होंने दास-प्रथा को भी इस्लाम के विरूद्ध बतलाया। उन्होंने अपने विचारों का प्रचार एक पत्रिका 'तहजीब-उल-अखलाक' (सभ्यता और नैतिकता) द्वारा किया। परन्तु उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान कुरान पर टीका था जिसमें उन्होंने परम्परागत टीकाकारों की आलोचना की और समकालीन वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में अपने मत प्रकट किए। उन्होंने 1875 में अलीगढ़ में एक मुस्लिम 'ऐंग्लो ओरिएण्टल स्कूल' आरम्भ किया, जहां मुस्लिम धर्म के साथ-साथ पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के विषय भी पढ़ाये जाते थे। शीघ्र ही अलीगढ़ मुसलमानों के धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का एक केन्द्र बन गया। आगे चलकर यही केन्द्र अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में सामने आया।

पश्चिम और दक्षिण भारत में गैर-ब्राह्मण आंदोलन

उन्नीसवीं सदी में सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष ने न केवल ब्रिटिश उपनिवेशी शासन के सैद्धान्तिक प्राधान्य के विरूद्ध बल्कि रूढ़ सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के विरूद्ध भी रूकावट पैदा की। क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर "बुद्धिजीवियों के एक समुदाय" के बनने के कारण पारंपरिक व्यवस्था की कमजोरियों के प्रति एक चेतना जागी। आधुनिक पश्चिम विचारधारा से ही इन कमजोरियों का सामना किया जा सकता था। उन्नीसवीं सदी में ऐसे कई सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन हुए जिनका उद्देश्य भारतीय सांस्कृतिक और पारंपरिक संस्थाओं में सुधार करना तथा उनको नवजीवन प्रदान करना था। स्वतंत्रता के प्रति नए विचारों, तर्क, सहनशीलता और मानव प्रतिष्ठा के समर्थन के साथ-साथ जाति प्रथा की भी आलोचना की जाती थी। जातिगत असमानता और उनके साथ जुड़े श्रेणीबद्ध समाज के विरूद्ध सामाजिक और सांस्कृतिक लड़ाईयाँ लड़ने के लिए अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्यवर्ग एक जुट हो चुका था। इस वर्ग ने विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा और बराबर के सम्पत्ति अधिकारों जैसी समस्याओं को लेकर नारी-समाज के उद्धार के लिए भी काम किया। बुद्धिवाद (Rationalism) और धार्मिक सार्वभौमवाद (Religious universalism) निश्चय ही ऐसी दो महत्वपूर्ण विचार धाराएँ थीं, जिनका उन्नीसवीं सदी के बुद्धिजीवियों ने सहारा लिया।

ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद सरकारी नौकरी और व्यवसायों में शिक्षित ब्राह्मणों ने अपना प्रभुत्व जमाना शुरू कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप गैर-ब्राह्मणों ने ब्राह्मणों के इस एकाधिकार के विरूद्ध आवाज उठाई। पश्चिम भारत (महाराष्ट्र) में ज्योतिबा फूले ने सामाजिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के वर्चस्व के विरूद्ध आवाज बुलंद किया। फूले ने ब्राह्मणवादी आडंबरों को चुनौती देते हुए शूद्रों को अपनी जाति की आश्रितता के प्रति अपने व्यवहार में मौलिक परिवर्तन लाने पर जोर दिया। उन्होंने सामाजिक और धार्मिक मूल्यों में क्रान्ति लाने के लिए एक सैद्धान्तिक आधार स्थापित किया। 1873 में ज्योतिबा ने सत्यशोधक समाज की स्थापना की जिसका उद्देश्य समाज के कमजोर वर्गों के लोगों को सामाजिक न्याय दिलाना था।

1890 में ज्योतिबा फूले का स्वर्गवास होते ही उनके द्वारा चलाए गए 'सत्यशोधक आंदोलन' का जोर कम होता गया। जुलाई 1913 में कोल्हापुर के शासक छत्रपति साहू महाराज (1874-1922) ने इस आंदोलन को फिर से शुरू किया। लेकिन तब भी इसका जोर अधिक नहीं रहा। साहू महाराज ने दलित वर्ग के छात्रों के लिए शैक्षिक संस्थान का छात्रावास शुरू करवाकर और छात्रवृत्तियाँ देकर निश्चय रूप से पश्चिम भारत में गैर ब्राह्मण आंदोलन को गति प्रदान किया। 1913 और 1922 के बीच गैर-ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति के सम्मेलन से वे सक्रिय रूप से जुड़े रहे।

साहू महाराज का यह गैर-ब्राह्मण आंदोलन उन उच्च जाति के गैर-ब्राह्मण व्यापारियों और जमींदारों (सामंतों) के हाथों में चला गया, जिन्होंने इसका प्रयोग अपने राजनैतिक लाभों के लिए किया। अपने तथा अपने समुदाय को वर्णाश्रम धर्म में क्षत्रिय का दर्जा दिलाने के लिए साहू महाराज ने लम्बी लड़ाई लड़ी। यह फूले की विचारधारा के साथ विश्वासघात के सिवाय और कुछ नहीं था। और इस लड़ाई में निम्न जाति को उनकी सामाजिक अवनति और गरीबी के हवाले छोड़ दिया गया।

फिर भी, आंदोलन में निहित कमजोरियों के कारण कोल्हापुर के साहू ने धीरे-धीरे मूल उद्देश्य की दिशा बदल दी। फूले ने लोगों के भौतिक हालात और उनकी संस्कृति के बीच की आवश्यकता कड़ी को नहीं देखा। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति फूले के समर्थन ने किसानों के औपनिवेशिक शोषण पर पर्दा डाल दिया। जाति असमानता को पैदा करने वाली पुरानी सामंती सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को बनाए रखने की शासकों की रूचि का भी फूले ने समर्थन किया।

1918 के बाद मद्रास में जस्टिस पार्टी के साथ मांन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों का सहारा लेकर साहू महाराज ने आंदोलन का प्रयोग पिछड़ी जातियों को परिषदों में विशेष राजनैतिक प्रतिनिधित्व दिलवाने के लिए किया। इस प्रकार सत्यशोधक आंदोलन अपने मुख्य उद्देश्य से हटकर उच्च जाति के गैर-ब्राह्मण जमींदारों के लाभ के आंदोलन में बदल गया।

बीसवीं सदी में दक्षिण भारत में गैर-ब्राह्मण आंदोलन

तमिलनाडु में गैर ब्राह्मणवादी आंदोलन

1887 और 1904 के बीच तमिलनाडु में जो ग्रंथ प्रकाशित हुए वे तमिल क्लासिक कृतियों जैसे पत्तुप्पाट्टु, मणिमेखलाई, सिलप्पादिकारम् पर आधारित थे। तमिल विद्वानों ने इनके आधार पर एक ऐसी क्लासिकी द्रविड़ सभ्यता

का चित्र प्रस्तुत किया जो आर्य और उनकी संस्कृति से बिल्कुल भिन्न था। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि सबसे पहले यूरोपीय विद्वान काल्डवैल ने तमिल संस्कृति के स्वतंत्र अस्तित्व की धारणा को विकसित किया था और बाद में तमिल विद्वानों ने इसका विस्तार किया। तमिल विद्वानों ने यह बताने की भी कोशिश की थी कि आर्यों ने शैव सिद्धान्त दर्शन जैसी द्रविड़ धार्मिक पद्धति को तोड़-मरोड़ दिया था। आर्यों ने ही वेदों की शिक्षा और पद्धति को दक्षिण भारत के लोगों पर थोपा था। इस धारणा ने ही तमिलनाडु में ब्राह्मणवाद विरोधी आंदोलन के सूत्रपात की आधारशिला रखी।

जस्टिस पार्टी अथवा न्याय दल आंदोलन

1916 में मद्रास में ब्राह्मणबाद के विरूद्ध हुई प्रतिक्रिया ने राजनैतिक रूप ले लिया और परिणामस्वरूप दक्षिण भारतीय उदारतावादी संघ का गठन हुआ। कालांतर में इसे 'जस्टिस पार्टी' के नाम से जाना गया। इस पार्टी का दावा था कि इसमें मद्रास प्रेसीडेन्सी के मुसलमानों, ईसाइयों और अछूतों सहित सभी गैर-ब्राह्मण के हितों का प्रतिनिधित्व था। टी. एम. नायर, पी. त्यागराज चेट्टी और सी. एन. मदालियार इस संगठन के संस्थापक थे। शिक्षा, लोक नियुक्तियों और स्थानीय बोर्डों में नामजदगी में छूट देने की माँगों को प्रान्तीय विधान परिषद् में आरक्षित सीटों की मूल माँग के साथ शामिल करके जस्टिस पार्टी के नेताओं ने उन्हें धीरे-धीरे व्यापकता दी।

1920 में जस्टिस पार्टी के भीतर ही विरोध पैदा हो गया जो स्वाभाविक था। कुछ लोगों ने महसूस किया कि पार्टी को गैर ब्राह्मण समाज और संस्कृति के सुधार और उसके पुनर्जीवन के लिए काम करना चाहिए और अपने आपको नौकरियों और पदों की खोज तक सीमित नहीं रखना चाहिए। सांस्कृतिक सुधार के माध्यम से सामाजिक उत्थान की ललक सामंती और व्यापारिक नेतृत्व के संकीर्ण सामाजिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य द्वारा पूरी नहीं हो सकी। दूसरी ओर, 1920-22 के बाद राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ते हुए स्वरूप ने अधिकांश गैर ब्राह्मण कृषक समूहों को अपनी ओर खींचना शुरू कर दिया। विशेषकर 1927-28 के बाद व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन जस्टिस पार्टी के ऊपर छा गया। ऐसे समय में पार्टी का मोह भंग हो जाने की वजह से ई.वी.आर. नायकर जैसे गैर ब्राह्मण बुद्धिजीवी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को छोड़ दिया और उन्होंने आत्म-सम्मान नाम से एक लोकप्रिय आंदोलन चलाया। इस आंदोलन ने मद्रास में गैर ब्राह्मण आंदोलन को एक नया मोड़ और जीवन दिया।

आत्मसम्मान आंदोलन

1920 के दशक में रामास्वामी नायकर (1879-1973) ने तमिलनाडु में आत्मसम्मान आंदोलन शुरू किया। ये जस्टिस पार्टी के सक्रिय सदस्य थे। किंतु जस्टिस पार्टी में आंतरिक विरोध होने पर आत्मसम्मान आंदोलन का सूत्रपात किया। नायकर सामाजिक समानता के लिए एक धर्मयोद्धा थे और उन्होंने अस्पृश्यता जैसे अन्याय के विरूद्ध अभियान छेड़ा। नायकर ने हिन्दू धर्म की आलोचना की और कहा कि यह ब्राह्मणों के नियंत्रणों का एक साधन है। उन्होंने धर्म को अंधविश्वास माना और हिन्दी भाषा को द्रविड़ों पर थोपने का विरोध किया। उन्होंने कहा कि "कुछ ऐसे तत्व होते

हैं जिनका सुधार नहीं हो सकता, उनका केवल अन्त ही करना होता है। ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म एक ऐसा ही तत्व है।" नायकर के अनुयायियों ने ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत को तोड़ा तथा देवी-देवताओं की मूर्तियों को अपमानित करते हुए उनका मजाक उड़ाया। नायकर पेरियार (महान आत्मा) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसे नायकर या पेरियार आंदोलन के नाम से भी जाना जाता है। नायकर के अनुयायी तथा मित्र श्री सी.एन. अन्नादुरै (1909-1969) ने द्रविण आंदोलन को नये मुकाम तक पहुंचाया।

आन्ध्र प्रदेश में आत्म-सम्मान आंदोलन

आन्ध्र में गैर ब्राह्मणों ने 'ब्राह्मणेत्तर उदयम' शुरू किया जिसका अभिप्राय आंदोलन था। यह आंदोलन मूल रूप से कम्मा, रेड्डी, बलीजा और वेलमा जैसे गैर-ब्राह्मण समूहों के सांस्कृतिक और सामाजिक उत्थान के लिए किया गया था। पर्याप्त जमींदारी और आर्थिक प्रभुत्व वाले इन कृषक समूहों में आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा का पारंपरिक आनुष्ठानिक हैसियत की कमी थी, जिसकी वजह से वे समाज में ऊँची सामाजिक हैसियत का दावा नहीं कर सकते थे। निस्संदेह उन्होंने आनुष्ठानिक हैसियत और सरकारी नौकरियों पर ब्राह्मणों के एकाधिकार पर प्रहार किया।

उनके आंदोलन का मूल कारण इस बात में निहित था कि उनका आर्थिक स्तर उच्च होने के बावजूद वे सामाजिक और सांस्कृतिक लाभों से वंचित थे। आन्ध्र के गैर-ब्राह्मण जमींदार और निम्न धनी वर्ग सामाजिक भेदभाव के शिकार हुए, क्योंकि ब्राह्मणों ने उन्हें शूद्र वर्ग के साथ मिला दिया था।

कुछ विशिष्ट घटनाओं ने आंदोलन के लिए प्रेरणा का काम किया। यह कहा जाता था कि ब्राह्मण शिक्षकों ने कम्मा जाति के विद्यार्थियों को वेदों का अध्ययन करने के अधिकार से वंचित कर दिया था। कृष्णा जिले के कोत्तवरम गाँव में ब्राह्मणों ने कम्मा जाति द्वारा अपने नाम के बाद "दास" के स्थान पर "चौधरी" का प्रयोग करने का विरोध किया। कृष्णा जिले के ब्राह्मणों ने एक पंजीकृत नोटिस दायर किया कि कम्मा जाति को संस्कृत पढ़ने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। अमृतालूर में ब्राह्मणों ने कम्मा जाति के विद्यार्थियों को भगा दिया था, क्योंकि वे शूद्रों की उपस्थिति से भड़क उठे थे और वे सोचते थे कि शूद्रों को वेदों को सुनने का कोई अधिकार नहीं है। यही वह सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण था जिसने आन्ध्र में आत्म-सम्मान आंदोलन को मजबूत बनाया, विशेषकर उस घटना ने जो 1916 में कोल्लूर में घटी थी।

1916 में गुन्टूर जिले के कोल्लूर गाँव में 'शूद्र' शब्द का अर्थ निश्चित करने के लिए अंग्रेजी पढ़े हुए उच्च जाति के हिन्दू गैर ब्राह्मणों ने एक अधिवेशन बुलाया। वे इस हद तक आगे बढ़ गये कि राम, कृष्ण और दूसरे धर्मग्रन्थों के नायकों के प्रतीकों पर संदेह करने लगे। "शूद्र" वर्ग की परिभाषा करने की प्रक्रिया में उन्हें सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मणों से ऊँचे वर्ग का माना और महाकाव्यों की फिर से व्याख्या की। इस व्याख्या में इस बात पर प्रकाश डाला गया कि आर्यों की तुलना में द्रविड़ों ने सामाजिक और आनुष्ठानिक अन्याय को अधिक सहन किया था। त्रिपुरानेनी जैसे नेताओं द्वारा विकसित विचार धारा लगभग फूले और पेरियार द्वारा प्रस्तुत की गई मौलिक विचारधारा के समान

थी। त्रिपुरानेनी ने पवित्र ग्रंथों की प्रामाणिकता को चुनौती दी। उन्होंने तर्क किया कि विदेशियों की तरह आर्यों ने इस देश की द्रविड़ जाति पर अपनी सामाजिक सांस्कृतिक और धार्मिक व्यवस्था थोप दी। जाति पद्धति आर्यों की देन थी जिसे धर्म ने बनाए रखा था। गैर ब्राह्मण नेताओं ने इस तथ्य को भी उजागर किया कि अल्पसंख्यक होते हुए भी ब्राह्मणों ने पश्चिमी शिक्षा, नौकरियों और व्यवसायों पर एकाधिकार कर रखा था। उन्होंने "सेवाओं के गैर ब्राह्मणीकरण" की माँग की।

विख्यात विद्वान त्रिपुरानेनी ने अपना सारा जीवन तटीय आंध्र में आत्म-सम्मान आंदोलन के प्रचार में लगाया था। उनका प्रहार "ब्राह्मणवाद" पर था न कि ब्राह्मणों पर था। उन्होंने पवित्र ग्रंथों और धर्मग्रंथों की व्याख्या यह दिखाने के लिए की थी कि प्रसिद्ध धर्मशास्त्रों के माधयम से किस प्रकार शूद्रों को ब्राह्मणों के अधीन रखा गया।

त्रिपुरानेनी ने अपने साहित्य के माध्यम से लोगों की जागरूकता को बदलने का प्रयास किया कि स्त्रियों और शूद्रों को "शास्त्र की दासता" से मुक्ति दिलाकर उनके उद्धार के पक्षपाती थे। वे उस समय के पुरोहित प्रधान भारत को एक उदारवादी मुक्ति समाज में बदलना चाहते थे। उनके द्वारा स्थापित पारंपरिक विवाह पद्धति ही उनकी सबसे अधिक सफल सुधार था। कम्मा जाति ने स्वसनाहा पौराहित्यक करना शुरू कर दिया था अर्थात् विवाह सम्बन्धी अनुष्ठान उनके समुदाय के पुरोहित ही करवाने लगे थे। त्रिपुरानेनी ने अपनी पुस्तक विवाह विधि में विवाह संस्कारों को तेलुगू भाषा में व्याख्या की है क्योंकि अधिकांश संस्कृत मंत्र शूद्रों की समझ के बाहर थे।

1920 और 1930 के दशकों में किए गए आत्म-सम्मान आंदोलन ने अंतर्जातीय भोज (गैर-ब्राह्मण में), अंतर्जातीय विधवा विवाह और आधुनिक शिक्षा का विकास करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

ब्राह्मणों के सामाजिक और आनुष्ठानिक प्रभुत्व को तोड़ने के इस प्रयास से जातीय राजनीति और गैर-ब्राह्मण राजनैतिक जागरूकता पैदा हुई। सामान्य स्तर पर गैर-ब्राह्मण बुद्धिजीवियों तथा कृषक वर्ग के बड़े भाग ने राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन किया। उदाहरण के लिए, त्रिपुरानेनी एक प्रतिष्ठित राष्ट्रवादी थे।

संक्षेप में, ब्राह्मणों के सामाजिक और आध्यात्मिक प्रभुत्व के विरूद्ध गैर-ब्राह्मण बुद्धिजीवियों की सांस्कृतिक प्रतिक्रिया स्वरूप ही आन्ध्र में आत्म-सम्मान आन्दोलन हुआ था। बुद्धिजीवी नेताओं ने पवित्र ग्रंथों की पुनर्व्याख्या करने पर बल दिया। फिर भी उसमें एक दोष यह था कि आंदोलन केवल उच्च जाति के गैर-ब्राह्मण की समस्याओं से संबंधित था और नीचे के तबके के हरिजनों को नज़रअंदाज़ कर दिया गया था। इसका उद्देश्य गैर-ब्राह्मणों को ऊपर रख कर जाति व्यवस्था का फिर से निर्माण करना था।

केरल में एझवा आंदोलन

तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश की तरह केरल में भी निम्न जातियों के उत्थान तथा चुतरवर्णीय ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरूद्ध एक व्यापक आंदोलन हुआ। इस आंदोलन का नेतृत्व नारायण गुरू ने किया, जो एझवा नामक एक अस्पृश्य

जाति के थे। उन्होंने एस.एन.डी.पी.वाई. (श्री ना रायण धर्म परिपालन योगम) नामक एक संगठन की स्थापना की। इस संगठन के दो मुख्य उद्देश्य थे- पहला, नीची जातियों के प्रति अस्पृश्यता की प्रथा को समाप्त करना और दूसरा, ब्राह्मणवादी कर्मकांडीय व्यवस्था में सुधार कर उन्हें सरल बनाना। अर्थात् विवाह संस्कार, धार्मिक पूजा तथा अन्त्येष्ठि आदि के कर्मकाण्डों को नीची जातियों के लिए सुलभ बनाना। इसके अतिरिक्त ऐसे मंदिरों का निर्माण जो अस्पृश्यों सहित सभी वर्णों के लिए खुले हों। नारायण गुरू ने गाँधी जी के चतुरवर्णीय व्यवस्था में विश्वास रखने के लिए उनकी आलोचना की। उनका मानना था कि चतुरवर्णीय व्यवस्था ही जाति-पाँति तथा अस्पृश्यता को जन्म देने तथा बनाए रखने के लिए उत्तरदायी है। उन्होंने "मानव के लिए एक धर्म, एक जाति और एक ईश्वर" का नया नारा दिया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि एक विशेष प्रकार के वृक्ष के पत्तों का रस, सार रूप में एक ही होगा।

19वीं व 20वीं सदी के अन्य महत्वपूर्ण सुधारवादी आंदोलन

- **शुद्धि आंदोलन (Shuddhi Movement) :** यह आर्य समाज द्वारा चलाया गया प्रतिक्रियावादी आंदोलन था, जिसका उद्देश्य हिन्दुओं का अन्य धर्म में परिवर्तन रोकना तथा अन्य धर्मों को स्वीकार किये हुए हिन्दुओं को वापस हिन्दू धर्म में समाहित करना था। इस प्रकार के प्रतिक्रियावादी आंदोलन ने कालान्तर में सामाजिक कटुता एवं वैमनस्य को जन्म दिया एवं इससे साम्प्रदायिक आधार पर धर्मों का समूहन प्रारम्भ होने लगा।
- **नामधारी आंदोलन (Namdhari Movement) :** समाज सुधार तथा जाति प्रथा के विरूद्ध सिक्खों के नामधारी आंदोलन की स्थापना 1857 ईस्वी में बाबा राम सिंह एवं उनके शिष्य बालक सिंह ने की थी। नामधारियों ने महिलाओं को समानता का दर्जा देने के साथ-साथ विधवा पुनर्विवाह, दहेज प्रथा की समाप्ति, बाल विवाह निषेध एवं अस्पृश्यता निवारण आदि पर जोर दिया। इन्होंने ब्रिटिश शासन का विरोध किया तथा धार्मिक विश्वास के रूप में ब्रिटिश राज की सेवा और न्यायालयों का बहिष्कार किया।
- **ताना भगत आंदोलन (Tana Bhagat Movement) :** प्रथम महायुद्ध के उपरान्त ब्रिटिश प्रशासन एवं शासन के विरूद्ध छोटा नागपुर के मुण्डा एवं ओरॉव आदिवासियों में ताना भगत आन्दोलन हुआ। आदिवासी भगतो के नेतृत्व वाला यह आन्दोलन एक प्रकार से सांस्कृतिक आंदोलन था। इस आंदोलन के अनेक नेता यथा-जारा, देवमनिया भगत (स्त्री) आदि हुए। इन आंदोलन ने आदिवासी समाज में आंतरिक सुधारों के साथ-साथ विदेशियों को निष्कासित करने वाले शक्तिशाली आंदोलन का स्वरूप धारण कर लिया था।
- **मन्दिर-प्रवेश आंदोलन (Temple - Entry Movement) :** दक्षिण भारत के मन्दिरों में दलित एवं निम्न जातियों को मन्दिर प्रवेश की अनुमति नहीं थी। इसी भेदभाव एवं अस्पृश्यता के विरोध में केरल में 1924 ईस्वी में 'वायकोम सत्याग्रह' चलाया गया। इसके नेता नारायण गुरू एन. कुमारन, टी.के. माधवन आदि थे । 1924 के बाद गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों के तहत आंदोलन चला। 1931 ई. में के. केलप्पण के नेतृत्व में केरल प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने गुरूवायूर सत्याग्रह चलाया।

- **सत्यशोधक समाज (Satya Sodhak Samaj) :** उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में महाराष्ट्र में ब्राह्मणों एवं पुरोहितों की सर्वश्रेष्ठता के विरूद्ध ज्योतिबा फुले ने 1873 ई. में सत्यशोधक समाज की स्थापना की थी। फुले ने 'गुलामगिरी' नामक पुस्तक के माध्यम से वंचक ब्राह्मणों एवं उनके अवसरवादी शास्त्रों से निम्न जाति की रक्षा के निमित्त अपने विचारों का प्रसार किया। इस आंदोलन ने मराठा किसानों के जाति समूहों में अपनी जड़े जमा ली थी।

- **फराजिया आन्दोलन (Faraziya Movement) :** इस्लाम धर्म के सुधारवादी स्वरूप वाले फराजिया आंदोलन की स्थापना पूर्वी बंगाल (वर्तमान बांग्लादेश) में हाजी शरियतउल्ला ने की थी। इस आंदोलन का प्रचार इनके पुत्र दादू मियां ने किया। इनका संघर्ष ब्रिटिश शासन के साथ-साथ स्थानीय हिन्दू जमीदारों से भी हुआ। दादू मियां ने घोषित किया कि "समस्त भूमि अल्लाह की देन है।"

- **रहनुमाई माजदायासन सभा (Rahnumy Mazdyasan Sabha) :** पारसी लोगों में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के लिये 19वीं सदी के प्रारम्भ में नौरोजी फरदोन जी, दादाभाई नौरोजी, एम. एस. बंगाली तथा अन्य लोगों ने मिलकर रहनुमाई माज्दायसन सभा (धार्मिक सुधार संघ) की स्थापना की। इस संस्था ने धर्म के क्षेत्र में हावी रूढ़िवाद का विरोध किया तथा स्त्रियों की सामाजिक एवं शैक्षिक प्रगति के लिये कार्य किया। इसका उद्देश्य पारसी समाज का पुनर्रूद्धार तथा पारसी धर्म की प्राचीन सभ्यता को पुनः स्थापित करना था। इस सभा के संदेशों को प्रचार के लिये एक पत्रिका 'रास्त गोफ्तार' प्रारंभ की गई।

- **कूका आंदोलन (Kuka Movement) :** यह सिक्खों के धार्मिक आंदोलन के रूप में प्रारम्भ होकर राजनीतिक आंदोलन में परिवर्तित हो गया। पश्चिमी पंजाब (वर्तमान पाकिस्तान) में इसका प्रारम्भ 1840ई. में भगत जवाहर मल ने किया। इसका उद्देश्य सिख धर्म में प्रचलित बुराइयों और अन्धविश्वासों को दूर करके धर्म को शुद्ध करना था। इन्होंने अन्तर्जातीय विवाह, नशीली वस्तुओं के परित्याग तथा महिलाओं में पर्दा प्रथा आदि का विरोध किया। कालांतर में इसका स्वरूप राजनीतिक हो गया। हाल ही में भारत सरकार ने कूका आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन का दर्जा दिया है।

- **एस.एन.डी.पी.वाई. (S.N.D.P.Y.) :** निम्न जातियों (एझवाजाति) के आंदोलन के रूप में श्री नारायण गुरू ने 1902-30 ई. में 'श्री नारायण धर्म परिपालन योगम' नामक संस्था स्थापित की, जिसने मंदिरों में प्रवेश अधिकार को लेकर आंदोलन चलाया। 1920 ई. में इसके एक अन्य प्रमुख नेता टी.के. माधवन हुए, जिन्होंने गांधीवादी तौर तरीकों से आंदोलन को नेतृत्व प्रदान किया।

- **धर्म सभा (Dharma Sabha) :** हिन्दू धर्म के रूढ़िवादी विचारों वाली इस संस्था की स्थापना 1830 ई. राधाकान्त देव ने की थी। इन्होंने सती प्रथा के उन्मूलन का विरोध करते हुए सभी प्रगतिशील सुधारकों के विरूद्ध संघर्ष किया। यद्यपि बालिकाओं में पश्चिमी शिक्षा को प्रोत्साहन देने में सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया।

- **अहमदिया आंदोलन (Ahmadiya Movement) :** समस्त मानव जाति के सर्वव्यापक धर्म सिद्धान्तों पर आधारित अहमदिया आंदोलन की स्थापना 1889 ई. में मिर्जा गुलाम अहमद ने किया था। यह आंदोलन इस्लाम धर्म के

जाति के थे। उन्होंने एस.एन.डी.पी.वाई. (श्री ना रायण धर्म परिपालन योगम) नामक एक संगठन की स्थापना की। इस संगठन के दो मुख्य उद्देश्य थे- पहला, नीची जातियों के प्रति अस्पृश्यता की प्रथा को समाप्त करना और दूसरा, ब्राह्मणवादी कर्मकांडीय व्यवस्था में सुधार कर उन्हें सरल बनाना। अर्थात् विवाह संस्कार, धार्मिक पूजा तथा अन्त्येष्ठि आदि के कर्मकाण्डों को नीची जातियों के लिए सुलभ बनाना। इसके अतिरिक्त ऐसे मंदिरों का निर्माण जो अस्पृश्यों सहित सभी वर्णों के लिए खुले हों। नारायण गुरू ने गाँधी जी के चतुरवर्णीय व्यवस्था में विश्वास रखने के लिए उनकी आलोचना की। उनका मानना था कि चतुरवर्णीय व्यवस्था ही जाति-पाँति तथा अस्पृश्यता को जन्म देने तथा बनाए रखने के लिए उत्तरदायी है। उन्होंने "मानव के लिए एक धर्म, एक जाति और एक ईश्वर" का नया नारा दिया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि एक विशेष प्रकार के वृक्ष के पत्तों का रस, सार रूप में एक ही होगा।

19वीं व 20वीं सदी के अन्य महत्वपूर्ण सुधारवादी आंदोलन

- **शुद्धि आंदोलन (Shuddhi Movement) :** यह आर्य समाज द्वारा चलाया गया प्रतिक्रियावादी आंदोलन था, जिसका उद्देश्य हिन्दुओं का अन्य धर्म में परिवर्तन रोकना तथा अन्य धर्मों को स्वीकार किये हुए हिन्दुओं को वापस हिन्दू धर्म में समाहित करना था। इस प्रकार के प्रतिक्रियावादी आंदोलन ने कालान्तर में सामाजिक कटुता एवं वैमनस्य को जन्म दिया एवं इससे साम्प्रदायिक आधार पर धर्मों का समूहन प्रारम्भ होने लगा।
- **नामधारी आंदोलन (Namdhari Movement) :** समाज सुधार तथा जाति प्रथा के विरूद्ध सिक्खों के नामधारी आंदोलन की स्थापना 1857 ईस्वी में बाबा राम सिंह एवं उनके शिष्य बालक सिंह ने की थी। नामधारियों ने महिलाओं को समानता का दर्जा देने के साथ-साथ विधवा पुनर्विवाह, दहेज प्रथा की समाप्ति, बाल विवाह निषेध एवं अस्पृश्यता निवारण आदि पर जोर दिया। इन्होंने ब्रिटिश शासन का विरोध किया तथा धार्मिक विश्वास के रूप में ब्रिटिश राज की सेवा और न्यायालयों का बहिष्कार किया।
- **ताना भगत आंदोलन (Tana Bhagat Movement) :** प्रथम महायुद्ध के उपरान्त ब्रिटिश प्रशासन एवं शासन के विरूद्ध छोटा नागपुर के मुण्डा एवं ओरॉव आदिवासियों में ताना भगत आन्दोलन हुआ। आदिवासी भगतो के नेतृत्व वाला यह आन्दोलन एक प्रकार से सांस्कृतिक आंदोलन था। इस आंदोलन के अनेक नेता यथा-जारा, देवमेनिया भगत (स्त्री) आदि हुए। इन आंदोलन ने आदिवासी समाज में आंतरिक सुधारों के साथ-साथ विदेशियों को निष्कासित करने वाले शक्तिशाली आंदोलन का स्वरूप धारण कर लिया था।
- **मन्दिर-प्रवेश आंदोलन (Temple - Entry Movement) :** दक्षिण भारत के मन्दिरों में दलित एवं निम्न जातियों को मन्दिर प्रवेश की अनुमति नहीं थी। इसी भेदभाव एवं अस्पृश्यता के विरोध में केरल में 1924 ईस्वी में 'वायकोम सत्याग्रह' चलाया गया। इसके नेता नारायण गुरू एन. कुमारन, टी.के. माधवन आदि थे । 1924 के बाद गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों के तहत आंदोलन चला। 1931 ई. में के. केलप्पण के नेतृत्व में केरल प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने गुरूवायूर सत्याग्रह चलाया।

- **मोहम्डन एजुकेशनल कान्फरेन्स (Mohammadan Educational Conference) :** मुसलमानों में पाश्चात्य आधुनिक शिक्षा का प्रसार कराने के उद्देश्य से सर सैय्यद अहमद खां ने 1886 ईस्वी में अलीगढ़ में इस संस्था की स्थापना की थी। सैयद अहमद खाँ मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा के समर्थक थे। ये मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा का प्रसार कर उनका समाजिक और आर्थिक स्तर हिन्दुओं के समकक्ष लाना चाहते थे।
- **वहाबी आन्दोलन (Wahabi Movement) :** मुसलमानों की पाश्चात्य प्रभावों के विरूद्ध सर्वप्रथम जो प्रतिक्रिया हुई, उसे वहाबी आंदोलन अथवा वलीउल्लाह आंदोलन के नाम से जाना जाता है। वास्तव में यह पुनर्जागरण आंदोलन था। शाह वलीउल्लाह (1702–62) अठारहवीं शताब्दी में भारतीय मुसलमानों के प्रथम नेता थे, जिन्होंने भारतीय मुसलमानों में पाश्चात्य प्रभावों के कारण आई गिरावट पर चिन्ता प्रकट की थी। उन्होंने भारतीय मुसलमानों की रीति-रिवाजों तथा मान्यताओं में आई कुरीतियों की ओर ध्यान दिलाया। यह आंदोलन 1870 तक चलता रहा जबकि इसे सैनिक बल द्वारा समाप्त न कर दिया गया।
- **यंग बंगाल आंदोलन (Young Bangal Movement) :** उसके प्रणेता थे हेनरी विवियन डेराजियों जो 1826–31 तक हिन्दू कालेज के प्राध्यापक थे। उन्होंने अपने विद्यार्थियों को मुक्त ढ़ंग से सोचने सभी आधारों की प्रामाणिकता की जॉच करने, मुक्ति समानता एवं स्वतंत्रता से प्रेम करने तथा सत्य की पूजा करने के लिए प्रेरित किया। इसके अनुयायियों ने सभी जर्जर प्राचीन परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों का विरोध किया। इन्होंने विधवाओं की दशा सुधारने के लिए सार्थक प्रयास किया। ये आधुनिक पाश्चात्य विचारों से प्रभावित थे।

❖❖❖❖❖

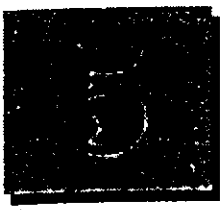

भारत में राष्ट्रवाद का उदय एवं कांग्रेस की स्थापना

अंग्रेजों के भारत आगमन के साथ ही भारत के राष्ट्र बनने की प्रक्रिया शुरू हो गई थी, क्योंकि भारत को एक राजनीतिक इकाई के रूप में विकसित करना ब्रिटिश साम्राज्य की अनिवार्य आवश्यकता थी। इसके बावजूद उपनिवेशवादी ब्रिटिश प्रशासक अक्सर कहा करते थे कि भारत 'एक नहीं हो सकता' क्योंकि यह एक राष्ट्र नहीं है, बल्कि यह महज एक भौगोलिक शब्दावली है। यह सही है कि भारत एक राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया में बहुत पहले से ही अग्रसर था, लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसके लिए आधार ब्रिटिश शासन ने ही तैयार किया था। वास्तव में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीतियों की चुनौतियों के प्रत्युत्तर में ही भारतीयों ने एक राष्ट्र के रूप में सोचना प्रारंभ किया था। ब्रिटिश शासन ने भारत में आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में जो परिवर्तन उपस्थित किये, उसने भारतीयों पर समान रूप से प्रभाव डाला। भारतीय भू-भाग के प्रत्येक हिस्से में किसी न किसी रूप में ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष व्याप्त था। इस असंतोष ने जब व्यापक रूप धारण कर लिया तो भारतीयों में एक राष्ट्र के रूप में सोचने की भावना का विकास हुआ। दूसरी ओर सामाजिक सुधार और बौद्धिक जागरण ने भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना का संचार किया जिससे भारतीय अपने को एक राष्ट्र के रूप में मानने लगे। वस्तुतः ब्रिटिश शासन के दो स्वरूपों प्रगतिवादी (राजनीतिक एकता की स्थापना, अंग्रेजी शिक्षा एवं संचार साधनों का विकास) तथा प्रतिक्रियावादी (अंग्रेजी साम्राज्यवाद, नस्लीय भेदभाव, आर्थिक शोषण) ने भारत में राष्ट्रवाद के उदय और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

भारत में राष्ट्रवाद के उदय के विभिन्न कारक

पाश्चात्य विचारों का प्रभाव : भारत में राष्ट्रवाद का उदय पाश्चात्य शिक्षा के परिणामस्वरूप हुआ। अंग्रेजों ने इस देश में पाश्चात्य शैली की शिक्षा प्रणाली प्रचलित की तथा अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया। शिक्षा की इस प्रणाली के कारण शिक्षित भारतीयों ने अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम, फ्रांसीसी क्रांति तथा राष्ट्रवाद के आधार पर निर्मित यूरोप के अनेक राज्यों के विषय में जाना तथा उससे प्रभावित हुए। उनमें राष्ट्रवाद तथा स्वाधीनता के प्रति प्रेम जागा। सन् 1857 के बाद शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी तेजी से प्रगति हुई थी। इसका प्रमुख केंद्र बंगाल था। अंग्रेजी साहित्य तथा इतिहास का

अध्ययन करने के बाद वे राष्ट्रवाद तथा जनतंत्र में विश्वास करने लगे थे तथा उनमें उदारवाद के प्रचारक अंग्रेजों के प्रति ये आशायें बंधी कि वे शनैःशनैः भारत को जनतंत्र के मार्ग पर ले आयेंगे।

अंग्रेजों के अधीन राजनीतिक तथा प्रशासनिक एकता : अंग्रेजों ने संपूर्ण भारत को जीतकर एक प्रशासकीय सूत्र में बांध दिया था। रेल, तार, डाक आदि से संचार साधनों का विकास हुआ। इन साधनों के विकसित हो जाने के कारण यात्राएं कम समय में की जाने लगी तथा यात्रा करना सुगम हो गया। इन यात्राओं से विभिन्न प्रदेशों के शिक्षित निवासियों को अपने विचार व्यक्त करने तथा दूसरों के विचारों को समझने के लिये एक सामान्य माध्यम प्राप्त हो गया।

मध्यवर्ग का उदय : 1857 की क्रांति में भाग लेने वाले किसान, दस्तकार, सैनिक, जमींदार, सामंत तथा राजा और नवाब स्वाधीनता प्रेमी तो थे, किन्तु उनके हित तथा दृष्टिकोण स्थानीय थे। अंग्रेजी प्रशासन स्थापित हो जाने के बाद एक नये वर्ग का उदय हुआ जो 'मध्य वर्ग' कहलाता था। इसमें अधिकांश पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त युवक थे। यह मध्यम वर्ग आधुनिक भारत की नवीन आत्मा बन गया तथा इसी ने समस्त भारत में राष्ट्रवादी विचारों का संचार कर दिया। इस वर्ग ने ही अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को इसके विकास के सभी चरणों में नेतृत्व प्रदान किया। सरकारी नौकर, डाक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, इनमें पत्रकार, वकील, नये व्यापारी, ठेकेदार आदि शामिल थे। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कुछ उद्योगपतियों की भी इनमें गणना की जाने लगी थी। दादा भाई नौरोजी, डी.ई. वाचा, सर कावसजी जहांगीर जैसे उद्योगपत्तियों ने देश तथा विदेशों में राष्ट्रीय आंदोलन का प्रसार किया तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में योगदान दिया।

प्राचीन भारतीय साहित्य में रूचि : सन् 1857 की क्रांति के कुछ समय पूर्व तथा बाद में बंगाल के शिक्षित वर्ग ने अपनी सभ्यता तथा परम्पराओं को हीन मानकर पाश्चात्य शैली को अपना लिया। यह प्रवृत्ति शनैःशनैः समाप्त हो गई क्योंकि इसी बीच भारत के पुरातन साहित्य तथा इतिहास के अनेक ग्रंथों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कर लिया गया जिसके फलस्वरूप शिक्षित भारतीयों को यह ज्ञात हो गया कि उनकी संस्कृति निम्न कोटि की न होकर अत्यधिक श्रेष्ठ है। भारत के पुरातन साहित्य के पुनरुत्थान का श्रेय अनेक यूरोपीय विद्वानों को है, जिनमें सर विलियम जोन्स का नाम उल्लेखनीय है। वह कपंनी का एक अधिकारी था। उसने "एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल" की स्थापना की जिसका उद्देश्य भारत के पुरातन साहित्य को खोजना तथा उसका विश्लेषण करना था। विलियम जोन्स संस्कृत का भी विद्वान था। उसने कालीदास की "अभिज्ञानम् शकुंतलम" का अंग्रेजी में अनुवाद करके भारतीय तथा अन्य देशों के लोगों के ध्यान को भारतीय साहित्य की ओर आकर्षित किया। विलियम जोन्स, मैक्समूलर तथा मोनियर विलियम ने इस अनुवाद के कार्यों में अधिक रूचि ली। इस प्रकार 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इन साहित्यिक खोजों के परिणामस्वरूप पुनर्जागरण आंदोलन प्रारंभ हो गये, जिन्होंने भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

राजनीतिक असंतोष : सन् 1857 की क्रांति के बाद भारतीय निराशा की लहर में डूब चुके थे। यद्यपि साम्राज्ञी विक्टोरिया के 1858 के घोषणा में भारतीय प्रजा के साथ ब्रिटिश प्रजा की भांति व्यवहार करने का वादा किया गया था। लेकिन वास्तविकता ने आम भारतीयों के मन में आक्रोश भर दिया था।

- अंग्रेज अपनी नस्लीय श्रेष्ठता में विश्वास करने लगे थे, जिसके कारण वे भारतीयों से अत्यधिक बुरा व्यवहार करते थे।
- अनेक आश्वासनों के बाद भी भारतीयों को प्रशासन में उच्च पद प्राप्त नहीं हो पाते थे। शासकीय पदों के लिये प्रतियोगी परीक्षाएं इंग्लैंड में अंग्रेजी भाषा में होती थी, जिनमें भारतीयों का सफल होना अत्यधिक कठिन था। पुनः सन् 1877 में भारत मंत्री ने सिविल सर्विस परीक्षा के लिये अधिकतम आयु 21 से घटाकर 19 कर दी।
- ब्रिटिश शासन को भारतीयों पर विश्वास न था, इसलिये तोपखाने वाली सेना में भारतीयों की भर्ती बंद कर दी गयी।
- लार्ड लिटन ने अनेक ऐसे कार्य किये जिसके कारण भारतीय राष्ट्रवाद को बढ़ावा मिला। सन् 1879 में इंग्लैंड की सरकार के आदेश पर लार्ड लिटन ने इंग्लैंड से आने वाले सूती वस्त्र पर लगे कर को समाप्त कर दिया तथा सन् 1882 में उसने उन सब आयात करों को समाप्त कर दिया जिनसे भारतीय उद्योगों को संरक्षण मिलता था। इस समय तक अनेक भारतीयों ने सूती वस्त्र तथा जूट के उद्योग स्थापित किये जा चुके थे। इस नीति से भारतीय उद्योगपतियों में गहरा असंतोष फैला। पुनः सन् 1878 में लार्ड लिटन ने "वर्नाकुलर प्रेस अधिनियम" पारित किया जिसके द्वारा भारतीय भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं पर प्रतिबंध लगा दिये गये। इससे शिक्षित भारतीयों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। 1878 में लिटन के काल में ही "शस्त्र अधिनियम" बनाया गया, जिसके अनुसार भारतीय बिना लाइसेंस के हथियार नहीं रख सकते थे, जबकि भारत में रहने वाले यूरोपियनों को बिना लाइसेंस के हथियार रखने की अनुमति थी।

इलबर्ट बिल विवाद : अंग्रेजों के जातीय अहंकार ने उनके तथा शिक्षित भारतीयों के बीच मतभेद उत्पन्न कर दिये। यूरोपियन लोग भारतीयों पर अत्याचार करते थे किन्तु मुकदमों की सुनवाई यूरोपीय न्यायाधीशों के न्यायालयों में होती थी, जिसके कारण वे छूट जाते थे। 1883 में प्रस्तावित इलबर्ट बिल में भारतीय न्यायाधीशों को भी यूरोपीय अपराधियों के मुकदमें सुनने के अधिकार देने का प्रस्ताव था। भारत में रहने वाले सभी यूरोपीय लोगों ने इसका विरोध किया। उनके प्रदर्शनों के कारण उस बिल में संशोधन करके यूरोपीय आरोपियों की इच्छा होने पर उनके लिये ज्यूरी की व्यवस्था कर दी गई। इसके लिए उन्होंने यूरोपीय डिफेंस एशोसिएशन नामक एक संगठन भी बनाया। इस प्रकार भारतीयों ने देखा कि संगठन में बड़ी शक्ति है तथा इसके बल पर प्रशासन को झुकाया जा सकता है। इसके साथ ही उन्हें अंग्रेजों की ईमानदारी के विषय में संदेह होने लगा था।

कांग्रेस पूर्व राजनीतिक संगठन

1857 के विद्रोह के बाद कुछ शिक्षित भारतीयों ने संगठन की शक्ति का महत्व समझते हुए भारत के विभिन्न क्षेत्रों में राजनीतिक संगठनों की स्थापना करनी शुरू कर दी थी। उनमें से कई संगठन ऐसे थे, जो 1885 में कांग्रेस की स्थापना से पूर्व स्थापित किए जा चुके थे । बंगाल, बंबई और मद्रास के अलावा कुछ संगठन विदेशों में भी स्थापित किए गए। फिर भी सभी संगठनों की प्रकृति एक जैसी नहीं थी। जो राजनीतिक संगठन 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध

में स्थापित किए गए, वे मुख्यत: समाज के समृद्ध एवं प्रभावशाली वर्ग के द्वारा स्थापित किए गए और इसी वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर किए गए। किंतु 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में स्थापित राजनीतिक संगठनों का नेतृत्व मध्यवर्ग ने किया। इनमें वकील, डाक्टर, अध्यापक तथा पत्रकार आदि थे। इनकी चिंता के केंद्र में मध्य एवं निम्न मध्यवर्गीय हित थे। इन सभी संगठनों की सीमा यह थी कि ये स्थानीय एवं क्षेत्रीय स्तर पर स्थापित किये गये थे एवं इनका प्रभाव क्षेत्र भी इसी के अनुरूप था। अंतत: राष्ट्रीय स्तर की संस्था के रूप में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस कमी को पूरा किया।

बंगाल के राजनीतिक संगठन

बंगाल में राजनीतिक चेतना का जागरण देश के अन्य भागों की अपेक्षा पहले हुआ। क्योंकि बंगाल पर राजनीतिक नियंत्रण भी पहले स्थापित हुआ था। 1836 में बंगाल के पहले राजनीतिक संगठन "बंगभाषा प्रकाशक सभा" की स्थापना राजा राममोहन राय के समर्थकों द्वारा की गयी। 1838 में यहां 'जमींदारी एसोसिएशन या लैंडहोल्डर्स एसोशिएशन' की स्थापना की गयी जो जमींदारी हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। भारत में संगठित राजनीतिक प्रयासों की शुरूआत का श्रेय इसी संस्था को दिया जाता है।

बंगाली लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने एवं उनमें राष्ट्रवादी भावनाओं के प्रसार के लिए 1843 में 'बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी' स्थापित की गयी। 1851 में 'जमींदारी एसोसिएशन' एवं 'बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी' को एक साथ मिला दिया गया और 'ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन' नामक नया संगठन बनाया गया।

बंगाल के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संगठनों की स्थापना 1875-1876 में की गयी। 1875 में शिशिर कुमार बनर्जी एवं आनन्द मोहन बोस ने मिलकर 'इंडियन एसोशिएशन ऑफ कलकत्ता' की स्थापना की। यह बंगाल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था थी और इसकी शाखाएं बंगाल के कई भागों के अलावा बंगाल के बाहर भी स्थापित की गयी।

बंबई के राजनीतिक संगठन

बंबई में स्थापित राजनीतिक संगठनों में 'बम्बई एसोसिएशन' , 'पूना सार्वजनिक सभा' एवं 'बाम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' उल्लेखनीय हैं।

बाम्बे एसोसिएशन (1852) की स्थापना ब्रिटिश इंडियन एसोएिशएन के अनुकरण पर की गयी और यह भी जमींदारी हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। 'पूना सार्वजनिक सभा' अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली संगठन था, जिसे महादेव गोविन्द रानाडे ने 1887 में स्थापित किया। 1885 में 'बाम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' नामक एक अन्य महत्त्वपूर्ण संगठन बनाया गया। इसकी स्थापना में फिरोजशाह मेहता, बदरूद्दीन तैय्यबजी एवं के.टी. तैलंग जैसे प्रसिद्ध राजनेताओं ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

मद्रास के राजनीतिक संगठन

कलकत्ता की 'ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन' की एक शाखा के रूप में 'मद्रास नेटिव एसोसिएशन' की स्थापना मद्रास में की गयी। यद्यपि यह संगठन अप्रभावी रहा। 1884 में मद्रास के युवा नेताओं ने 'मद्रास महाजन सभा' की

स्थापना की। एम. वी. राघवाचारी, जी. सुब्रमण्यम अय्यर तथा वी. आनन्द चार्लू ने इसका गठन किया। कलकत्ता के 'इंडियन एसोसिएशन' तथा बम्बई की 'बाम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' की तरह यह भी मद्रास क्षेत्र की एक अहम संस्था थी।

इनके अतिरिक्त दादाभाई नौरोजी द्वारा लंदन में स्थापित 'ईस्ट इंडिया एसोसिएशन' (1866) एक अन्य महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संस्था थी। इंग्लैण्ड में भारतीय लोगों के पक्ष में जनमत तैयार करना एवं भारतीय समस्याओं से ब्रिटिश सरकार को अवगत कराना इसका मुख्य उद्देश्य था। इसकी शाखाएं भारत के कई शहरों में स्थापित की गयीं।

कांग्रेस पूर्व संगठन : मूल्यांकन/महत्त्व

कांग्रेस पूर्व स्थापित राजनीतिक संगठनों का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने पराधीन भारत में राजनीतिक प्रतिरोध की शुरूआत की और उनके विरोध का एकमात्र लोकप्रिय तरीका सशस्त्र विरोध था। इस प्रकार के विरोध की अपनी सीमाएं थीं। जनता का छोटा सा हिस्सा ही इसमें भाग लेता था। ऐसे विरोध को राष्ट्रद्रोह की संज्ञा देकर आसानी से दबाना संभव था। इसके लिए अधिक संसाधनों (बंदूक, गोला-बारूद आदि) की आवश्यकता थी। इसके विपरीत ब्रिटिश शासन के प्रतिरोध का एक दूसरा राजनैतिक तरीका अधिक सुविधाजनक एवं स्वीकार्य था। प्रतिरोध के इस तरीके में सशस्त्र विद्रोह का स्थान राजनीतिक सभाओं, ज्ञापनों तथा समाचार-पत्रों के द्वारा विरोध आदि ने ले लिया। धीरे-धीरे ये तरीके लोकप्रिय होते गये।

क्षेत्रीय स्तर पर राष्ट्रवादी भावनाओं का निर्माण

कांग्रेस पूर्व स्थापित सभी राजनीतिक संस्थाओं का प्रभाव क्षेत्र स्थानीय एवं क्षेत्रीय स्तर तक था। इसे प्रायः इन संस्थाओं की सीमा के रूप में देखा जाता है। किन्तु यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि एक बार जब देश के विभिन्न हिस्सों में इन संस्थाओं के द्वारा राजनीतिक जागृति पैदा कर दी गई तो आगे चलकर राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक जन जागरण में इस प्रक्रिया ने काफी सहायता की।

इस संदर्भ में बंगाल को अग्रणी माना जा सकता है क्योंकि बंगाल में पहली बार इस प्रकार की संस्थाओं का आविर्भाव हुआ। बंगाल में 1836 में स्थापित 'बंगभाषा प्रकाशक सभा' सरकार की नीतियों से सम्बन्धित मामलों की समीक्षा करती थी और उनके सुधार के लिए सरकार को प्रार्थना पत्र भेजती थी। इसके बाद बंगाल में 1838 में एक 'जमींदारी एसोसिएशन' की स्थापना हुई, जिसे लोग प्रायः भूमिपतियों की संस्था कहते थे। इसकी स्थापना भूमिपतियों के हितों की रक्षा के लिए की गई थी। यद्यपि इस सभा के उद्देश्य सीमित थे, परंतु यह पहली सभा थी जिसने संगठित राजनीतिक चेष्टा का श्री गणेश किया और अपनी शिकायतों के निवारण के लिए संवैधानिक उपचारों का प्रयोग किया। 1843 में एक अन्य राजनीतिक संस्था 'बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य अंग्रेजों के अधीन भारत के लोगों की वास्तविक अवस्था के विषय में जानकारी प्राप्त करना और उसका विस्तार करना था। कालान्तर में लैण्ड होल्डर्स सोसाइटी और बंगाल ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी ने मिलकर 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएसन'

का निर्माण किया। इसकी स्थापना के बाद इसके उद्देश्य व्यापक हो गए। इसी प्रकार बम्बई और मद्रास प्रेसिडेन्सियों में भी राजनीतिक संस्थाएं स्थापित हुईं जिनके उद्देश्य राजनीतिक, किन्तु सीमित थे। 1852 में 'बम्बई एसोसिएशन' की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य सुधारों एवं बुराइयों को दूर करने के लिए समय-समय पर ज्ञापन देना था। 1867 में स्थापित 'पूना सार्वजनिक सभा' ने सुधारों एवं राजनीतिक गतिविधियों में प्रमुखता से भाग लिया। मद्रास नेटिव एसोसिएसन ने अंग्रेजी संसद को 1853 के चार्टर से पूर्व एक ज्ञापन भेजा था, जो बम्बई तथा कलकत्ता एसोसिएसन के नमूने पर था। वास्तव में इन सभी संस्थाओं के उद्देश्य सीमित थे। लेकिन इन सभी ने, क्षेत्रीय स्तर पर ही सही अपने कार्य एवं स्वरूप से भारतीयों में राष्ट्रवादी भावनाओं का संचार किया।

राष्ट्रीय मुद्दों पर ब्रिटिश शासन का विरोध

इन संस्थाओं ने राष्ट्रीय हित के मुद्दों की पहचान की, उसके सम्बन्ध में जनमत तैयार किया एवं उन मुद्दों के संदर्भ में ब्रिटिश नीति की आलोचना की। दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि ने भारत की दुर्दशा के लिए ब्रिटिश आर्थिक नीति को उत्तरदायी ठहराया। नौरोजी ने विभिन्न आँकड़ों की सहायता से यह स्थापित किया कि ब्रिटेन भारत का लगातार आर्थिक शोषण कर रहा है। उन्होंने 'धन निकासी के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया। रानाडे का विचार था कि स्कूल एवं कालेजों की अपेक्षा कारखानों की स्थापना से राष्ट्रीय गतिविधियों को बल मिलेगा। बनर्जी का मानना था कि यदि भारत के सभी वर्गों के आर्थिक हितों को एक सूत्र में पिरो दिया जाय तो अटूट राष्ट्रीय एकता का निर्माण किया जा सकता है। इन संगठनों ने कई मुद्दों पर आंदोलन चलाया जैसे-

- सिविल सेवा भारत एवं ब्रिटेन में एक साथ कराने एवं न्यूनतम आयु सीमा बढ़ाने के लिए।
- लार्ड लिटन की अफगान नीति के विरोध में (वहाँ भारतीय राजस्व से सैन्य अभियान भेजा गया था)।
- ब्रिटिश सूती कपड़े पर से आयात शुल्क हटाने के विरोध में (क्योंकि इससे नवस्थापित भारतीय सूती कपड़ा उद्योग का नुकसान होता)।
- आर्म्स एक्ट (1878) के विरोध में (इस अधिनियम के तहत भारतीयों को हथियार रखने के लिए लाइसेंस शुल्क देना था जबकि यूरोपीयों के लिए ऐसी बाध्यता नहीं थी)।
- वर्नाकुलर प्रेस एक्ट (1878) के विरोध में (इसके द्वारा भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों पर प्रतिबंध लगा दिया गया था)।
- इलबर्ट बिल (1883) के समर्थन में (इस बिल के पास हो जाने पर भारतीय जजों को यूरोपियनों के मामले में सुनवाई का अधिकार मिलना था)।
- भारत में प्रतिनिधि विधान सभाओं की माँग के लिए।

इस प्रकार इन राजनीतिक संस्थाओं ने विभिन्न मुद्दों पर आंदोलन चलाया जिससे जनमत निर्माण, राष्ट्रवादी भावनाओं के प्रसार, राजनीतिक शिक्षा के विस्तार आदि में सहायता मिली। संस्थाओं द्वारा निकाले गये समाचार पत्रों

के द्वारा इस प्रक्रिया को विशेष सहायता मिली। खास तौर से राजनीतिक शिक्षा के प्रसार में समाचार-पत्रों ने अहम योगदान किया।

राष्ट्रीय संस्था की पृष्ठभूमि का निर्माण

क्षेत्रीय संगठनों के द्वारा किये गये राजनीतिक प्रयासों को थोड़ी-बहुत मात्रा में सफलता भी मिली। रिपन ने अफगान युद्ध को समाप्त कर दिया, वर्नाकुलर प्रेस एक्ट को निरस्त किया और स्थानीय स्वशासी संस्थाओं को बढ़ावा दिया। किन्तु ये सफलतायें अत्यन्त सीमित थीं। क्षेत्रीय स्तर पर प्रभावशाली होते हुए भी ये राजनीतिक संगठन कोई महत्त्वपूर्ण बदलाव लाने में असफल रहे। इस विरोधाभास ने इस बात को बल प्रदान किया कि राष्ट्रीय स्तर की किसी राजनीतिक संस्था की स्थापना अपरिहार्य है। इंडियन एसोसिएशन द्वारा इस दिशा में पहली बार प्रयास किया गया। 1883 में उसके द्वारा एक "अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन" आयोजित किया गया जिसमें देशभर के 10000 लोगों ने भाग लिया। अन्ततः 1885 में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना के साथ ही इन संगठनों की भूमिका को चरम उपलब्धि प्राप्त हुई।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

एक ब्रिटिश सिविल सर्वेन्ट ए. ओ. ह्यूम के नेतृत्व में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना 1885 में की गई। कांग्रेस की स्थापना के सम्बन्ध में दो प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं। पहले दृष्टिकोण के अनुसार कांग्रेस की स्थापना 'सुरक्षा वाल्व' के रूप में की गई। जबकि दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार इसकी स्थापना राष्ट्रवादी भावनाओं की राष्ट्रीय स्तर पर अभिव्यक्ति के लिए की गई और ह्यूम की भूमिका एक प्रकार से 'तड़ित चालक' जैसी थी।

'सेफ्टी वाल्व' की अवधारणा

इस अवधारणा की स्थापना के पीछे ह्यूम के जीवनी लेखक वेडरबर्न, कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष डब्ल्यू. सी. बनर्जी, लाला लाजपत राय, रजनी पाम दत्त, एम. एस. गोलवलकर जैसे लोगों का योगदान है। अवधारणा यह है कि लार्ड लिटन के काल का भारत क्रान्तिकारी विस्फोट की स्थिति के करीब पहुँच चुका था। लिटन की प्रतिक्रियावादी नीतियाँ और पुलिस का दमनात्मक स्वरूप इस विस्फोटक स्थिति के लिए उत्तरदायी थे। भारतीय असंतोष इस समय ऐसी स्थिति में पहुँच चुका था कि इस बात की प्रबल संभावना थी कि अमेरिका एवं इटली की भाँति स्वतन्त्रता के लिए यहाँ भी सशस्त्र संघर्ष शुरू हो सकता था। 1857 के संघर्ष की यादें अभी भी ताजा थीं। ऐसे में भारतीय असंतोष को एक दूसरे ही रूप में अभिव्यक्ति देने के लिए एक राजनीतिक संगठन की कल्पना की गई। ऐसा महसूस किया गया कि भारत का शिक्षित राजनीतिक वर्ग ऐसे किसी संगठन से आसानी से जकड़ जायेगा और किसी प्रकार की जन-क्रान्ति के लिए इस वर्ग के असंतोष की वाष्प को निकालने के लिए यह संगठन 'सुरक्षा वाल्व' का काम करेगा और ब्रिटिश शासन को संकट से बचाया जा सकेगा। अतः लार्ड डफरिन की सलाह एवं उनके निर्देश पर एक अंग्रेज ह्यूम के नेतृत्व में कांग्रेस की स्थापना की गई।

इस अवधारणा के समर्थक अपने समर्थन में निम्न तर्क देते हैं:

- कांग्रेस की स्थापना एक अंग्रेज के नेतृत्व में की गई जिस पर ब्रिटिश सरकार यकीन कर सकती थी।
- कांग्रेस शुरू से ही ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठावान रही थी। यद्यपि धीरे-धीरे यह राष्ट्रवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम अवश्य बन गई, किन्तु तब भी यह समय-समय पर ब्रिटिश शासन को जन-असंतोष से बचाती रही। जैसे असहयोग आंदोलन को इसके चरम स्थिति में स्थगित करना और सविनय अवज्ञा आंदोलन की माँगों को ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकार न किये जाने पर भी गाँधी-इरविन समझौता करना आदि-आदि।
- कांग्रेस ने अपने पूरे जीवन में 'दोहरे चरित्र' को दर्शाया। एक तरफ तो यह साम्राज्यवाद के खिलाफ जनांदोलनों की वाहक बनी, किन्तु दूसरी तरफ जनता ने जब भी क्रान्ति के रास्ते पर बढ़ना चाहा तो उसका प्रतिरोध भी किया। यह अधिक तेजी से संघर्ष के रास्ते पर इसलिए नहीं बढ़ती थी कि इससे जहाँ साम्राज्यवाद खत्म होगा वहीं बुर्जुआ वर्ग को मिलने वाली सुविधाएं भी खत्म हो जाएंगी। इस प्रकार कांग्रेस वास्तविक क्रान्ति (हिंसक विरोध) के विरूद्ध ब्रिटिश शासन के एक हथियार के रूप में काम करती रही और इसकी चरम परिणति माउंटबेटन समझौते (1947) में दिखायी देती है जब उसने देश के विभाजन को स्वीकार कर लिया।
- सेफ्टी वाल्व की अवधारणा को लोकप्रिय बनाने में ह्यूम के जीवनी लेखक वेडरबर्न तथा डब्ल्यू. सी. बनर्जी का विशेष योगदान है। वेडरबर्न ने लिखा है कि ह्यूम को विश्वसनीय स्रोतों से यह ज्ञात हुआ था कि निचले तबके के लोगों में व्यापक असंतोष है। वे भूख से मर रहे हैं और इसलिए वे ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए क्रान्ति के इच्छुक हैं।

इसी प्रकार 1898 में बनर्जी ने कहा कि कांग्रेस का गठन और आज तक की उसकी कार्यशैली वास्तव में डफरिन की ही देन है। डफरिन ने ही ह्यूम को कांग्रेस की स्थापना के लिए प्रेरित किया।

राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता संबंधी अवधारणा

- कांग्रेस की स्थापना से संबंधित दूसरी अवधारणा यह है कि कांग्रेस की स्थापना राष्ट्रवादी भावनाओं की राष्ट्रीय स्तर पर अभिव्यक्ति के लिए की गई थी। कांग्रेस के पूर्ववत संगठनों ने क्षेत्रीय स्तर पर राष्ट्रीयता के विकास में अहम् भूमिका निभायी थी और अब एक राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी।
- 1870 के बाद से देश में शिक्षा के प्रसार के साथ ही राजनीतिक जागरूकता में भी वृद्धि हुई थी। बंगाल बंबई और मद्रास के अलावा ब्रिटेन में भी राजनीतिक संगठनों का निर्माण किया गया। इण्डियन लीग, इंडियन एसोसिएशन, बाम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन, पूना सार्वजनिक सभा, मद्रास महाजन सभा के अलावा लंदन में स्थापित 'ईस्ट इंडियन एसोसिएशन' के द्वारा राष्ट्रीय हित से जुड़े मुद्दों पर ब्रिटिश शासन का बार-बार विरोध किया गया। दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, शिशिर कुमार घोष, आनंद मोहन बोस, एम.जी. रानाडे, फिरोजशाह मेहता, बदरूद्दीन तैय्यब जी, एम.वी. राघवाचारी, सुब्रमण्यम अय्यर तथा पी. आनंद चार्लू जैसे राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों ने अपने-अपने क्षेत्रों में राजनीतिक जन-जागरण के लिए प्रयास किया।

- 1870 से 1885 के बीच क्षेत्रीय संगठनों ने भारत के आर्थिक शोषण, सिविल सेवा में आयु घटाये जाने, ब्रिटिश सूती वस्त्र पर आयात कर हटाने, सेना खर्च में वृद्धि करने, आर्म्स एक्ट, वर्नाकुलर प्रेस एक्ट आदि मुद्दों पर ब्रिटिश शासन का जमकर विरोध किया।
- क्षेत्रीय संगठनों की सीमित सफलता ने उनके नेताओं को यह सोचने के लिए बाध्य किया कि बिना किसी अखिल भारतीय संगठन की स्थापना किये ब्रिटिश शासन का प्रभावी विरोध संभव नही है। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने सबसे पहले प्रयास आरंभ किया। उन्होंने 1883 में कलकत्ता में एक अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित किया। यद्यपि यह सम्मेलन सफल नहीं हुआ तब भी देशभर के विभिन्न भागों से आये 10000 से ज्यादा लोगों ने इसमें भाग लिया। इसी प्रकार दूसरा सम्मेलन उन्होंने दिसम्बर 1885 में भी आयोजित करने की घोषणा की।
- 1885 में कांग्रेस की स्थापना वस्तुत: ऐसे ही प्रयासों का परिणाम थी। ह्यूम के नेतृत्व में संस्था की स्थापना के पीछे राष्ट्रवादी भारतीयों की एक निश्चित योजना थी। विचार यह था कि संस्था का संस्थापक एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज अधिकारी के होने से संस्था को ब्रिटिश शासन के कोप से बचाया जा सकेगा। अर्थात् ह्यूम की उपस्थिति कांग्रेस के लिए एक 'तड़ित चालक' का काम करेगी।

कांग्रेस का स्वरूप

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के स्वरूप के संदर्भ में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए जाते हैं। एक ओर इसे राष्ट्रीय संगठन माना जाता है तो दूसरी ओर उस पर साम्प्रदायिक होने का भी आरोप लगता है। भारतीय प्रबुद्ध जनों ने इसे जनता का संगठन कहा है, परंतु कुछ अंग्रेज प्रशासकों जैसे लिटन ने इसे 'भारत के अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों के संगठन के रूप में' बताया है। एक अन्य ब्रिटिश प्रशासक लॉर्ड डफरिन जिसने कांग्रेस की स्थापना का स्वागत किया था, 1887 में कहा था कि यह जनता के 'सूक्ष्म अल्पमत' का प्रतिनिधित्व करती है। वेलेन्टाइन शिरोल ने कांग्रेस को 'हिन्दु-नेताओं की प्रवक्ता' कहा था। दूसरी ओर गांधी जी ने कांग्रेस के स्वरूप पर चर्चा करते हुए कहा था, 'इस संस्था का विचार एक अंग्रेज अधिकारी ए.ओ. ह्यूम के दिमाग में आया, जिन्हें हम कांग्रेस का जन्मदाता समझते हैं। इसका पालन-पोषण दो महान पारसियों-फिरोजशाह मेहता व दादा भाई नौरोजी द्वारा हुआ। अपने जन्म से ही कांग्रेस मुसलमानों, ईसाईयों व ऐंग्लो-इण्डियनों और अन्य सभी सम्प्रदायों, मतों व धर्मों का प्रतिनिधित्व करती रही है।"

यह सही है कि प्रारंभ में कांग्रेस भारत के अंग्रेजी पढ़े लिखे कुछ लोगों की सभा थी अथवा पहले बीस वर्षों में केवल शिक्षित वर्ग ही इससे सम्बन्धित थे। परंतु धीरे-धीरे इसके स्वरूप का विस्तार होता गया, जिसमें पूँजीपति, पत्रकार, डाक्टर, वकील आदि के अतिरिक्त किसान और मजदूर भी शामिल हो गए। अंतत: गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस जनसाधारण की संस्था बन गई।

कांग्रेस के स्वरूप की एक उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि यह कभी भी क्रांतिकारी संस्था नहीं रही है। अपने जन्म के समय से ही इसका संवैधानिक साधनों में पूर्ण विश्वास था। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कांग्रेस ने

सहयोग, प्रार्थना, शिष्टमंडल, आवेदन, अहिंसा आदि साधनों को अपनाया। यद्यपि बाद के कुछ कांग्रेसी नेता उग्रवादी तथा क्रांतिकारी नीतियों का समर्थन करने लगे थे, तथापि कांग्रेस में उदारवादियों की पकड़ सदैव कायम रही। वस्तुत: कांग्रेस ने अपने उद्देश्य प्राप्ति में उदारवादी साधनों को ही अपनाया।

कांग्रेस के उद्देश्य

अपने जन्म से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक के इतिहास में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का स्वरूप सामान्यत: एक जैसा रहा है, परंतु इसके उद्देश्यों में समय की मांग और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहा जैसे प्रारंभ में कांग्रेस द्वारा साधारण सुधारों की मांग की गई जो समय बीतने पर पूर्ण स्वतंत्रता की मांग में परिवर्तित हो गयी।

1885 में बम्बई में हुए कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष डब्ल्यू. सी. बनर्जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कांग्रेस के निम्न चार उद्देश्य बताए थे-

- देश के विभिन्न भागों में देश के हित व उन्नति में कार्यकर्ताओं में पारस्परिक सम्पर्क व भाई-चारा का विकास करना।
- सभी देश भक्तों के बीच प्रत्यक्ष मित्रतापूर्ण मेल मिलाप के द्वारा जातीय, धार्मिक, व प्रांतीय विद्वेशों को मिटाना और राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को प्रबल बनाना।
- वर्तमान की महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं पर शिक्षित वर्ग के विचारों का प्रामाणिक रिकार्ड रखना।
- उस कार्यक्रम एवं कार्यप्रणाली को निर्धारित करना जिनके अनुसार आगामी वर्षों में सार्वजनिक हितों के लिए देश के राजनीतिज्ञ परिश्रम करें।

❖❖❖❖❖

नरमपंथ-गरमपंथ आंदोलन
(1885-1913)

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन दो भिन्न प्रवृत्तियों से प्रेरित था, जिन्हें गरमपंथ और नरमपंथ के नाम से जाना जाता है। प्रारंभिक वर्षों में राष्ट्रीय आंदोलन पर नरमदल के नेताओं का प्रभाव था, जिन्हें 'उदारवादी' कहा जाता था। इनमें वकील, डाक्टर, पत्रकार, इंजीनियर और साहित्य के क्षेत्र से संबंधित व्यक्ति सम्मिलित थे। इन लोगों के आंदोलन का तरीका संवैधानिक था। ये आवेदन, प्रार्थना, शिष्टमंडल द्वारा अपनी मांग रखते थे। नरम दल के नेता अंग्रेजी साम्राज्य के बने रहने, अपितु उसके सुदृढ़ करने के पक्ष में थे। उन्हें डर था कि भारत से अंग्रेजों के जाने के बाद अव्यवस्था फैल जाएगी। दूसरी प्रवृत्ति से प्रेरित अथवा गरमदल कहे जाने वाले वे राष्ट्रवादी थे, जिनका उदय 19वीं शताब्दी के अंतिम अथवा 20वीं शताब्दी के आंरभिक वर्षों में हुआ। यह दल पुराने नेताओं के आदर्श तथा ढंगों का कड़ा आलोचक था। ये कांग्रेस के कुछ तरूण लोग थे, जो चाहते थे कि कांग्रेस का ध्येय स्वराज्य होना चाहिए। यह दल कांग्रेस के आरंभिक पन्द्रह-बीस वर्षों की उपलब्धियों से संतुष्ट नहीं था। इनका अंग्रेजों की न्यायप्रियता तथा बराबरी की भावना पर कोई विश्वास नहीं रह गया था। ये शांतिपूर्ण संवैधानिक तरीकों को भिक्षावृत्ति कहते थे। इनका मानना था कि याचना, प्रार्थना तथा प्रतिवाद करने की नीति से कुछ हासिल नहीं होने वाला। गरमपंथी विचारधारा अथवा प्रवृत्ति से प्रेरित प्रमुख नेताओं में बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिन चंद्र पाल थे।

नरमपंथी आन्दोलन (1885-1905)

विचारधारा

प्रारम्भिक राष्ट्रवादी नरमपंथी आन्दोलन की विचारधारा उदारवादी थी। नरमपंथी नेता प्राय: पश्चिमी शिक्षा में पले बढ़े थे। ब्रिटिश संस्थाओं में उनका पूर्ण विश्वास था। उन्हें यह भी विश्वास था कि ब्रिटेन धीरे-धीरे भारत में लोकतांत्रिक संस्थाओं के विकास में पूर्ण सहयोग देगा। वे मानते थे कि भारत के लिए अंग्रेजी शासन वरदान स्वरूप है जिसके माध्यम से भारतीय समाज में शिक्षा, लोकतंत्र, मानववाद, विज्ञानवाद आदि पश्चिमी मूल्यों का प्रसार किया जा सकता है और इस तरह भारत का आधुनिकीकरण संभव हो सकेगा।

नरमपंथी आन्दोलन के प्रमुख नेता दादाभाई नौरोजी को ब्रिटिश न्यायप्रियता में पूरा भरोसा था। वे कहते थे कि अंग्रेज वास्तव में भारत का भला चाहते हैं और यदि हम कुछ ऊँची आवाज में अपनी बात कहें तो यह निष्फल हो जायेगी। 1886 के अधिवेशन में अध्यक्ष पद से बोलते हुए उन्होंने ब्रिटिश शासन से होने वाले लाभों को विस्तार से गिनाया।

एक दूसरे प्रमुख नेता गोपालकृष्ण गोखले भारत में ब्रिटिश शासन को आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि -"अंग्रेज नौकरशाही कितनी ही बुरी क्यों न हो - परन्तु आज केवल अंग्रेज ही व्यवस्था बनाये रखने में सफल हैं और व्यवस्था के बिना कोई उन्नति संभव नहीं है। उनका विश्वास था कि यदि अंग्रेज देश छोड़कर चले जायें तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी।"

इस प्रकार नरमपंथी विचारधारा ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति राजनीतिक एवं सामाजिक रूप से सकारात्मक दृष्टिकोण रखती थी। किन्तु इसके विपरीत नरमपंथियों का ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति आर्थिक दृष्टिकोण नकारात्मक था अर्थात् उन्होंने बिना किसी संकोच के यह स्वीकार किया कि ब्रिटेन भारत का आर्थिक शोषण कर रहा है।

नरमपंथी मानते थे कि ब्रिटिश शासन के दो रूप हैं- एक वह जो ब्रिटेन का लोकतांत्रिक स्वरूप वाला शासन है और दूसरा वह जो भारत में है। दूसरे स्वरूप को वह अ-ब्रिटिश शासन (अनब्रिटिश रूल) कहते थे। यह शासन अपने साम्राज्यवादी लाभों के लिए भारत का शोषण कर रहा है। इस शोषण पर नौरोजी, जी.वी. जोशी, आर.सी. दत्त आदि ने काफी अध्ययन किया। नौरोजी ने धन के निर्गमन के सिद्धान्त को स्थापित किया जिसे आधार बनाकर आर्थिक राष्ट्रवाद की नींव डाली गई।

नरमपंथियों ने यह स्पष्ट किया कि ब्रिटिश शासन उपनिवेशवादी आर्थिक शोषण पर आधारित है। यह निरन्तर भारत से ब्रिटेन को एकपक्षीय धन प्रेषण को बढ़ा रहा है जिसके बदले भारत को कुछ नहीं मिलता। इनके अनुसार इस धन का निर्गमन व्यापार व अतिरिक्त पूँजी सृजन द्वारा किया जा रहा है। इसी के कारण भारत निरन्तर गरीब होता जा रहा है।

अ-ब्रिटिश शासन की व्याख्या करते हुए नरमपंथियों का यह भी कहना था कि ब्रिटेन में ब्रिटिश शासन जन सहभागिता, प्रेस व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा नागरिक अधिकारों की प्राप्ति पर आधारित है वहीं भारत में ब्रिटिश शासन नागरिकों को इसमें से एक भी अधिकार नहीं देता। यह उसके नस्लवादी व शोषणकारी, भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण को दिखाता है।

नरमपंथी आन्दोलन का उद्देश्य

क्रमिक सुधारों के द्वारा ब्रिटेन के अधीन स्वशासन की प्राप्ति नरमपंथी आन्दोलन का उद्देश्य था। इसके लिए उन्होंने विधान परिषदों के विस्तार, उनके अधिकाधिक भारतीय प्रतिनिधित्व, उनकी शक्तियों में वृद्धि, वाइसराय एवं गवर्नरों की कार्यकारिणी में भारतीयों के प्रतिनिधित्व की माँग की।

नरमपंथी अपने आन्दोलन के द्वारा जहाँ सत्ता व शासन में भारतीयों की भागीदारी बढ़ाना चाहते थे वही देश के शैक्षिक विकास के द्वारा राजनीतिक जागरूकता में वृद्धि करना भी उनका उद्देश्य था। साथ ही अंग्रेजी शासन के सहयोग से देश के आधुनिकीकरण का स्वप्न भी उन्होंने संजोया था।

नरमपंथियों की प्रमुख माँगें

राजनीतिक एवं प्रशासनिक माँगें

- 1858 के विक्टोरिया घोषणा-पत्र के अनुसार सभी भारतीयों को ब्रिटिश नागरिकों के समान अधिकार मिलने चाहिए तथा भारतीय शासन-प्रशासन में भारतीयों की भागीदारी को बढ़ाया जाय।
- इंग्लैण्ड में स्थापित सचिव की परिषद् को समाप्त किया जाय अथवा उसमें आवश्यक सुधार किए जाय।
- केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सचिव की परिषदों की शक्ति बढ़ायी जाय।
- न्यायपालिका एवं कार्यपालिका को एक-दूसरे से अलग किया जाय।
- कार्यपालिका एवं विधायिका में निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ायी जाय।
- सेना में भारतीयों की कमीशण्ड अफसरों के पद पर नियुक्ति की जाय।
- कानूनों का निर्माण लोगों की सहमति से किया जाय।
- स्थानीय संस्थाओं को अधिक शक्तियाँ प्रदान की जाय।
- सरकारी नौकरियों में भारतीयों के साथ पक्षपात बन्द किया जाये एवं उन्हें समान अवसर प्रदान किया जाय।
- भाषण, संगठन बनाने की स्वतंत्रता तथा प्रेस को आज़ादी प्रदान की जाय।

आर्थिक माँगें

- औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के कारण भारत के धन का बहिगर्मन हो रहा है, जिसे रोका जाय।
- सेना एवं नागरिक सेवाओं पर होने वाले खर्च को कम किया जाय।
- एशिया एवं अफ्रीका में ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति के लिए भारतीय संसाधनों के उपयोग को रोका जाय।
- कृषि के विकास जैसे-सिंचाई सुविधाओं, वैज्ञानिक तकनीक एवं पूँजी निवेश आदि को प्रोत्साहित किया जाय।
- भू-राजस्व की दर कम की जाय।
- अतिरिक्त करों (नकद कर, पानी कर आदि) को समाप्त किया जाय।
- भारतीय उद्योगों का विकास किया जाय। इसके लिए कुटीर उद्योगों को बढ़ावा दिया जाय, स्वदेशी उद्योगों को संरक्षण दिया जाय तथा विदेशी निर्मित वस्तुओं पर आयात शुल्क लगाया जाय।
- बढ़ती गरीबी एवं अकालों की जाँच की जाय।

नरमपंथी कार्यप्रणाली

नरमपंथी वैचारिक रूप से उदारवादी थे अत: उनकी रणनीति भी उदारवादी साधनों पर निर्भर थी। वे क्रान्ति, हिंसा आदि साधनों के विरोधी थे। उनका अहिंसा व सहयोग में विश्वास था। उन्होंने ब्रिटिश शासन तक अपनी बात पहुँचाने के लिए निम्न तरीके अपनायें।

अधिवेशन एवं प्रस्ताव

प्रत्येक वर्ष के अंत में कांग्रेस का तीन दिवसीय अधिवेशन होता था जिसमें विभिन्न माँगों से संबंधित प्रस्ताव पारित किये जाते थे। इनके माध्यम से शासन का ध्यान राष्ट्रीय हित के मुद्दों की ओर लाने की कोशिश की जाती थी। इनके द्वारा जनता में जागरूकता भी बढ़ती थी। इससे देशभर के प्रतिनिधियों को एक साथ एक मंच पर इकट्ठा होने का अवसर मिलता था।

प्रार्थना-पत्र

राष्ट्रीय हित से जुड़ी माँगों को प्रार्थना-पत्र के रूप में उच्चाधिकारियों के पास भेजा जाता था।

शिष्ट मंडल

कांग्रेस द्वारा शिष्टमंडलों की नियुक्ति की जाती थी और उन्हें गवर्नर के पास भेजा जाता था ताकि उसे प्रेरित कर अपनी माँगे मनवा सकें। कई शिष्ट मंडल इंग्लैण्ड भी भेजे गये।

समितियों का गठन

1889 में लंदन में एक ब्रिटिश समिति बनाई गई। 1893 में इण्डियन पार्लियामेन्टरी कमेटी का गठन किया गया। इनका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश संसद का ध्यान भारतीय समस्याओं की ओर खींचना था।

समाचार-पत्र

नेताओं ने अपनी माँगों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करने के लिए समाचार-पत्र का भी सहारा लिया। समाचार-पत्र जनता के एक बड़े हिस्से तक पहुँचते थे, अत: इनका प्रयोग राजनैतिक शिक्षा के प्रसार एवं राष्ट्रीय जनमत बनाने के लिए भी किया गया।

नरमपंथी आन्दोलन एवं ब्रिटिश राज

प्रारम्भ में (1885-87) नरमपंथी आन्दोलन के प्रति सरकार की नीति सद्भावपूर्ण थी। इस चरण में कांग्रेस पूर्णतया राजभक्ति का प्रदर्शन करती रही और ब्रिटिश राज को भारत के लिए एक वरदान मानते हुए उसके यहाँ रहने की

कामना करती थी। फलत: भारत सरकार ने भी कांग्रेस के साथ सहयोग किया। 1886 में डफरिन ने कांगेस के प्रतिनिधियों के लिए स्वागत-समारोह आयोजित किया। 1887 में मद्रास के गवर्नर ने भी इसी प्रकार का शिष्टाचार किया। सरकारी अफसरों को कांग्रेस के अधिवेशनों में जाने की छूट दी गयी।

किन्तु नरमपंथी आन्दोलन के दूसरे चरण (1888-1905) में सरकार की नीति प्रतिक्रिया पूर्ण हो गयी। इसके पीछे कुछ निश्चित कारण थे-

- चौथे अधिवेशन (1888) तक कांग्रेस के प्रतिनिधियों की संख्या में काफी वृद्धि हो चुकी थी। कांग्रेस का सामाजिक आधार धीरे-धीरे बढ़ रहा था। वार्षिक सम्मेलनों से आगे बढ़कर वह अब एक संगठित पार्टी का रूप लेने लगी थी और उसकी लोकप्रियता बढ़ रही थी।
- कांग्रेस अब केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की पार्टी नहीं रह गई थी। प्रतिनिधियों के भाषण में अब देशी भाषाओं का इस्तेमाल शुरू हो गया था।
- कांग्रेस के मंच से ब्रिटिश शासकों, वायसरायों, गवर्नर की कौंसिल के सदस्यों आदि की कटु आलोचना शुरू हो गई थी।
- सरकार के प्रयास के बावजूद हिन्दू-मुस्लिम सहयोग बढ़ रहा था। 1887 के अधिवेशन में यह तय किया गया कि यदि किसी भी समुदाय का बहुमत किसी प्रस्ताव का विरोध करता है तो उसे प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया जायेगा। 1887 में बदरूद्दीन तैय्यब जी को अध्यक्ष बनाया गया।
- 1887 के अधिवेशन में किसानों का समर्थन पाने के लिए दो परचे निकाले गये जो काफी लोकप्रिय हुए। इनका 12 प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद किया गया।
- ह्यूम ने एक परचे के द्वारा गाँवों के मनमाने प्रशासन का पर्दाफाश किया। वीर राघवचारी ने एक पुस्तिका (तमिल प्रश्नोत्तरी) के द्वारा तत्कालीन लेजिस्लेटिव काउंसिलों के ढोंग पर प्रहार किया। इस पत्रिका की तीस हजार प्रतियाँ बिकी।

इस प्रकार सरकार ने महसूस किया कि उसकी आशा के विपरीत कांग्रेस एक सशक्त राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर बढ़ रही है अत: अब उसने कांग्रेस के प्रति कटुतापूर्ण रवैया अख्तियार कर लिया।

सरकार के बदले हुए रूख की अभिव्यक्ति निम्न प्रकार से हुई-

- कांग्रेस और उसके नेताओं की सार्वजनिक रूप से निंदा की गई। कांग्रेस को 'राजद्रोह का कारखाना तथा राष्ट्रवादियों को 'देशद्रोही गद्दार', 'अहिंसक खलनायक' आदि कहा गया। कांग्रेस को महत्त्वहीन दर्शाते हुए इसे भारतीय समाज के मुठ्ठी भर लोगों की संस्था कहा गया।
- सरकारी अधिकारियों को दर्शक के रूप में भी अधिवेशनों में शामिल न होने का आदेश दिया गया।
- संयुक्त प्रान्त के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने इलाहाबाद अधिवेशन में बाधा डालने का प्रयास किया।

- कांग्रेस से समाज के विभिन्न वर्गों को अलग करने का प्रयास किया गया। सैय्यद अहमद को मोहरा बनाकर मुसलमानों को कांग्रेस से दूर करने की कोशिश की गई। अहमद ने कांग्रेस का विरोध करने के लिए 'मोहम्डन एजुकेशनल कॉन्फ्रेरेन्स' तथा 'यूनाइटेड पैट्रियाटिक एसोसिएशन' नामक दो संगठन बनाये।
- परंपरागत सामंतवादी एवं बुद्धिजीवी वर्ग को भी कांग्रेस से अलग करने का प्रयास किया गया। इसके लिए राजा शिव प्रसाद सिंह जैसे लोगों को संगठन बनाने के लिए प्रेरणा और सहयोग दिया गया। प्रतिनिधियों के बीच क्षेत्रवाद, जातिवाद आदि को भड़काने का प्रयास किया गया। बनर्जी, गोखले, नौरोजी और रानाडे के बीच भी फूट डालने की कोशिश की गई।
- राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के विकास से समाचार-पत्रों की भूमिका को समझते हुए उन पर अंकुश लगाने के लिए 1895 में समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता को कम करने वाले कानून बनाये गये।
- राष्ट्रवाद के विकास में शिक्षा को सहयोगी मानते हुए शिक्षण संस्थाओं पर नियंत्रण का प्रयास किया गया। 1903 के विश्वविद्यालय अधिनियम को इसी रूप में देखा जा सकता है।
- यदा-कदा उदारवादियों को सुधारों का लालच भी दिया गया। 1892 के अधिनियम के द्वारा केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान परिषदों की सदस्य संख्या में वृद्धि (पहले 6 से 10 और फिर बाद में 10 से बढ़ाकर 16) की गई। उद्देश्य यह था कि अधिक मुखर नेताओं को संवैधानिक राजनीति के दायरे में ले लिया जाय जहाँ वे भाषणों के द्वारा अपने असंतोष को बाहर निकालते रहे और जुझारू राष्ट्रवादी आन्दोलन की ओर उन्मुख न हो सकें।

नरमपंथी आन्दोलन की सीमायें

- नरमपंथियों में से अधिकांश पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के द्वारा शिक्षित हुए थे और उनका पाश्चात्य विचारधारा में विश्वास था। उनका ब्रिटिश संस्थाओं, न्याय प्रणाली आदि में विश्वास था। भारत को आधुनिकता के अभाव को ध्यान में रखते हुए वे ब्रिटिश शासन को (जिसके द्वारा ही अन्ततः भारत में आधुनिकता आनी थी) दैवीय उपहार समझते थे।

  इस प्रकार नरमपंथी साम्राज्यवादी ब्रिटेन के वास्तविक चरित्र को समझने में असफल रहे। उनकी यह नासमझी औपनिवेशिक अर्थतंत्र को समझ लेने के बाद भी बनी रही (उन्होंने औपनिवेशिक अर्थतंत्र को तो समझ लिया पर वे यह नहीं समझ पाये कि ब्रिटेन इसमें कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं करने वाला है। क्योंकि वैसा कराना उसके साम्राज्यवादी हितों के विरूद्ध होगा।) उनका यह विश्वास बना रहा कि देर-सबेर ब्रिटेन भारत के आर्थिक शोषण को बंद कर देगा।
- नरमपंथियों का संकुचित सामाजिक आधार उनकी दूसरी बड़ी सीमा थी। उनके विचार में चूँकि जनता अशिक्षित व अचेतन थी, अतः वह साम्राज्यवाद के विरूद्ध लड़ने में अक्षम थी। यह उनकी भारी भूल थी। उन्होंने केवल जनता के राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पिछड़ेपन को ही देखा। साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए सबसे ज़रूरी तत्त्व साहस और त्याग है जो जनता के पास ही मिलते हैं। बाद के दौर में यह सिद्ध

भी हुआ कि राष्ट्रीय आन्दोलन की सच्ची वाहक आम जनता ही है। इसके विपरीत नरमपंथी आन्दोलन का सामाजिक आधार वकील, डॉक्टर, पत्रकार, अध्यापक, व्यापारी तथा भूमिपतियों तक ही सीमित रहा। किसान एवं मजदूर वर्ग तक कांग्रेस की पहुँच ही नहीं थी। यही नहीं ह्यूम ने जब किसानों से जुड़ी माँगों को कांग्रेस के एजेण्डे में लाना चाहा तो उनका विरोध किया गया। इसके अलावा द्वारकानाथ गांगुली ने काफी खतरा उठाकर असम के चाय बागान मजदूरों की स्थिति का अध्ययन किया। परन्तु कांग्रेस ने इसे स्थानीय मुद्दा बताकर पल्ला झाड़ लिया।

- अपनी माँगों को मनवाने के लिए अपनायी गई कार्यप्रणाली नरमपंथी राजनीति की एक अन्य कमी थी। वर्ष में एक बार केवल तीन दिवसीय अधिवेशन होता। उसके बाद प्रतिनिधियों के बीच कोई सम्पर्क नहीं रहता। पार्टी के बजाय कांग्रेस का स्वरूप एक सम्मेलन जैसा था। कांग्रेस का कोई संगठनात्मक ढाँचा नहीं था और न ही उसके पास कोई रचनात्मक कार्यक्रम थे। अधिवेशनों में प्रस्ताव पास कर इति श्री कर ली जाती। संगठन और सामाजिक आधार की संकीर्णता के कारण कांग्रेस के प्रस्ताव, प्रार्थना-पत्र, शिष्टमंडल आदि प्रभावहीन सिद्ध होते। अखबारों की पहुँच शिक्षित समुदाय तक ही थी। किसी ठोस कार्यक्रम के अभाव में संपादकीय केवल राजनीतिक उपदेश भर साबित होते।
- अधिकांश राजनेताओं के लिए राजनीति एक अंशकालिक गतिविधि थी। इनमें से बहुत से लोग पेशेवर वर्गों से आते थे। वे अपने पेशे में सफल थे अत: उनके पास राजनीति के लिए समय की कमी थी। (वाचा ने नौरोजी से एक बार शिकायत की कि फिरोजशाह मेहता और तैलंग अपने-अपने व्यवसायों में व्यस्त हैं ओर उनके पास राजनीति के लिए समय नहीं है)
- अधिकांश नेताओं की जीवनशैली अंग्रेजी थी, इसलिए अंग्रेजों के प्रति उनका दृष्टिकोण दुहरा था। वे उनकी कुछ नीतियों की तो आलोचना करते थे जबकि आमतौर पर ब्रिटिश शासन को भारत के लिए अच्छा मानते थे। 1901 के अधिवेशन में एक कांग्रेसी जे. घोषाल ने गांधीजी से कहा कि वे अपनी कमीज के बटन बंद कर लें (अंग्रेजी जीवन शैली के प्रति लगाव)। मेहता रेल के विशेष डिब्बे में यात्रा करते और रानाडे अपने साथ नौकरों की फौज लेकर चलते (अभिजात्य जीवन शैली के प्रतीक) थे।

नरमपंथी आन्दोलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन

सर्वप्रथम नरमपंथी नेताओं ने ब्रिटिश वैचारिक प्रभुसत्ता को चुनौती दी जिसको आधार बनाकर वे लगातार शासन करते आ रहे थे। वैचारिक प्रभुसत्ता (पैक्स ब्रिटानिका) के सिद्धांत के अनुसार भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना भारतीय समाज की जड़हीनता, असभ्यता व अंधकार युग की समाप्ति हेतु हुई है। नरमपंथी राष्ट्रवादियों ने इस सिद्धांत को चुनौती दी और स्पष्ट किया कि ब्रिटिश समाज का वास्तविक उद्देश्य भारतीय उपनिवेश का आर्थिक दोहन करना है।

नरमपंथी नेताओं ने धन के बर्हिगमन सिद्धांत की व्याख्या करके आर्थिक राष्ट्रवाद की नींव डाली और इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की वैधानिकता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया, जिसके कारण लोगों के सम्मुख ब्रिटिश राज का वास्तविक व शोषणकारी चरित्र उजागर हुआ। आगे चलकर इसी आधार पर गांधी जी ने भारतीयों के कल्याण हेतु शासन करने का प्रचार करने वाली ब्रिटिश नैतिकता को चुनौती दी।

इसके अलावा उन्होंने भारतीयों में राजनीतिक चेतना का विकास किया। राजनीतिक शिक्षा के माध्यम से लोगों को देश की समस्याओं से अवगत कराया और लोकतांत्रिक सिद्धांतों जैसे स्वतंत्रता, समानता, प्रशासन में जनता की भागीदारी आदि का प्रचार करके जनमत का निर्माण किया। इसके कारण आगे चलकर अखिल भारतीय स्वरूप वाले राष्ट्रीय आंदोलनों का विकास हुआ और इस अखिल भारतीय आधार को नेतृत्व व संगठन देने का कार्य नरमपंथी नेताओं के द्वारा ही किया जाना था।

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था द्वारा भारतीय संसाधनों का प्रयोग अपने हितों में करने पर आपत्ति जताई तथा इसी संदर्भ में ब्रिटेन की आक्रामक विदेश नीति का विरोध किया। इसके दो परिणाम हुये। पहला भारतीय सैनिकों के बीच राष्ट्रवादी चेतना का विस्तार हुआ और भारतीय आंदोलन के प्रति अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहानुभूति प्रकट हुई। इसके अलावा राष्ट्रीय आंदोलन में उनके योगदान को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं-

- नरमपंथियों के प्रयास के कारण ही सरकार द्वारा भारतीयों की समस्याओं पर ध्यान दिया गया व उनके समाधान का प्रयास किया गया जैसे-1886 में भारत में लोक सेवा आयोग की स्थापना, 1892 का एक्ट जिसके द्वारा भारतीयों को बजट पर चर्चा का अधिकार दिया गया तथा 1893 में वेल्वी आयोग का गठन किया गया, जिसका उद्देश्य भारत में हो रहे अपव्यय के नियंत्रण पर बल देना था।
- नरमपंथी आंदोलन का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह था कि इसने राष्ट्रीय आंदोलन के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप पर बल दिया, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलनों में सभी वर्गों ने बढ़-चढ़ कर विदेशी सत्ता के खिलाफ संघर्ष में भाग लिया।

परन्तु इन उपलब्धियों के बावजूद नरमपंथी आन्दोलन की कुछ सीमायें थी, जो राष्ट्रीय आन्दोलन में निम्न रूप से प्रकट होती है।

- नरमपंथियों का ब्रिटिश साम्राज्यवाद एवं उसकी उदारवादी ब्रिटिश संस्थाओं, न्याय प्रणाली आदि में पूर्ण विश्वास था और वे इस मिथ्या अवधारणा से ग्रसित थे कि ब्रिटिश शासन भारत में एक दैवीय उपहार है। इस कारण से नरमपंथी ब्रिटिश शासन के वास्तविक स्वरूप व उसके औपनिवेशिक उद्देश्यों को समझने में असफल रहे। अत: उन्होंने न तो जनता में अपना विश्वास बनाया और न ही आंदोलन का सामाजिक आधार विकसित किया।
- उनकी मांगें मुख्यत: अभिजात वर्गीय थीं जैसे - भारतीय शासन में सहभागिता, प्रशासन का भारतीयकरण आदि। उन्होंने जनता की साधारण समस्याओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और इस कारण वे बहुत साधारण मांगे भी मनवाने में असफल रहे।

- उनकी मांगें मुख्यत: भिक्षावृत्ति के सिद्धांत पर आधारित थी, जिसकी ओर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया और शीघ्र ही जनता का इनसे मोहभंग हो गया।
- अभिजात वर्गीय मांगों व शिक्षित वर्ग की ही भागीदारी के कारण उन्होंने कांग्रेस को तृणमूल तक पहुँचाने का प्रयास नहीं किया, जिससे कि ग्रामीण क्षेत्र इससे अलग-थलग ही बना रहा और इसका स्वरूप अखिल भारतीय नहीं हो पाया। परिणामस्वरूप यह एक असशक्त आंदोलन ही बना रहा।
- उदारवादी नेता कर्मशील न होकर केवल विचारशील थे। राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु उन्होंने कभी भी सरकार के विरोध का प्रयास नहीं किया। साथ ही नरमपंथी नेता मुख्यत: पेशेवर वर्ग से आते थे, जिनके लिये राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ समय का कार्य था।

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति नरमपंथी दृष्टिकोण

नरमपंथी राजनीतिज्ञ सामान्यत: भारत के उच्च सामाजिक वर्ग के ऐसे लोग थे, जिन्होंने अंग्रेजी में उच्च शिक्षाप्राप्त की थी। अंग्रेजी शिक्षा के कारण ये पश्चिम के आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों से परिचित हुए थे एवं इन पर इनकी गहरी आस्था थी। उनके अनुसार भारतीय समाज जड़ था व इसकी जड़ता दूर करने हेतु आधुनिक शिक्षा बहुत आवश्यक है। इस प्रकार के अंग्रेजी शासन को भारतीय समाज के आधुनिकीकरण हेतु आवश्यक मानते हुए अच्छा मानते थे। आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों में आस्था होने के कारण वे जन सहभागिता पर बल देते थे, लेकिन साथ ही वे इसकी प्राप्ति क्रमिक रूप से ही चाहते थे, एकाएक नहीं। इस प्रकार वे ब्रिटिश साम्राज्यिक नीति के समान ही सोचते थे।

नरमपंथियों को ब्रिटिश शासन के न्यायवादी स्वरूप पर अतिशय विश्वास था। उनके अनुसार ब्रिटिश शासन का वास्तविक स्वरूप उदारवादी लोकतंत्र पर आधारित था। इसमें कानून का शासन, जनसहभागिता, स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, मानवीय मूल्यों का प्रसार आदि पाए जाते हैं। फलत: उनके अनुसार ब्रिटिश शासन एक दैवीय शासन है। लेकिन वह यह भी मानते थे कि भारत में ब्रिटिश शासन का स्वरूप अ-ब्रिटिश शासन है जो अपने साम्राज्यवादी लाभों हेतु भारत का शोषण कर रहा है। इस शोषण को उन्होंने अपने धन के निर्गमन सिद्धांत द्वारा आर्थिक राष्ट्रवाद की नींव डाल कर उजागर किया।

नरमपंथियों ने यह स्पष्ट किया कि ब्रिटिश शासन उपनिवेशवादी आर्थिक शोषण पर आधारित है। यह निरंतर भारत से ब्रिटेन को एकपक्षीय धन प्रेषण को बढ़ा रहा है जिसके बदले भारत को कुछ नहीं मिलता। इनके अनुसार यह धन का निर्गमन व्यापार व अतिरिक्त पूंजी सृजन द्वारा किया जा रहा है। फलस्वरूप भारत निरंतर गरीब होता जा रहा है। नरमपंथियों ने यह भी कहा कि ब्रिटेन में ब्रिटिश शासन, जन सहभागिता, प्रेस व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता व नागरिक अधिकारों की प्राप्ति पर आधारित है वहीं भारत में ब्रिटिश शासन नागरिकों को इसमें से एक भी अधिकार नहीं देता। यह उसके नस्लवादी व शोषणकारी, भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण को दिखाता है।

गरमपंथी आंदोलन (1905-1913)

विचारधारा

गरमपंथी विचारधारा के अनुसार ब्रिटिश शासन का स्वरूप अनैतिक था जो आर्थिक व सांस्कृतिक शोषण पर आधारित है। जहाँ आर्थिक शोषण से भारत में दरिद्रता बढ़ती जा रही थी वहीं सांस्कृतिक शोषण द्वारा पश्चिमी मूल्यों यथा व्यक्तिवाद, भौतिकवाद के आरोपण से भारतीयों का भौतिक पतन हो रहा था। गरमपंथियों के अनुसार अंग्रेजी पढ़ने वाले ऐसे लोग जो नौकरी के लिए अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करते हैं, वे अंग्रेजी साहित्य में मौजूद जनतांत्रिक एवं राष्ट्रीय मूल्यों को तो आत्मसात नहीं कर पाते उल्टे पश्चिमी लोगों की जीवनशैली की नकल करने लग जाते हैं। इस प्रक्रिया में वे भारतीय जीवन शैली को नकारते हैं। 'पश्चिम का सब कुछ श्रेष्ठ है' यह विचार उनके अंदर दृढ़ हो जाता है। इस प्रकार वे मानसिक रूप से पाश्चात्य संस्कृति के गुलाम हो जाते हैं। गरमपंथियों का विचार था कि जब तक युवावर्ग को इस मानसिक गुलामी से मुक्ति नहीं दिलायी जायेगी तब तक साम्राज्यवाद का मुखर विरोध संभव नहीं है।

गरमपंथी राजनीति के उदय के कारक

राष्ट्रीय कारक

कांग्रेस की उपलब्धियों से निराशा:

- 1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद से अपने सम्पूर्ण नरमपंथी आन्दोलन की अवधि (1905 तक) कांग्रेस की उपलब्धियाँ अत्यल्प रहीं। अब यह स्पष्ट हो गया था कि प्रार्थना और प्रस्तावों के द्वारा कुछ भी नहीं मिलने वाला है।
- नरमपंथी आन्दोलन के आखिरी दौर में गोखले और लाजपत राय ने भारतीय समस्याओं से ब्रिटेन को अवगत कराने के लिए कई बार लंदन की यात्रा की किन्तु वे असफल रहे। स्वयं गोखले ने भी महसूस किया कि इन उपायों से कुछ नहीं होने वाला है।
- कांग्रेस का युवा वर्ग पुरानी पीढ़ी की कार्यप्रणाली से असंतुष्ट था। वह कांग्रेस के अधिवेशनों को छुट्टियों का मनोरंजन एवं वार्षिक राष्ट्रीय मेला ही मानता था।

अंग्रेजी राज की वास्तविक प्रकृति का उजागर होना:

- दादाभाई नौरोजी की पुस्तक 'इण्डियन पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' (1901) तथा आर.सी. दत्त की पुस्तक 'इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' (1901) के द्वारा यह तथ्य स्थापित किया गया कि ब्रिटेन राजनीतिक

आधिपत्य के बल पर भारत का आर्थिक शोषण कर रहा है। इनके अध्ययनों ने 'श्वेत व्यक्ति के भार' के सिद्धान्त की धज्जियाँ उड़ा दी।

- सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, दिनशा वाचा, गोखले, मालवीय आदि अन्य नेताओं ने विभिन्न तथ्यों के सहारे यह बात सामने रखी कि ब्रिटिश राज का वास्तविक स्वरूप शोषक का है।

भारत की आर्थिक दुरावस्था:

- 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त खराब थी। इसी समय 1896-97 तथा 1899-1900 में देश में भीषण अकाल पड़ा। महाराष्ट्र में प्लेग का प्रकोप हुआ। इनसे लाखों लोगों की मृत्यु हुई।
- अकाल की स्थिति में एक ओर तो सरकारी सहायता नगण्य थी दूसरी ओर अनाज का इंग्लैण्ड एवं यूरोप को निर्यात जारी रहा। इससे बढ़कर 1902 में एक भव्य दरबार आयोजित किया गया जिसमें देशी नरेशों को पदवियां बाँटी गई। इन घटनाओं ने ब्रिटिश राज की हृदयहीनता को स्पष्ट कर दिया।

पाश्चात्य संस्कृति का बढ़ता प्रभाव:

अंग्रेजी शिक्षा पाने वाले बहुत कम लोग ऐसे थे जो अंग्रेजी साहित्य में निहित जनतांत्रिक एवं राष्ट्रीय चिंतन के मूल्यों को आत्मसात करते थे। अंग्रेजी पढ़ने वाला वर्ग वह यह था जिसके लिए 'अंग्रेजी' नौकरी पाने का एक साधन थी। इस वर्ग ने अंग्रेजी भाषा के साथ अंग्रेजी जीवनशैली को भी अपना लिया। इसका एक स्वभाविक परिणाम इस रूप में सामने आया कि इन्होंने भारतीय संस्कृति को हेय समझना शुरू कर दिया। वस्तुत: यह वह वर्ग था जो राजनीतिक गुलामी के साथ पश्चिम की सांस्कृतिक गुलामी में भी जकड़ गया था। ऐसी स्थिति में गरमपंथी राजनेता भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम पक्षों को स्थापित करते हुए सामने आये। बंकिमचन्द्र, विवेकानन्द और दयानंद ने उन्हें वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान की। बंकिमचन्द्र ने श्रीकृष्ण का महिमामंडन किया और उन जैसे गुणों वाले व्यक्ति के नेतृत्व में देश की एकता की कल्पना की। विवेकानन्द के वेदान्त ने पश्चिम को भी हैरान कर दिया। दयानंद उस वैदिक संस्कृति को सामने लेकर आये जो सांस्कृतिक रूप से तब भी अत्यन्त श्रेष्ठ थी, जब पश्चिम अंधकार के गड्ढे में पड़ा था।

शिक्षा का विकास:

शिक्षा के अधिक प्रसार से भारतीय लोग अधिक संख्या में शिक्षित हुए। किन्तु सरकार ने उतनी अधिक संख्या में रोजगार की व्यवस्था नहीं की। अंग्रेजी पढ़ा-लिखा यह शिक्षित वर्ग बेरोजगार वर्ग अपनी दयनीय हालत के लिए सरकार को दोषी समझता था। अत: यह वर्ग उग्र राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख होने लगा।

कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियाँ:

- कर्जन के समय बनाये गये कार्यालय गोपनीयता अधिनियम, भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम तथा कलकत्ता कारपोरेशन अधिनियम से भारतीय रूष्ट हुए। कर्जन भारतवासियों के प्रति प्राय: कटुभाषा का प्रयोग करता था। वह भारतीयों को झूठे और मक्कार कहता था।
- कर्जन के बंगाल-विभाजन (1905) के निर्णय को गरमपंथी राष्ट्रवादियों ने भारतीय एकता को नष्ट करने के प्रयास के रूप में देखा। भारतीयों के मन में यह विश्वास हो गया कि अंग्रेज किसी भी प्रकार भारत को गुलाम बनाये रखना चाहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कारक

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों पर अत्याचार एवं गाँधी का सत्याग्रह:

दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों पर होने वाले अत्याचार की जानकारी वहाँ महात्मा गाँधी द्वारा चलाये जाने वाले सत्याग्रह आन्दोलन के कारण प्रकाश में आयी। कांग्रेस ने कई प्रस्ताव पारित कर सरकार से हस्तक्षेप की आग्रह किया किन्तु उसका कोई नतीजा नहीं निकला। इससे शिक्षित भारतीयों में असंतोष पैदा हुआ। दूसरी ओर गाँधी के सत्याग्रह के कारण वहाँ भारतवासी कुछ बड़े कानूनों को हटवाने में सफल भी हुए थे। इससे लोगों को यह विश्वास हो गया कि विनय के मुकाबले संघर्ष कहीं ज्यादा सही रास्ता है।

जापान का उदय:

1868 के बाद जापान के उदय ने एशिया की आंतरिक शक्ति को स्पष्ट किया। जापान का आधुनिकीकरण पश्चिम के मार्गदर्शन के बिना हुआ था। इसने इस विचार का खंडन किया कि भारत ब्रिटेन के अधीन ही आधुनिकता के रास्ते पर चल सकता है। फिर 1905 में एक आश्चर्यजनक घटना हुई। जापान ने एक युद्ध में रूस को परास्त कर दिया। 'एशिया के एक अत्यन्त लघु राष्ट्र ने यूरोप के एक विशाल एवं शक्तिशाली राष्ट्र को हरा दिया, इस तथ्य ने यह स्पष्ट कर दिया कि गोरे लोग अजेय नहीं हैं। यह विचार बल पकड़ने लगा कि जब जापान रूस को हरा सकता है तो भारत ब्रिटेन से मुक्ति क्यों नही पा सकता।

अन्य देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन:

- आयरलैण्ड, रूस, चीन तथा मिस्र आदि विश्व के विभिन्न भागों में चलने वाले क्रान्तिकारी आंदोलनों के कारण लोगों के मन में यह विश्वास पैदा हुआ कि किसी भी देश के दृढ़निश्चयी एवं संगठित लोग सबसे शक्तिशाली साम्राज्यवादी देश को चुनौती दे सकते हैं।
- अबीसीनिया (एक पिछड़ा अफ्रीकी देश) द्वारा इटली (एक आधुनिक यूरोपीय देश) की पराजय ने (1896) ने इस विचार को दृढ़ से दृढ़तर ही किया।

गरमपंथी रणनीति

स्वदेशी और उसके आयाम:

स्वदेशी गरमपंथी विचारधारा का केन्द्रीय चिंतन था। इसकी अभिव्यक्ति निम्न रूपों में होती थी-

- स्वदेशी को एक आन्दोलन के रूप में लिया जाय। नौजवान पीढ़ी के मन में प्रत्येक विदेशी वस्तु के खिलाफ घृणा भावना और स्वदेशी के प्रति अनुराग पैदा किया जाय।
- स्वदेशी के प्रति समर्थन की अभिव्यक्ति के रूप में विदेशी वस्तुओं की होली जलायी जानी चाहिए। इसे बहिष्कार (या बायकॉट) कहा गया जो स्वदेशी का दूसरा पक्ष था।

- स्वदेशी देश की आर्थिक प्रगति का सही साधन है। स्वदेशी उद्योग, एवं हस्तशिल्प के द्वारा ही भारत की गरीबी को दूर किया जा सकता है।
- स्वदेशी शिक्षा (जिसे राष्ट्रीय शिक्षा भी कहा गया) ही भारतीय लोगों को दी जाने वाली सही शिक्षा होगी। जो उन्हें मानसिक गुलामी से मुक्त करेगी। इस शिक्षा में औद्योगिक एवं तकनीकी शिक्षा के साथ प्राचीन भारतीय मूल्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना था।
- 'स्वराज' स्वदेशी का ही राजनैतिक पक्ष था, जिसे लोकमान्य 'बाल गंगाधर तिलक ने लोकप्रिय बनाया। उन्होंने "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे प्राप्त करके रहूँगा" का नारा दिया जो काफी प्रचलित हुआ। यह नरमपंथी लक्ष्य 'स्वशासन' के एक कदम आगे का लक्ष्य था।
- स्वदेशी का एक धार्मिक एवं सांस्कृतिक पक्ष भी था। इसके तहत जनजीवन में छायी निराशा की भावना को दूर करने एवं उनमें राष्ट्रीय भाव पैदा करने के लिए भारत की आध्यात्मिक श्रेष्ठता एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठता का विश्वास दिलाना था। कालीपूजा, गणेश पूजा एवं शिवाजी उत्सव, आर्य समाज के विचारों का प्रसार इत्यादि को इस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन के रूप में देखा गया।

जनसाधारण से जुड़ाव

गरमपंथी विचारधारा में आम जन को काफी महत्त्व दिया गया। नरमपंथी नेताओं के विपरीत इस विचारधारा के नेताओं को भारतीय जनता की विशिष्ट प्रतिभा पर पूरा विश्वास था। लाजपत राय ने आह्वान किया कि हम अपने मुँह को राजभवन से हटाकर जनसाधारण की झोपड़ियों की ओर मोड़े अर्थात् सरकार से अपील करने की बजाय हम जनसाधारण से अपील करें।

शांति पूर्ण प्रतिरोध

गरमपंथी प्रार्थना-पत्रों, शिष्टमंडलों आदि की जगह शांतिपूर्ण प्रतिरोध में यकीन करते थे। नरमपंथी राजनीति के साधनों (प्रस्ताव, प्रार्थनापत्र, शिष्टमंडल) पर उनका विश्वास नहीं था। उनका विचार था कि शक्ति का मुकाबला शक्ति से ही हो सकता है न कि प्रार्थना से। यद्यपि वे अहिंसक प्रतिरोध के समर्थक थे।

कार्यक्रम

गरमपंथियों द्वारा अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपनाये गये साधन निम्न थे-

- **राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं का गठन:**-इसके तहत उन्होंने देश के विभिन्न भागों में अनेकों स्कूल एवं कालेज खोले। स्वदेशी आन्दोलन के दौरान ऐसे स्कूल एवं कालेजों की बाढ़ आ गयी। इन संस्थाओं ने राष्ट्रीय विचारधारा के प्रसार में मुख्य भूमिका निभाई।
- विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार:-स्वदेशी के समर्थन में एवं विदेशी के प्रति घृणा प्रकट करने के लिए विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आह्वान किया। 1896 में सूती कपड़े पर जवाबी आबकारी लगाये जाने पर तिलक ने इसे पहली बार आजमाया।

- **स्वदेशी संस्थाओं की स्थापना:**-जगह-जगह जिमनास्टिक स्कूलों, अखाड़ों तथा अन्य समितियों की स्थापना की गयी।

  लाला हरिकिशन लाल ने पंजाब नेशनल बैंक, रविन्द्र नाथ ने शांतिनिकेतन, सतीश मुखर्जी ने डान सोसाइटी' की स्थापना की। कुछ स्वदेशी उद्योग-धन्धे भी लगाये गये जिनमें पी. सी. राय की बंगाल केमिकल फैक्ट्री उल्लेखनीय है।

सहकारी संगठन

- गरमपंथियों ने सहकारी संगठन को बढ़ावा दिया। गाँवों में सफाई एवं सेवा कार्य, मेलों का आयोजन, आपदा की दशा में स्वयंसेवा सम्बन्धी कार्य आदि पर बल दिया गया।
- दीवानी एवं अन्य मामलों को सुलझाने के लिए पंच समितियाँ बनायी गयीं। इनके द्वारा जनता में नागरिक भावना को जगाना, उत्तरदायित्व निभाने के लिए प्रशिक्षण देना आदि लक्ष्यों को प्राप्त करना था।

असहयोग

तिलक ने असहयोग का सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि आप स्वयं ही इस प्रशासनिक मशीनरी को निर्विघ्नता से चलने देते हैं। यद्यपि आप दलित एवं तिरस्कृत हैं परन्तु फिर भी आपको अपनी उस शक्ति का बोध होना चाहिए जिससे आप यदि चाहे तो प्रशासन को ठप कर सकते हैं।

गरमपंथी राजनीति की सीमाएँ

- गरमपंथियों के पास कोई सुस्पष्ट राजनीतिक विचार एवं दर्शन नहीं था। आर्थिक राष्ट्रवाद का विचार उन्होंने नरमपंथियों से ही लिया था।
- उनके द्वारा उग्रवादी तरीके अपनाये जाने के कारण सरकार को हिंसा एवं दमन का अवसर मिला।
- आत्मसम्मान एवं आत्मगौरव के प्रति अतिशय भावुकता व स्वदेशी तथा बहिष्कार पर अत्यधिक बल ने इन्हें ब्रिटिश प्रगतिशील विचारों से दूर कर दिया।
- आत्मगौरव के लिए इन्होंने जिस हिन्दू पुनरूत्थानवादी तरीकों (गणेश पूजा, काली पूजा, शिवाजी उत्सव) का सहारा लिया उनसे सांप्रदायिकता का भी विकास हुआ जो आगे चलकर आन्दोलन के लिए घातक सिद्ध हुआ।
- गरमपंथियों ने नरमपंथियों को साथ लेकर चलने वाला कोई बीच का रास्ता निकालने का प्रयास करने की जगह उन्हें किनारे कर देने का प्रयास किया। इस प्रकार दोनों में फूट पैदा हुई जिसने आन्दोलन को गंभीर नुकसान पहुँचाया।

गरमपंथी आंदोलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन

- गरमपंथियों ने नरमपंथियों के आर्थिक राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को आधार बनाकर ब्रिटिश शासन के शोषक स्वरूप को उजागर किया।
- उन्होंने भारत के प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों की सर्वश्रेष्ठता को स्थापित किया और उसके माध्यम से लोगों में देश गौरव का भाव पैदा कर राष्ट्रवाद को मजबूत किया।
- उन्होंने स्वदेशी की अवधारणा रखी। इस अवधारणा से जहाँ देशप्रेम बढ़ा वहीं देशी उद्योगों की स्थापना को प्रेरणा मिली। राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना का महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित हुआ।
- सीमित संवैधानिक सुधारों की माँग की बजाय उन्होंने स्वराज की माँग की। यह राष्ट्रीय आन्दोलन को दो कदम आगे लेकर जाने वाली माँग थी।
- आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन में बहिष्कार के जिस महत्त्वपूर्ण अस्त्र का प्रयोग उपनिवेशवाद के विरूद्ध गाँधी ने किया उसकी अवधारणा भी गरमपंथियों ने ही रखी। स्वदेशी आन्दोलन के दौर में यह एक प्रभावी अस्त्र के रूप में सामने आया।
- राजनीति में रचनात्मक कार्यक्रमों का समावेश नरमपंथियों का महत्त्वपूर्ण योगदान था। समितियों की स्थापना, अखाड़ों की स्थापना, पंचायतों की स्थापना, तथा गाँवों में सफाई एवं अन्य सेवा कार्यों के द्वारा उन्होंने लोगों में नागरिक भावना पैदा करने का प्रयास किया जिसे अन्ततः राष्ट्रीयता को ही बल मिला।
- नरमपंथी राजनीति में जन भागीदारी सीमित थी। गरमपंथियों ने 'भारतीय जनता की विशिष्ट प्रतिभा एवं शक्ति' की बात की और आम जन से खुद को जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने अपना 'मुँह राजमहलों से मोड़कर झोपड़ियों की ओर' करने का प्रयास किया।
- गरमपंथियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को उस महत्त्वपूर्ण दौर में पहुँचाया जहाँ प्रार्थना, प्रस्ताव एवं शिष्टमंडल की बजाय शांतिपूर्ण प्रतिरोध, बहिष्कार एवं असहयोग को प्रमुख साधनों के रूप में देखा गया। एक प्रकार से उन्होंने गाँधी के असहयोग एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलनों के लिए परंपरागत पृष्ठभूमि तैयार की।
- गरमपंथियों ने समाचारपत्रों का अधिक मुखर प्रयोग किया। उन्होंने पत्रों, पत्रिकाओं और पुस्तकों के द्वारा अधिक उग्र रूप में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध वैचारिक प्रतिरोध किया। तिलक, लाजपत राय, अरविंद घोष आदि सभी प्रमुख नेताओं ने पत्रों-पत्रिकाओं को अपने विचारों के प्रसार के लिए खूब उपयोग किया।
- गरमपंथी राजनीति देश के युवा वर्ग को आकर्षित करती थी। इस वर्ग को राष्ट्रीय आन्दोलन में खींचने में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। गरमपंथी राजनीति के मुख्य नेता (तिलक, लाजपत राय, एवं अरविंद घोष) क्रान्तिकारी युवकों के प्रेरणा स्रोत एवं आदर्श थे।
- गरमपंथियों ने ऐसे समय में आन्दोलन का नेतृत्व किया जब नरमपंथी राजनीति अप्रासंगिक हो रही थी और कांग्रेस का संगठन कमजोर होता जा रहा था। (कांग्रेस अब लड़खड़ा रही है और जल्द-ही गिरने वाली है - कर्जन)।

गरमपंथी एवं नरमपंथी राजनीति में अंतर

गरमपंथी एवं नरमपंथी राजनीति के बीच निम्न बिन्दुओं पर मतभेद थे-

ब्रिटिश शासन का स्वरूप

नरमपंथी ब्रिटिश शासन को दैवी वरदान मानते हुए उसे भारत के आधुनिकीकरण में सहायक मानते थे। उनका विचार था कि ब्रिटिश शासन उदार लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित है और जड़ भारतीय समाज का आधुनिक शिक्षा के द्वारा आधुनिकीकरण कर रहा है। इसके विपरीत गरमपंथी मानते थे कि ब्रिटिश शासन अनैतिक है और वह भारत का आर्थिक राजनैतिक एवं सांस्कृतिक शोषण कर रहा है।

राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य

- नरमपंथी मानते थे कि संवैधानिक तरीकों से क्रमशः राजनीतिक सुधारों को प्राप्त करते हुए 'स्वशासन' की प्राप्ति ही आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। यह स्वशासन ब्रिटेन के अधीन ही होना था जैसे आस्ट्रेलिया या अन्य श्वेत उपनिवेशों को मिला था।
- गरमपंथी स्वराज की बात करते थे। यह स्वराज ब्रिटिश शासन के अधीन 'स्वशासन' से अधिक स्वायत्तता की माँग करता था। उनके विचार में स्वराज ही मूलभूत सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्राप्ति कर सकता था।

  महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जहाँ नरमपंथी यह मानते थे कि भारतीय लोग क्रमशः स्वशासन के लिए तैयार हो रहे हैं, वहीं गरमपंथी स्वराज को जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में देखते थे।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण

- उदारवादियों को पश्चिमी संस्कृति की श्रेष्ठता पर अटूट विश्वास था। उनके विचार में मानव प्रगति के अनिवार्य तत्त्व केवल पश्चिमी संस्कृति में ही उपलब्ध हैं। वह अधिक तार्किक, बुद्धिवादी एवं मानवतावादी है।
- इसके विपरीत गरमपंथी मानते थे कि भारतीय संस्कृति ही सर्वश्रेष्ठ है। उनका विचार था कि भारतीय संस्कृति में कुछ बुराईयाँ आ गई हैं जिन्हें दूर कर इसे फिर से श्रेष्ठ बनाया जा सकता है। पश्चिमी संस्कृति की श्रेष्ठता स्वीकार कर लेने को वह सांस्कृतिक आत्मसमर्पण मानते थे। उन्होंने भारत के अतीत से प्रेरणा लेकर लाखों को जगाने एवं उनमें राष्ट्रीयता एवं आत्मसम्मान की भावना भरने का प्रयास किया।
- ध्यातव्य है कि दोनों ही अपने-अपने सांस्कृतिक दृष्टिकोण को आज़ादी के लिए आवश्यक साधन मानते थे। किन्तु गरमपंथी इस तर्क के साथ सत्य के कहीं अधिक करीब थे कि पश्चिमी संस्कृति को श्रेष्ठ मान लेने के बाद पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरूद्ध संघर्ष में नैतिक एवं आत्मिक बल में कमी आती है।

राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप

- नरमपंथी उपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्ष में संवैधानिक आंदोलन में यकीन रखते थे। जबकि गरमपंथी विचारधारा यह थी कि जिस देश में निरंकुश विदेशी शासन चल रहा हो वहाँ इसकी कोई उपयोगिता नहीं है।
- गरमपंथियों का मानना था कि भारतीय संविधान को भारतीय जनता ने नहीं बल्कि ब्रिटिश संसद ने बनाया है जो ब्रिटिश जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। इस संविधान पर आधारित भारतीय सरकार ब्रिटिश संसद के प्रति जिम्मेदार है न कि भारतीय जनता के प्रति।
- नरमपंथी अनुनय-विनय की राजनीति में विश्वास रखते थे। उन्हें ब्रिटेन की सद्इच्छा पर भरोसा था, गरमपंथी इसे राजनीतिक भिक्षावृत्ति कहते थे। राजनीतिक दासता से मुक्ति के लिए वे आत्मनिर्भर एवं आत्मविश्वासी होना आवश्यक समझते थे जो कि स्वदेशी, बहिष्कार एवं प्रतिरोध से ही प्राप्त किया जा सकता था।

सामाजिक दृष्टिकोण

- नरमपंथी सामाजिक समानता की माँग इस आधार पर करते थे कि वे ब्रिटिश सरकार की प्रजा है। वहीं गरमपंथी सामाजिक समानता व राजनीतिक स्वतंत्रता को अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानते थे।
- नरमपंथियों ने हिन्दू मुस्लिम एकता पर बल दिया तथा राजनीति को धर्मनिरपेक्ष रखा। दूसरी ओर गरमपंथियों ने राष्ट्रवाद की भावना को उभारने के लिए हिन्दू गौरव के पुनरूत्थान पर अधिक बल दिया जिसके कारण भविष्य में सांप्रदायिकता को बढ़ाने में सहायता मिली।

गरमपंथी आन्दोलन के विरूद्ध ब्रिटिश प्रतिक्रिया

गरमपंथ आंदोलन का उदय तथा उसका तीव्रगति से प्रसार होना ब्रिटिश शासन के लिए एक गंभीर चुनौती का रूप लेता जा रहा था, क्योंकि गरमपंथियों की विचारधारा व कार्यक्रम न केवल ब्रिटिश उद्योग, संस्थाओं व सामान का बहिष्कार करके साम्राज्य का क्षति पहुँचा रहे थे बल्कि इनके प्रभाव में लोग हिंसा का भी प्रयोग करने लगे थे।

अत: गरमपंथी आंदोलन के विरूद्ध ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रिया दो रूपों में प्रकट हुई। प्रथम लार्ड मार्ले की विचारधारा जिसमें दमन (गरमपंथियों का), समझौता (नरमपंथियों के साथ) तथा उन्मूलन (गरमपंथ व क्रांतिकारियों की गतिविधियों का) तीन प्रमुख आधार स्तम्भ थे।

दूसरी विचारधारा लार्ड मिंटो की थी। उसने प्रतितोलक सिद्धांत का प्रयोग करते हुए हिंदू को मुस्लिमों से अलग करने के प्रयास आरंभ किए गए। इसके साथ ही साथ कांग्रेस के अंदर विभाजन का प्रयास किया गया तथा आर्थिक लालच, पद आदि देकर अन्य लोगों को कांग्रेस से संबंध बनाने से रोका। यह प्रतिसंतुलन की नीति 1909 के अधिनियम से प्रकट हुई जब परिषदों में साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति के आधार पर मुस्लिमों को आरक्षण दिया गया। यह साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति भविष्य में साम्प्रदायिकता का आधार बिन्दु बना तथा अन्य वर्गों एवं समुदायों के लिये प्रेरणा बना जिससे राष्ट्रवादी आंदोलन कमजोर हुआ।

सूरत अधिवेशन और कांग्रेस में फूट (1907)

अंग्रेज कांग्रेस से आरम्भ से ही सशंकित रहते थे। 1867 में लार्ड डफरीन ने कहा कि कांग्रेस संभवत: मुट्ठी भर लोगों का नेतृत्व करने वाली संस्था है अर्थात् जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। अंग्रेजों ने कांग्रेस को देशद्रोही कहकर आलोचना की जबकि कांग्रेस शुरूआती दौर में अंग्रेजी शासन के लिए राजभक्ति का नारा देती थी। इसके बावजूद भी अंग्रेजी सरकार द्वारा कांग्रेस की आलोचना की जाती रही। इसका कारण यह था कि नरम पंथी या जितने भी अंग्रेजी राज के समर्थक थे। मूल रूप से राष्ट्रवादी थे और अंग्रेजी सरकार देश में राष्ट्रवादी भावनाओं को पनपने नहीं देना चाहती थी। आलोचना का दूसरा कारण यह था कि अंग्रेज समझते थे कि नरमपंथियों के नेतृत्व में कांग्रेस काफी कमजोर है जनता तक इसकी पहुँच नहीं है। अत: जम कर इसकी आलोचना की जाये तो यह संस्था टूट जायेगी।

परन्तु अंग्रेजों का यह दृष्टिकोण गरमपंथी राष्ट्रवादी विचारधारा के पनपने से बदल गया। अब राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने के लिए अंग्रेजों ने एक नया विकल्प तैयार किया। नरमपंथियों को अपने साथ लेकर चलने की नीति। इस नीति के तीन प्रमुख उद्देश्य थे –

- दमन
- समझौता
- उन्मूलन

गरमपंथियों का दमन करना था जिससे नरमपंथियों में दशहत पैदा की जा सकती थी। इसके बाद नरमपंथियों को कुछ रियायतें देकर (संवैधानिक सुधार) उन्हें गरमपंथियों से अलग करना था।

इस नीति का मूल उद्देश्य नरमपंथियों को अलग-थलग करना था और जैसे ही नरमपंथी गरमपंथी से अलग हो जायें गरमपंथियों का उन्मूलन करना था। सरकार ने अपनी इस नयी नीति के तहत, 1906 में जब बंगाल आंदोलन अपने चरम पर था, नरमपंथियों के सामने वैधानिक सुधारों का प्रस्ताव किया। नरमपंथी सरकार की इस चाल में फंस गये और सरकार से सुधार पर बातचीत करने के लिए राजी हो गये। इसका नतीजा हुआ कि राष्ट्रवादी नेताओं में फूट पड़ गई परन्तु फिर भी दोनों एकजुट होकर बंगाल आन्दोलन में लड़ते रहे। 1906 के कांग्रेस अधिवेशन में नरमपंथी और गरमपंथियों के बीच पारस्परिक मतभेद उभर कर सामने आया, परन्तु कांग्रेस में फूट नहीं पड़ी। समझौते के रूप में स्वदेशी बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वशासन से संबंधित चार प्रस्ताव पारित कर लिये गये। दोनों गुट इन चारों प्रस्तावों को अपने अपने ढंग से परिभाषित करते रहे। 1907 आते आते स्थिति विस्फोटक हो गई। गरमपंथी यह चाहते थे कि स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन को देश के अन्य हिस्सों में भी फैलाया जाये जबकि नरम पंथी इसके लिये राजी नहीं थे।

1906 से 1907 तक इस पूरे एक साल के दौरान गरमपंथी और नरमपंथी के बीच वैमनस्य की भावना बढ़ती रही। 1907 के सूरत अधिवेशन में यह अफवाह फैली कि नरमपंथी 1906 में पारित चार प्रस्तावों को खत्म करना चाहते हैं। सूरत अधिवेशन शोर-शराबे के बीच शुरू हुआ और वगैर कोई प्रस्ताव पारित किये खत्म हो गया। गरमपंथी नेताओं को कांग्रेस से बाहर निकाल दिया गया और कांग्रेस में फूट पड़ गयी। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार नरमपंथी और गरमपंथी गुटों में फूट डालकर कुछ समय तक राष्ट्रीय आन्दोलन को निष्क्रिय करने में सफल रही।

मूल्यांकन (आलोचनात्मक)

सूरत विभाजन ने मुख्यत: यह प्रश्न उत्पन्न किये कि कांग्रेस के विभाजन का उत्तरदायी कौन है? परन्तु तात्कालिक घटनाक्रम का विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि कांग्रेस का विभाजन नरमपंथी और गरमपंथी दोनों के गलत दृष्टिकोण के कारण हुआ था। गरमपंथी और नरमपंथी दोनों सरकार का दमन, समझौता और उन्मूलन की नीति को समझने में असफल रहे थे। गरम दल वाले ये समझते थे कि बंगाल आन्दोलन से आज़ादी की लड़ाई शुरू हो गई है तथा जनता जागरूक हो गई है अत: यही समय है जबकि बंगाल आन्दोलन को देश के बाकी हिस्सों में फैला दिया जाये। गरम दल वालों को यह एहसास हो रहा था कि इस आंदोलन में नरमपंथी सबसे बड़ी बाधा हैं। नरमपंथी बहिष्कार आन्दोलन को केवल बंगाल तक ही सीमित रखना चाहते थे। दूसरी ओर गरमपंथी केवल विदेशी माल के बहिष्कार से ही संतुष्ट नहीं थे, बल्कि वे चाहते थे कि अंग्रेजों के साथ किसी भी तरह का सहयोग नहीं किया जाये। जबकि नरमपंथी नेता सरकार के साथ समझौते के लिये उत्सुक थे। राजनीति और प्रशासन में हिस्सेदारी का नरमपंथियों का सपना पूरा होने जा रहा था। सरकार संवैधानिक सुधार के लिए उनसे बातचीत कर रही थी। अत: नरमपंथियों को लगा कि गरमपंथियों के साथ रहना खतरनाक है इसलिए इनसे पीछा छुड़ा लिया जाये। कांग्रेस के दोनों गुट यह नहीं समझ पाये कि सरकार उनसे बातचीत करने को राजी है तो यह उनकी अपनी शक्ति के कारण नहीं बल्कि सरकार गरम दल के आन्दोलन से डरी हुई है, इसलिए नरमदल को समझौते के लिये बुला रही है। गरम दल वालों को यह समझना चाहिये था कि देश अभी आजादी के लिये तैयार नहीं है और जब तक नरमपंथी उनके साथ है तभी तक वो सड़क पर आंदोलन चला रहे हैं क्योंकि अभी उनकी अपनी ताकत इतनी नहीं बढ़ी है कि पूरे देश में अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष कर सके।

सूरत विभाजन के बाद सरकार गरमपंथियों पर बड़े पैमाने पर दमनात्मक कार्यवाही करके आन्दोलन को दबाने में सफल रही। सभी गरमपंथियों को जेल में डाल दिया गया। दूसरी तरफ नरमपंथी भी निष्क्रिय होकर अपने घरों में पड़े रहे क्योंकि जनता गरम दल वालों के साथ थी। सरकार ने इसके बाद इनसे बातचीत करना बंद कर दिया।

स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन

बंगाल विभाजन

दिसम्बर 1903 में अंग्रेजी सरकार ने बंगाल विभाजन की सार्वजनिक घोषणा की। इसके पीछे सरकार ने तर्क दिया कि बंगाल की विशाल आबादी के कारण प्रशासन का सुचारू रूप से संचालन कठिन हो गया है। यद्यपि कुछ सीमा तक सरकार का यह तर्क सही था, किन्तु अंग्रेजों की वास्तविक मंशा कुछ और ही थी। उनका मुख्य उद्देश्य बंगाल को दुर्बल करना था, क्योंकि उस समय बंगाल भारतीय राष्ट्रवाद का सबसे प्रमुख केंद्र था। वास्तव में बीसवीं सदी में उत्पन्न हो रहे बंगाली राष्ट्रवाद को कमज़ोर करना उनका मुख्य उद्देश्य था। परन्तु बंगाल विभाजन का वास्तविक आधार कुछ और था। बंगाल विभाजन मुख्यत: किया गया था-

- **भाषा के आधार पर**- इससे बंगाली भाषा-भाषी बंगाल में ही अल्पसंख्यक बन गयें, क्योंकि 1 करोड़ 70 लाख लोग बंगाली भाषा बोलते थे, जबकि हिन्दी एवं उड़िया बोलने वालों की संख्या 3 करोड़ 70 लाख थी।
- **धर्म के आधार पर** -क्योंकि पश्चिमी बंगाल हिन्दू बहुसंख्यक क्षेत्र था, जहां हिन्दुओं की संख्या कुल 5 करोड़ 40 लाख में से 4 करोड़ 20 लाख थी तथा पूर्वी बंगाल मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्र था, जहां कुल आबादी 3 करोड़ 10 लाख में से मुसलमानों की आबादी 1 करोड़ 80 लाख थी। मुसलमानों के प्रति प्यार दिखाते हुये कर्जन ने कहा कि ढाका नये मुस्लिम बाहुल्य प्रांत (पूर्वी बंगाल) की राजधानी बनेगा। इससे मुसलमानों में एकता बढ़ेगी, जो कि मुगल शासकों के समय उनमें पायी जाती थी। इस प्रकार बंगाल विभाजन के निर्णय से स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज, कांग्रेस एवं स्वतंत्रता आंदोलन को दुर्बल बनाने के लिये मुस्लिम सम्प्रदायवाद को उभारना चाहते थे।

उदारवादियों द्वारा बंगाल विभाजन का विरोध (1903-1905)

इस काल में उदारवादी, जिन्होंने बंगाल विभाजन के विरोध में सक्रिय भूमिका निभायी उनमें सुरेंद्रनाथ बनर्जी, के. के. मित्रा तथा पृथ्वीचंद्र राय प्रमुख थे। उदारवादियों ने सरकार के इस निर्णय के विरोध में सरकार को प्रार्थनापत्र सौंपे, सभायें आयोजित कीं, निंदा प्रस्ताव पारित किये तथा हितवादी, संजीवनी एवं बंगाली जैसे पत्रों के माध्यम से बंगाल विभाजन का विरोध किया। उदारवादियों का उद्देश्य था कि भारत एवं इंग्लैण्ड में शिक्षित भारतीयों के माध्यम से एक ऐसा जनमत तैयार किया जाये जो बंगाल विभाजन के निर्णय को वापस लेने हेतु अंग्रेज सरकार पर दबाव डाल सके।

किंतु भारतीयों के विरोध स्वर की उपेक्षा करते हुये भी सरकार ने जुलाई 1905 में बंगाल विभाजन की घोषणा कर दी। घोषणा के कुछ दिनों के भीतर ही लगभग पूरे बंगाल में विरोध सभायें आयोजित की गयीं। इन सभाओं में सबसे पहले विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का निर्णय लिया गया। 7 अगस्त, 1905 को बंगाल विभाजन के विरोध में कलकत्ता के टाउन हाल में एक विशाल प्रदर्शन आयोजित किया गया जहां से स्वदेशी आंदोलन प्रारम्भ करने की घोषणा की गयी। इसके पश्चात् राष्ट्रवादी नेताओं ने बंगाल के विभिन्न भागों का दौरा किया तथा लोगों से मैनचेस्टर के कपड़ों एवं लिवरपूल के बने नमक का बहिष्कार करने का आग्रह किया।

16 अक्टूबर, 1905 को जब बंगाल विभाजन विधिवत रूप से लागू हुआ। आंदोलनकारियों ने यह दिन 'शोक दिवस' के रूप में मनाया। लोगों ने व्रत रखे, गंगा में स्नान किया तथा नंगे पांव पदयात्रा करते हुये वंदे मातरम गीत गाया। (कालांतर में वन्दे मातरम गीत, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का सबसे मुख्य गीत बन गया।) विभाजित बंगाल के दोनों भागों के लोगों ने आपसी एकता प्रदर्शित करने हेतु एक-दूसरे के हाथों में राखियां बांधी। इसी दिन सुरेंद्र नाथ बनर्जी एवं आनंद मोहन बोस ने एक विशाल जनसभा को संबोधित किया, जो कि स्वतंत्रता आंदोलन से संबंधित संभवत: अब तक की सबसे विशाल जनसभा थी। जनसभा में शामिल प्रदर्शनकारियों ने बंगाल विरोधी अभियान चलाने के लिये चंदे के रूप में 50 हजार रूपये एकत्र किये।

शीघ्र ही यह विरोध प्रदर्शन बंगाल से निकलकर भारत के अन्य भागों में भी फैल गया। पूना एवं बंबई में इस आंदोलन का नेतृत्व बाल गंगाधर तिलक ने किया जबकि पंजाब में लाला लाजपत राय एवं अजीत सिंह ने, दिल्ली में सैय्यद हैदर रजा एवं मद्रास में चिदम्बरम पिल्लई ने इसे नेतृत्व प्रदान किया।

कांग्रेस की स्थिति : 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले की अध्यक्षता में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में निम्न दो प्रस्ताव पारित किये गये -(1) कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियों एवं बंगाल विभाजन की आलोचना करना (2) बंगाल में बंग-भंग विरोधी अभियान तथा स्वदेशी अभियान को समर्थन देना।

इस संबंध में उग्रवादी राष्ट्रवादी यथा-बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल एवं अरविंद घोष का मत था कि विरोध अभियान का प्रसार बंगाल से बाहर पूरे देश में हो तथा इसे विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तक ही सीमित न रखकर इसे स्वतंत्रता प्राप्ति का एक उपकरण बनाया जाये। परंतु इस समय कांग्रेस में नरमपंथियों का प्रभुत्व था तथा वे इसे बंगाल के बाहर चलाये जाने के पक्ष में नहीं थे। 1906 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में आयोजित किया गया। इस अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस ने प्रस्ताव पारित किया कि कांग्रेस का लक्ष्य इंग्लैण्ड या अन्य उपनिवेशों की तरह स्वशासन या स्वराज्य है। धीरे-धीरे उदारवादियों एवं उग्रवादियों में विभिन्न विषयों पर मतभेद निरंतर बढ़ते गये, जिसकी चरम परिणति 1907 के सूरत अधिवेशन में दिखायी दी, जब कांग्रेस दो धड़ों में विभक्त हो गयी। इस विभाजन का स्वदेशी अभियान एवं अन्य तात्कालिक आंदोलनों पर गंभीर प्रभाव पड़ा।

उग्रवादी राष्ट्रवादियों की गतिविधियाँ

राष्ट्रवादियों ने बंग भंग को राष्ट्रीय चुनौती के रूप में स्वीकार किया। सारे बंगाल में जन सभायें हुयीं तथा तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय तथा अरविंद घोष ने कई स्थानों पर विदेशी वस्तुओं की दुकानों के समक्ष धरना दिया गया। तथा विदेशी वस्तुओं की सार्वजनिक रूप से होली जलायी गयी। स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार हेतु समितियां बनायी गयीं। नेताओं ने लोगों से स्कूलों, कालेजों, सरकारी कार्यालयों सरकारी सेवाओं न्यायालयों, व्यवस्थापिका सभाओं, नगरपालिकाओं एवं राजकीय उपाधियों इत्यादि का बहिष्कार करने की अपील की। इस अवसर पर अरविंद घोष ने कहा 'शासन संचालन को अवरूद्ध कर दो, ऐसे किसी भी कार्य या प्रयत्न से दूर रहो जिससे इंग्लैड के व्यापार-वाणिज्य को लाभ पहुचाना हो तथा भारत का आर्थिक शोषण होता हो।' उन्होने लोगों से आह्वान किया कि वे एकजुट होकर अंग्रेजी शासन-तंत्र को असफल बनाने हेतु आगे आये। उग्र राष्ट्रवादियों ने बंग-भंग विरोधी आंदोलन तथा स्वदेशी अभियान को जन आंदोलन का स्वरूप देने का प्रयत्न किया तथा उपनिवेशी शासन से भारत को आजादी मिले, का नारा दिया । अरविंद घोष ने स्पष्ट किया कि 'राजनीतिक स्वतंत्रता ही राष्ट्र की जीवन सांसें' हैं। इस प्रकार गरमपंथियों ने भारतीय स्वतंत्रता की अवधारणा को राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य लक्ष्य बना दिया।

संघर्ष का नया स्वरूप

उग्र राष्ट्रवादियों ने भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान संघर्ष को एक नया स्वरूप प्रदान किया । उन्होंने विरोध कार्यक्रमों, विचारधाराओं एवं रूख को एक नये आयाम से जोड़ा। उन्होंने जुझारू राष्ट्रवाद का प्रचार किया तथा नरमपंथियों की अवधारणा को पूर्णतया नकार दिया। इस अभियान के तहत संघर्ष के जो विभिन्न तरीके अपनाये गये, वे इस प्रकार थे-

- **विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार :** इसके अंतर्गत विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, विदेशी वस्तुओं की होली जलाना, विदेश में निर्मित नमक एवं चीनी का बहिष्कार, विदेशी वस्तुओं के प्रयोग वाले धार्मिक विवाह समारोहों का बहिष्कार करने हेतु ब्राह्मणों से अपील करना तथा धोबियों द्वारा विदेशी कपड़े धोने से इंकार करने का आग्रह करना जैसे कार्यक्रम शामिल थे। यह कार्यक्रम अत्यंत लोकप्रिय हुआ तथा इसे राजनीतिक स्तर पर अत्यंत सफलता मिली।
- **जनसभायें एवं विरोध प्रदर्शन:** ये दोनों माध्यम इस अभियान के दौरान अत्यंत लोकप्रिय हुये तथा जनसंख्या के एक काफी बड़े हिस्से ने इनमें सक्रिय भागीदारी निभायी।
- **स्वयंसेवी संगठनों एवं समितियों का गठन:** इस अभियान में समितियां एवं विभिन्न स्वयंसेवी संगठन जन सहयोग की अत्यंत सशक्त एवं लोकप्रिय संस्थाओं के रूप में उभरे। बारीसाल में अश्विनी कुमार दत्त की स्वदेशी बांधव समिति इसी प्रकार की एक अत्यंत लोकप्रिय समिति थी। इन समितियों ने जन सामान्य में राजनीतिक चेतना का प्रसार किया। समितियों द्वारा जनजागरण हेतु विभिन्न प्रकार के तरीके अपनायें जाने थे, जिनमें व्याख्यानों का आयोजन, स्वदेशी गीतों को गायन, कार्यकर्ताओं को नैतिक एवं शारीरिक प्रशिक्षण, अकाल एवं महामारी जैसी प्राकृतिक आपदाओं के समय सामाजिक सहयोग, नये स्कूलों की स्थापना एवं स्वदेशी दस्तकारी हेतु प्रशिक्षण इत्यादि प्रमुख थे।
- **परम्परागत एवं लोकप्रिय उत्सवों का जुझारू राष्ट्रवादी भावनाओं के प्रसार में उपयोग :** उग्रवादी राष्ट्रवादियों ने विभिन्न परम्परागत एवं लोकप्रिय उत्सव एवं मेलों का प्रयोग, जनाधार बढ़ाने एवं राजनीतिक चेतना के प्रचार-प्रसार में किया। उदाहरणार्थ - तिलक का गणपति एवं शिवाजी उत्सव न केवल महाराष्ट्र अपितु बंगाल में भी स्वदेशी अभियान का एक प्रमुख माध्यम बन गया। बंगाल में परम्परागत लोक नाट्यशालाओं का प्रयोग भी इस अभियान को लोकप्रिय एवं सफल बनाने में किया गया।
- **आत्म विश्वास या आत्म-शक्ति की भावना पर बल:** इस भावना के प्रसार से राष्ट्रीय प्रतिष्ठा एवं विश्वास की भावना को बल मिला तथा गांवों का सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्जन्म हुआ। इसके तहत विभिन्न समाज सुधार कार्यक्रम एवं अभियान चलाये गये जिनमें जाति प्रथा का विरोध, बाल विवाह पर रोक, दहेज प्रथा का विरोध एंव मद्य निषेध इत्यादि प्रमुख थे।

- **स्वदेशी या राष्ट्रीय शिक्षा कार्यक्रमः** रवींन्द्र नाथ टैगोर के शांति निकेतन से प्रेरणा लेकर कलकत्ता में नेशनल कॉलेज खोला गया तथा अरविंद घोष इसके प्रधानाचार्य नियुक्त किये गये। शीघ्र ही देश के कई अन्य भागों में नेशनल स्कूल एवं कॉलेजों की स्थापना की गयी। साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षक को संगठित करने हेतु 15 अगस्त, 1906 को नेशनल काउंसिल ऑफ एजुकेशन की स्थापना की गयी जिससे देशवासियों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित किया जा सके। समाचार पत्रों के माध्यम से शिक्षा के प्रचार को प्रोत्साहित किया गया। तकनीकी शिक्षा के विकास के लिये बंगाल तकनीकी संस्थान की स्थापना की गयी तथा मेधावी छात्रों का उच्च तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने हेतु जापान भेजने की व्यवस्था की गयी।
- **स्वदेशी एवं भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहनः** स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन के कारण भारतीय उद्योगों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। अनेक कपड़ा मिलें, साबुन और माचिस की फैक्ट्रियां, हथकरघा कारखाने, बैंक एवं बीमा कम्पनियां खोली गयी। आचार्य प्रफुल्ल चंद्र राय ने प्रसिद्ध बंगाल कैमिकल स्वदेशी स्टोर की स्थापना की। इस समय भारतीय व्यापारियों में व्यावसायिक कारोबार की अपेक्षा देशभक्ति का उत्साह अधिक था।
- **सांस्कृतिक जगत का प्रभावः** इस काल में महान राष्ट्रवादियों यथा-रवींद्र नाथ टैगोर, रजनीकांत सेन, द्विजेंद्रलाल राय, मुकुंद दास, सैय्यद अबू मोहम्मद इत्यादि ने अनेक राष्ट्रवादी कविताओं एवं गीतों की रचना की जिससे भारतीयों को अभूतपूर्व प्रेरणा मिली। इस अवसर पर रवीन्द्र नाथ टैगोर द्वारा लिखित 'अमार सोनार बांग्ला' नामक प्रसिद्ध गीत ने तो कालांतर में बांग्लादेश के स्वतंत्रता आंदोलन को अभूतपूर्व प्रेरणा दी तथा बांग्लादेश ने इसे राष्ट्रगान के रूप में अपनाया।

चित्रकला के क्षेत्र में अवनीन्द्र नाथ टैगोर ने विक्टोरियन प्रकृतिवाद के वर्चस्व को तोड़ दिया तथा मुगल, अजन्ता एवं राजपूत काल की चित्रकला से प्रेरणा लेकर अनेक राष्ट्रवादी चित्रों का निर्माण किया। प्रसिद्ध भारतीय कला मर्मज्ञ नन्दलाल बोस ने भारतीय कला के प्रोत्साहन में महत्वपूर्ण योगदान दिया गया। उन्हें 1907 में स्थापित इंडियन सोसायटी ऑफ ओरिएंटल आर्ट की प्रथम छात्रवृत्ति पाने का गौरव हासिल किया।

विज्ञान के क्षेत्र में जगदीश चन्द्र बोस, प्रफुल्लचंद्र राय एवं अन्य वैज्ञानिकों के अनेक महत्वपूर्ण अन्वेषण किये, जिनकी न केवल भारत में अपितु पूरे विश्व में प्रशंसा की गयी।

मूल्यांकन

स्वदेशी आन्दोलन अनेक उतार-चढ़ाव से गुजरा एवं इसकी कुछ उपलब्धियाँ तो अवश्य रहीं पर अपनी कुछ सीमाओं के कारण यह व्यापक रूप न ले सका।

- स्वदेशी आन्दोलन उपनिवेशवाद के खिलाफ पहला सशक्त राष्ट्रीय आन्दोलन था। इसने एक ऐसे आन्दोलन की शुरूआत की जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन के सामाजिक आधार को मजबूत बनाया और ऐसे लोगों को जोड़ा जो अब तक इसके अंग नहीं थे। विद्यार्थियों, महिलाओं, निम्न मध्यम वर्गों की भागीदारी बाद के चरण में गाँधीवादी आन्दोलन में दृष्टव्य होती है।

- स्वदेशी आंदोलन ने आत्मनिर्भरता व आत्मशक्ति का नारा दिया। आंदोलनकारियों का मानना था कि सरकार के खिलाफ संघर्ष चलाने के लिए जनतंत्र में स्वावलंबन की भावना भरनी बहुत जरूरी है। इसके लिए दो प्रमुख उपकरण बने स्वदेशी उद्योग व राष्ट्रीय शिक्षा।

  स्वदेशी उद्योगों के विकास के युग में हम विभिन्न क्षेत्रों में शुरुआत देखते हैं। विशेषकर हैन्डलूम स्तर पर नया कपड़ा उद्योग, साबुन, माचिस इत्यादि के कारखानें। बैंक व बीमा कंपनियां भी प्रारंभ हुई। यद्यपि महज देशभक्ति के कारण प्रारंभ हुई। इनमें से ज्यादातर ईकाइयाँ, आवश्यक व्यापारिक ज्ञान के अभाव में समाप्त हो गई तथापि कुछ कारखाने जैसे पी.सी. राय की बंगाल केमिकल फैक्ट्री अवश्य सफल रही।

  स्वदेशी शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य हुए विशेषकर राष्ट्रीय नियंत्रण के तहत जनता के लिए साहित्यिक वैज्ञानिक तकनीकी शिक्षा देने हेतु एक राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् का गठन हुआ। कई जगहों पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई तथा बंगाल में बंगाल नेशनल कॉलेज (शांति निकेतन की तर्ज पर) की स्थापना हुई। इसके प्राचार्य अरविंद घोष बने। शिक्षा को व्यापक बनाने हेतु देशी भाषाएं शिक्षा का माध्यम की बनायी गई। तकनीकी शिक्षा के लिए बंगाल इंस्टीट्यूट की स्थापना की गई। चंदा इकट्ठा कर कोष बनाया गया जिससे छात्रों को ऊँची शिक्षा के लिए जापान भेजा जा सके।

- सांस्कृतिक जीवन पर भी स्वदेशी आन्दोलन का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। विशेषकर साहित्य व कला, विज्ञान के क्षेत्र में। साहित्य के क्षेत्र में कला साहित्य विशेषकर काव्य के लिए इस युग का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। रवीन्द्रनाथ टैगोर, रजनीकांत सेन, द्विजेन्द्रलाल राय, मुकुंददास इत्यादि द्वारा विभिन्न रचनाएं आई। टैगोर द्वारा रचित 'आमार सोनार बांग्ला' बंगाली राष्ट्रवाद का प्रतीक बना जो कालांतर में 1971 में बांग्लादेश की स्वतंत्रता के बाद वहां का राष्ट्रीय गीत बना। इसके अलावा इस समय प्रचलित बंग्ला लोक संगीत पर स्वदेशी आंदोलन की गहरी छाप पड़ी तथा तमाम लोककथाएं भी लिखी गई जैसे दक्षिणारंजन मित्र मजूमदार की ठाकुरमार झुली जो आज भी बंगाल में प्रसिद्ध है।

  कला के क्षेत्र में अवनीन्द्र नाथ टैगोर ने पश्चिमी प्रभाव से मुक्त होकर शुद्ध भारतीय विषयों से प्रेरणा ली और इसके लिए 1906 में 'इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरिएन्टल आर्ट' की स्थापना हुई। इसकी पहली छात्रवृत्ति नंदलाल बोस को मिली। यह प्रभाव विज्ञान के क्षेत्र में भी दिखा जब जगदीश चंद्र बसू और प्रफुल्लचंद्र राय ने महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल की।

  परन्तु उपरोक्त उपलब्धियों के बावजूद यह आंदोलन जल्दी ही बिखर गया। इसके निम्नलिखित कारण थे -

  - व्यापक साम्प्रदायिक एकता का अभाव। यद्यपि स्वदेशी आंदोलन के साथ मुस्लिम भागीदारी दिखती है लेकिन वह व्यापक नहीं थी व अधिकतर मुसलमान विशेषकर खेतिहर मुस्लिम इनसे विलग रहे। इसका महत्वपूर्ण कारण अंग्रेजी सरकार द्वारा हिन्दू-मुस्लिम खाई को बढ़ावा देना रहा। विशेषकर बंगाल की

तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था जिसमें बंगाल के अधिकतर हिन्दू भूस्वामी थे, जबकि मुसलमान खेतिहर मजदूर ने इनको त्वरण प्रदान किया। अंतत: अंग्रेजों की पहल पर ही मुस्लिम लीग की स्थापना हुई जिसने स्वदेशी आन्दोलन का विरोध किया। इसमें कुछ योगदान स्वदेशी आन्दोलन के दौरान जनचेतना को बढ़ावा देने हेतु प्रयुक्त ऐसे पारंपरिक रीति रिवाजों, त्यौहारों व संस्थानों का सहारा लेना भी रहा। यद्यपि आन्दोलनकारियों द्वारा इसका इस्तेमाल ईमानदारी से बिना किसी विद्वेष के अपने लक्ष्य प्राप्ति हेतु किया गया लेकिन सरकार की अलगाव नीति ने इसका कुप्रभाव भी पैदा किया व अंतत: 1907 में हिन्दू-मुस्लिम दंगे होने शुरू हुए।

- सरकार की दमन नीति भी आन्दोलन की समाप्ति का कारण बनी। सार्वजनिक सभाओं-प्रदर्शनों, प्रेस पर प्रतिबंध लगाए गए। आन्दोलन समर्थक छात्रों को स्कूलों से निकाला जाने लगा। सरकारी नौकरियों के दरवाजे इनके लिए बंद कर दिए गए तथा इन पर जुर्माना किया गया। फलत: लंबे समय तक आन्दोलन को चलाने के लिये ऊर्जा नहीं बची।
- इसके अलावा 1907 के कांग्रेस के सूरत विभाजन ने नेतृत्व की ऊर्जा भी समाप्त कर दी। जहां नरमपंथी अलग हो गए वहीं गरमपंथियों में तिलक को 6 वर्ष की कैद, अजीत सिंह व लाला लाजपत राय को निर्वासन दंड, विपिन चंद्र पाल व अरविंद घोष द्वारा सक्रिय राजनीति से संन्यास ने संपूर्ण आन्दोलन को नेतृत्वविहीन कर दिया।
- इसके अलावा आन्दोलन के पास अपना कोई प्रभावी संगठन नहीं था जो किसी भी आन्दोलन की दीर्घजीविता के लिये अनिवार्य शर्त है। साथ ही आन्दोलन की व्यापकता अधिकांशत: शहरी क्षेत्रों तक सीमित रही व इसका प्रसार ग्रामीण क्षेत्रों तक नहीं हो पाया। ऐसे में एक समय बाद आन्दोलन में ठहराव तो आना ही था।

❖❖❖

7

प्रथम विश्व युद्ध की राजनीति (1913-1919)

पृष्ठभूमि

20वीं शताब्दी में प्रथम विश्व युद्ध की घटना सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित करने वाला ऐसा काल है जिसने साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ-साथ औपनिवेशिक जनता को भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया।

इस समय अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जहां साम्राज्यवादी शक्ति अपने कुत्सित हितों यथा-क्षेत्रीय विस्तार, गुटीय हितों की सुरक्षा, साम्राज्यवादी प्रसार के लिए लड़ रही थी, वही उपनिवेशों की जनता अपने राष्ट्रीय हितों के लिए लामबंद हो रही थी। इसका आधार पश्चिमी देशों द्वारा स्वतंत्रता, समानता एवं स्वायत्तता जैसे मूल्य एवं आत्मनिर्णय का सिद्धांत ही था। इस काल में भारतीय उपनिवेश में राष्ट्रीय आन्दोलन ने न केवल गति पकड़ी बल्कि अपना क्षेत्रीय विस्तार भी किया। विभिन्न विचारधाराओं, प्रवृत्तियों व उद्देश्यों पर आधारित राष्ट्रीय आंदोलन में यह चरण एक व्यापक बदलाव का काल था।

इस काल में उदारवादी विचारधारा पर आधारित नरमपंथियों के दोहरे चरित्र का आभास प्रकट हुआ, वहीं उग्र विचारों वाली गरमपंथियों को नये सिरे से जनाधार विकसित करने के विकल्पों पर ध्यान देना पड़ा। दूसरी तरफ युद्धकाल को सुवअसर मानकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक संगठित क्रांतिकारी आंदोलन (गदर आन्दोलन) का प्रारंभ हुआ। इन दोनों के बीच एक नई और अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण तीसरी प्रवृत्ति का उभार देखने को मिला। यह निचले स्तर पर साम्प्रदायिकता वर्गीय व जातीय हितों का उभार था जो कालांतर में राष्ट्रीय आंदोलन के लिए निर्णायक साबित होने वाला था।

प्रथम विश्व युद्ध और भारत

1914 से 1919 तक लड़े गये प्रथम विश्वयुद्ध का भारत से कुछ भी लेना-देना नहीं था। यह युद्ध साम्राज्यवादी यूरोपीय देशों के अपने स्वार्थों के कारण लड़ा गया था। तब भी विडम्बना यह थी कि इस युद्ध ने भारत को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तरीके से प्रभावित किया। ब्रिटेन का उपनिवेश होने के कारण इसे भी युद्ध में शामिल कर लिया गया। युद्ध के दौरान भारत में उपलब्ध प्रत्येक प्रकार के संसाधनों का खूब इस्तेमाल किया गया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उदारवादी दल के नेतृत्व में थी। कांग्रेस ने अंग्रेजों के युद्ध प्रयत्नों में सहायता देने को एक कर्त्तव्य तथा

सौदा करने की भावना से समर्थन दिया, परंतु कुछ लोग ऐसे भी थे कि जो यह समझते थे कि कोई रियायतें नहीं मिलेगी जब तक सरकार पर कोई दबाव नहीं डाला जाएगा।

प्रथम विश्वयुद्ध : भारतीय दृष्टिकोण

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय नेताओं का दृष्टिकोण ब्रिटेन (अथवा मित्र राष्ट्रों) के प्रति सकारात्मक था। आम राय यह थी कि इस युद्ध में ब्रिटेन को सहयोग दिया जाना चाहिए। केवल क्रान्तिकारी ही इस विचार के समर्थक थे कि युद्ध को एक अवसर के रूप में लेते हुए सरकार के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष छेड़ देना चाहिए।

युद्ध के आरम्भ होने पर मित्र राष्ट्रों ने घोषणा की थी कि "वे यह युद्ध किसी साम्राज्यवादी उद्देश्य के लिए नहीं लड़ रहे हैं वरन् विश्व की लोकतांत्रिक व्यवस्था को बचाने के लिए लड़ रहे हैं।" उनके इस कथन पर यकीन करने की कोई वजह न होते हुए भी (क्योंकि तीसरी दुनिया के देशों में तो लोकतंत्र था ही नहीं) कांग्रेस के नेताओं ने यह सोचकर सरकार को सहयोग दिया कि युद्ध में विजयी होने पर सरकार भारत में राजनैतिक सुधार आरम्भ करेगी।

युद्ध काल में कांग्रेस के चार अधिवेशन (1914-1918) हुए। सभी में साम्राज्यवादी युद्ध को समर्थन दिया गया और मित्र राष्ट्रों के विजय की कामना की गई। एक अधिवेशन में तो सरकार के प्रति इस बात के लिए कृतज्ञता व्यक्त की गई कि उसने भारतीय सैनिकों को महाराज की प्रजा की हैसियत से, साम्राज्य के अन्य भागों में निवासियों के साथ, कंधे से कंधा मिलाकर न्याय और अधिकार के पक्ष में लड़ने के लिए भेजा है।

गाँधी ने लोगों को सेना में भर्ती होने और साम्राज्य के पक्ष में लड़ने को प्रेरित किया। उन्हें भर्ती वाला सर्जेंट कहा जाने लगा और सरकार ने उन्हें 'कैसर-ए-हिन्द' की पदवी प्रदान की। राजे महाराजों ने भी सरकार की अग्रणी सहायता की।

युद्ध के प्रति नेताओं के इस दृष्टिकोण के पीछे निहित उद्देश्य को गाँधी के एक कथन द्वारा समझा जा सकता है। 1922 में अपने ऊपर चले मुकद्मे के अवसर पर उन्होंने कहा कि "सेवा की इन सारी चेष्टाओं की प्रेरणा मुझे इस विश्वास ने दी कि ऐसी सेवाओं के जरिए अपने देश के लिए पूर्ण समानता का स्तर प्राप्त करना संभव है।"

राजनीतिक प्रवृत्तियाँ

सूरत में हुये कांग्रेस विभाजन (1907) के परिणामस्वरूप नरमपंथी-गरमपंथी विचारधाराओं पर आधारित राजनीति में बिखराव आ चुका था। नरमपंथियों ने समझौतावादी नीति अपनाकर मार्ले-मिण्टो सुधारों (1909) को समर्थन देकर कांग्रेस पर अपना वर्चस्व बनाये रखा। किंतु इन वर्षों (1914 के पहले तक) में कांग्रेस मात्र एक विचार विमर्श का मंच ही बना रहा। गरमपंथियों को संगठन से बाहर कर दिया गया, तिलक ब्रिटिश दमनात्मक नीतियों के तहत राजद्रोह के आरोप में मांडले भेज दिये गये, वहीं लाला लाजपत राय को देश निकाला दे दिया गया। इन परिस्थितियों में राष्ट्रीय आंदोलन में एक शून्य व्याप्त हो गया। उग्रवादी साहित्यिक व राष्ट्रवादी चेतना प्राप्त नवयुवक वर्ग नेतृत्वहीन हो गया। यह आक्रोशित वर्ग बंगाल की युगांतर जैसे समूह संघों व व्यापक स्तर पर फैली समितियों के माध्यम से क्रांतिकारी गतिविधियों का प्रचार करने लगा। इन क्रांतिकारियों को शरण की खोज, प्रेस कानूनों से मुक्त रहकर क्रांतिकारी साहित्य के प्रचार, शास्त्रार्थों की खोज के लिए देश से बाहर जाना पड़ा। इस दौरान उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय संपर्क स्थापित कर लिया

और अपने संसाधनों को सुरक्षित रख वास्तविक सैन्य षडयंत्र के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

इस दौरान इन क्रांतिकारियों का बंगाल के अतिरिक्त संपूर्ण उत्तर भारत (दिल्ली, पंजाब, संयुक्त प्रांत) से संपर्क स्थापित हो चुका था। इन संपर्कों के माध्यम से इन क्रांतिकारियों का प्रसार विदेशों में रह रहे इन क्षेत्रों की अप्रवासी जनता के बीच हुआ। तत्कालीन परिस्थितियों में कांग्रेस पर नरमपंथियों का प्रभाव था। अपने बुर्जुवाई प्रवृत्ति, क्षेत्रीय नेतृत्वकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित होने की लालसा तथा ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज के आत्मनिर्णय के सिद्धांत को उपनिवेशों में भी लागू करने की घोषणा के बाद भविष्य में संवैधानिक रियायत प्राप्त करने की उनकी महत्वाकांक्षा ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सहयोग के लिये प्रेरित कर रही थी। दूसरी तरफ गरमपंथियों को भी ब्रिटिश दमन से बचने के लिए एवं अपने आन्दोलन को चलाने के लिये कांग्रेस की आवश्यकता थी। फलत: नरमपंथी व गरमपंथी एक मंच पर प्रकट हुये और अपने-अपने हितों को आगे बढ़ाने का प्रयास करने लगे। यद्यपि यह एकता दीर्घकालीन साबित नहीं हुई और 1918 में पुन: इनके बीच विभेद दिखायी देने लगा जिसे कालांतर में गांधीवादी समन्वयकारी राजनीति में पुन: एक मंच पर आने का मौका मिला। ये अप्रवासी भारतीय सरकार के असहयोग से आक्रोशित थे। इन्होंने जल्द ही यह समझ लिया कि विदेशों में उन्हें समानता का अधिकार तभी मिलेगा जब वह एक स्वतंत्र देश के नागरिक होंगे।

इसी दौरान भारत में संकीर्ण आधारों पर गठित मुस्लिम लीग जैसी पार्टियों में आंतरिक मतभेद उभकर सामने आ रहे थे। 1906 के बाद लीग का प्रसार उत्तर पश्चिमी सीमा से बढ़कर संयुक्त प्रांत, बंबई, बंगाल के क्षेत्रों में मध्यवर्गीय, शिक्षित, युवा मुस्लिमों के बीच भी हो रहा था। इन बुद्धिजीवियों ने सीमित जनाधार वाले लीग को व्यापक जनाधार वाला दल बनाने तथा मुस्लिम जनता में राष्ट्रवाद जगाने हेतु कांग्रेस को मंच के तौर पर प्रयोग करने का निर्णय किया।

इन्हीं परिस्थितियों एवं विभिन्न सामुदायिक आकांक्षाओं के बीच प्रथम विश्व युद्ध की राजनीति विकसित होना प्रारंभ हुई। एक तरफ आत्मनिर्णय के सिद्धांत को भारत में लागू करवाने के लिये वैधानिक आंदोलन की आवश्यकता थी तो दूसरी तरफ इस आंदोलन को चलाने के लिये निष्प्राण कांग्रेस का पुनर्गठन अपरिहार्य हो गया था। अत: राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व ने यह समझ लिया कि न केवल कांग्रेस के सामाजिक आधार का विस्तार करना है बल्कि सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीय चेतना का विस्तार भी करना है।

तत्कालीन परिस्थितियों में नरमपंथी एवं गरमपंथी सहयोग के लिए विस्तृत जनाधार सबसे पहली आवश्यकता थी। फलत: हिंदू-मुस्लिम गठबंधन, होमरूल आंदोलन का उदय एवं प्रसार जैसे कार्यों को कांग्रेस के मंच से प्रोत्साहन दिया गया।

परिणामस्वरूप 1916 में लखनऊ पैक्ट पारित हुआ और मुस्लिम लीग को मुसलमानों का प्रतिनिधि मान लिया गया। वहीं होमरूल आंदोलन के रूप में एक संगठित एवं स्वस्फूर्त आंदोलन प्रारंभ हुआ। इसके कर्णधार तिलक और एनीबेसेंट थे। तिलक का प्रभाव क्षेत्र महाराष्ट्र एवं आस पास का क्षेत्र था, वहीं बेसेंट की होमरूल लीग में तिलक के प्रभाव क्षेत्र के अतिरिक्त संपूर्ण भारत था।

होमरूल लीग का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन रहते हुए भारतीयों के लिए स्वायत्त आंतरिक शासन की मांग थी। इस आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन को एक नयी दिशा दी। इसने पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र के अलावा अपेक्षाकृत नये क्षेत्रों में आंदोलन का प्रसार किया। स्थानीय समितियों का गठन कर योग्य नेतृत्व के अधीन जनता को अहिंसात्मक

आंदोलन द्वारा ब्रिटिश सरकार के सम्मुख अपनी मांगे रखने के लिए प्रेरित किया। संभवत: इसी का प्रभाव था जिंसके कारण स्थानीय प्रवृत्ति के समान हितों पर आधारित किसान, मजदूर, जातीय आदि आंदोलनों को एक सांगठनिक स्वरूप की प्रेरणा मिली, जो क्रालांतर में संगठित किसान व मजदूर आंदोलनों का कारण बना। राष्ट्रीय आंदोलन में नये नेतृत्व उभरकर सामने आये। उदाहरण के लिए संयुक्त प्रांत में जवाहरलाल नेहरू किसानों के नेता के रूप में तो जिन्ना मुसलमानों के प्रतिनिधि के रूप में और वाडिया तथा नारायण जोशी मजदूर नेता के रूप में सामने आये।

होमरूल आंदोलन की स्थानीय समितियाँ कांग्रेस के संगठन का आधार बनी और कालांतर में गांधीजी के योग्य नेतृत्व में कांग्रेस को जनांदोलन प्रारंभ करने वाली वास्तविक राजनीतिक दल के रूप में स्थापित करने में इन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

दूसरी प्रवृत्ति के रूप में क्रांतिकारी राष्ट्रवादी आंदोलन गदर आंदोलन के रूप में संगठित हुआ। इसने उग्र प्रयासों द्वारा सशस्त्र विद्रोह कर भारत को स्वतंत्र कराने का प्रयास किया। इस आंदोलन ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर धुरी राष्ट्रों से सहायता प्राप्त करने, अप्रवासी भारतीयों को एकजुट करने का प्रयास किया। यद्यपि ब्रिटिश सामर्थ्य को समझने में ये क्रांतिकारी असफल रहे। किंतु भारतीय राष्ट्रीय चेतना जगाने में इनका अमूल्य योगदान रहा। उदाहरण के लिए विदेशों में रहते हुये अंग्रेजी शिक्षित इन भारतीयों ने साहित्यिक राष्ट्रवाद का माध्यम हिंदी, उर्दू, गुरुमुखी आदि भारतीय भाषाएं बनाई न कि अंग्रेजी। इन भारतीयों ने प्रथम बार विश्व स्तर पर भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष को प्रखर रूप में प्रस्तुत किया और कालांतर में यही नेता भारत में साम्यवादी समाजवादी विचारों के प्रचारक बने। इन विभिन्न आंदोलनों के प्रभाव में भारतीय जनता राष्ट्रवादी मूल्यों को ग्रहण कर रही थी। किंतु इन वैचारिक प्रभावों के साथ प्रथम विश्वयुद्ध के आर्थिक सामाजिक परिणामों ने इन्हें प्रत्यक्ष तौर पर उद्वेलित किया।

इस युद्ध के दौरान बड़े स्तर पर कृषकों व अन्य को भारतीय सैनिकों के रूप में अंतर्राष्ट्रीय युद्धों में भेजा गया था। इन सैनिकों की सामग्री व खाद्य सामग्रियों का प्रबंध भारतीय कोष से किया गया। विभिन्न व्यापारिक गतिविधियों पर अत्याधिक करारोपण किया गया। इस दौरान खाद्यान्न उपज कम होने तथा बढ़ती मांग ने मुद्रास्फीति को जन्म दिया। इस मूल्यवृद्धि से ब्रिटिश व्यापारी कंपनियों, भारतीय जमींदारों तथा व्यापारियों को बड़ा लाभ हुआ, किंतु आम जनता विपन्न हो गई। अकाल, बीमारी, आर्थिक असंतोष ने वर्षों से व्याप्त वर्गीय विभेदों को तीव्र किया।

एक तरफ तो आम भारतीय इन भयावह परिस्थितियों में आक्रोशित हो रहा था, तो दूसरी तरफ भारतीय पूंजीपति वर्ग इस युद्ध के कारण अत्याधिक लाभान्वित हुआ। युद्ध के दौरान आयात बाधाओं, सैनिक साज-समान की आवश्यकता आदि ने भारतीय औद्योगिकीकरण को बढ़ावा दिया। साथ ही कच्चे माल की उपलब्धता ने इनके लाभ को बढ़ाया। इन भारतीय पूंजीपतियों ने मजदूरों को कम मजदूरी देकर पश्चिमी पूंजीपतियों की तरह नये नये उद्योगों का प्रसार किया। इन पूंजीपतियों के लाभ से जहां ब्रिटिश सरकार को युद्ध कालीन परिस्थितियों में मदद मिली वही भारतीय मजदूर असहनीय गरीबी में दब गये।

इस आर्थिक-सामाजिक असंतोष के परिणामस्वरूप भारतीय किसान और मजदूर आंदोलनों का उदय हुआ। रूसी क्रांति के समाजवादी तत्वों का इन पर महत्वपूर्ण असर हुआ। बढ़ती कीमतों, लगानों में वृद्धि, खाद्यान्नों की कमी आदि ने स्थानीय मुद्दों पर आधारित जमींदार-कृषक असंतोष को बढ़ाया। कालांतर में सामाजिक संरचना के स्वरूप ने इन

स्थानीय असंतोष को संकीर्ण धार्मिक रूप प्रदान किया। उदाहरण के लिए बंगाल में यह कृषक प्रजा पार्टी के रूप में तो केरल में मोपला विद्रोह के रूप में प्रकट हुयी।

इन स्थानीय असंतोष के उभरते हिंसक व सांप्रदायिक स्वरूप को रोकने तथा वर्गीय संघर्षों को राष्ट्रीय आंदोलन के तत्वावधान में ब्रिटिश विरोध के रूप में परिवर्तित करने में गांधीजी का महत्वपूर्ण योगदान रहा। गांधीजी ने प्रथम विश्व युद्ध कालीन परिस्थितियों में जनता को संगठित करने का कार्य किया। वे नैतिक आधार पर ब्रिटिश सरकार का समर्थन करते रहे। किंतु युद्धोत्तर कालीन परिणामों यथा ब्रिटिश दमनात्मक कार्यों, रौलेट एक्ट, जलियांवाला बाग एवं हंटर समिति की रिपोर्टों ने उनका मोहभंग कर दिया।

इन उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर प्रथम विश्व युद्ध की राजनीति के व्यापक आयाम उभरकर सामने आते हैं। इस काल में कांग्रेस एक वास्तविक जनाधार आधारित आंदोलन का मंच बना, स्थानीय स्तर के आधारभूत कार्यों के परिणाम स्वरूप योग्य नेतृत्व व जनजागृति फैली। युद्धोत्तर आर्थिक सामाजिक परिणामों ने औपनिवेशिक सत्ता के वास्तविक चरित्र को उजागर किया। यह काल हिंदू मुस्लिम एकता का अभूतपूर्व काल सिद्ध हुआ, जो खिलाफत के मुद्देपर प्रथम संगठित जनांदोलन अर्थात आंदोलन को आंदोलन के वास्तविक रूप अर्थात उचित उद्देश्य (स्वतंत्रता प्राप्ति), विचारधारा (अहिंसात्मक सत्याग्रह) एवं योग्य नेतृत्व (गांधी जी) की प्राप्ति हुई।

प्रथम विश्व युद्ध का भारत पर प्रभाव

प्रथम विश्वयुद्ध के प्रभावों में जहां एक तरफ हिंदू मुस्लिम एकता, संगठित होमरूल आंदोलन तथा गांधीजी के उदय की पृष्ठभूमि तैयार करने जैसे सकारात्मक लक्षण दिखाई देते हैं वहीं इस युद्ध द्वारा उपजे आर्थिक व सामाजिक असंतोष ने संपूर्ण भारतीय जनता को उद्वेलित किया। इस युद्ध ने भारतीय अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक यंत्र के रूप में प्रयोग कर वर्गीय संघर्षों को तीव्र कर दिया। इन उपरोक्त बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए प्रथम विश्व युद्ध के दौरान की भारतीय राजनीति और राष्ट्रीय आंदोलन पर पड़ने वाले उसके महत्वपूर्ण प्रभावों का क्रमवार विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस युद्ध ने भारत के आर्थिक एवं राजनीतिक परिदृश्य को गहराई तक प्रभावित किया। इसे निम्नलिखित प्रकार से देख सकते हैं-

आर्थिक प्रभाव

- सैनिक जरूरतों के लिए 12 लाख लोगों की फौज तैयार की गई। इसके लिए लोगों को सेना में भर्ती होने को बाध्य किया गया। इतनी बड़ी संख्या में युवकों और प्रौढ़ों के सेना में जाने से श्रम बल की कमी उत्पन्न हो गयी जिससे आर्थिक क्रियाओं के संपादन में बाधा आयी।
- सेना के भर्ती के लिए बल प्रयोग और युद्ध में एक लाख भारतीयों के हताहत होने से जन असंतोष में वृद्धि हुई।

- भारत सरकार का रक्षा व्यय 300% तक बढ़ गया। भारतीय राजस्व से 1460 लाख पौण्ड का व्यय किया गया जिससे राष्ट्रीय ऋण में 30% की वृद्धि हुई। इस ऋण को चुकाने के लिए परंपरागत किस्म के छोटे व्यापारियों पर आयकर लगाया गया जो अब तक इससे मुक्त थे। इसके अलावा बुर्जुआ वर्ग पर एक नया कर 'अतिरिक्त लाभ पर कर' भी थोपा गया। इन कदमों ने छोटे व्यापारियों के साथ बुर्जुआ वर्ग में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध असंतोष पैदा किया।
- युद्ध के कारण महँगाई में वृद्धि हुई। इसके कारण समाज के प्रत्येक वर्ग को परेशानी का सामना करना पड़ा।
- मोटे खाद्यान्नों की कीमतों में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई जिसका उपयोग समाज का निम्न वर्ग अधिक करता था। एक तरफ उत्पादित वस्तुओं पर किसान एवं मजदूर वर्ग को अधिक खर्च करना पड़ा तो दूसरी तरफ औद्योगिक क्षेत्र की तुलना में उनकी आय काफी कम बढ़ी। 1911 और 1925 के बीच किसानों पर साहूकारों का ऋण लगभग दुगुना हो गया।
- जूट, कपास, तिलहन आदि व्यापारिक फसलों के कम निर्यात के कारण इनकी खेती करने वाले किसान भी बरबाद हो गये।
- युद्ध काल में हथकरघा उद्योग का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ। उत्तर एवं पश्चिमोत्तर भारत के बुनकरों का उद्योग चौपट हो गया।
- युद्धोपरांत भारतीय एवं ब्रिटिश मुद्राओं की विनिमय दर में लगातर अस्थिरता की स्थिति ने विदेश व्यापार से जुड़े व्यापारियों को प्रतिकूल रूप में प्रभावित किया।
- 1918-19 के दौरान देशभर में अकाल पड़ा। इससे खाद्यान्न उत्पादन में कमी आयी। दूसरी ओर यूरोप में युद्ध के कारण खेती चौपट हो गयी थी। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार ने भारत से खाद्यान्न का निर्यात जारी रखा। इसने देशभर में पहले से व्याप्त असंतोष को और भी बढ़ाया।

राजनीतिक प्रभाव

- महायुद्ध ने भारत के राजनीतिक परिदृश्य को भी प्रभावित किया। देश की आर्थिक दुरावस्था के कारण राजनीतिक मोर्चे पर असंतोष की स्थिति थी। कांग्रेस ने महायुद्ध में भारत के महत्त्वपूर्ण योगदान का हवाला देते हुए दमनात्मक कानूनों की वापसी, प्रांतीय स्वायत्तता आदि की माँग की।
- प्रथम विश्वयुद्ध ने भारत में हिन्दुओं-मुसलमानों के बीच एकता का अवसर प्रदान किया। विश्वयुद्ध में तुर्की की हार और तुर्की विरोधी ब्रिटिश रूख के कारण मुसलमानों के बीच व्यापक असंतोष पैदा हुआ। तुर्की को विघटित किया गया और येरूसलम जैसे पवित्र शहर सहित काफी बड़े इलाके पर अधिकार कर लिया गया। तुर्की और खलीफा को लेकर मुसलमान काफी चिंतित थे। ब्रिटेन अब उनका सबसे बड़ा शत्रु बन गया था। 1918 के लीग के वार्षिक अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित कर ब्रिटिश सरकार से येरूसलम और अन्य धार्मिक स्थलों से अधिकार त्यागने को कहा गया। दूसरी ओर गाँधी लगातार इस बात के लिए प्रयासरत थे कि दोनों समुदायों में

एकता स्थापित हो। वे दोनों समुदायों की एकता को साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के लिए ज़रूरी समझते थे। तुर्की के प्रश्न और गाँधी के प्रयास से मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा में शामिल हुए।

- 1917 की रूसी क्रान्ति विश्वयुद्ध का एक परिणाम थी। इस क्रान्ति का संदेश दुनियाभर में फैला और भारत इससे अछूता नहीं रहा। एक तरफ इस क्रान्ति ने शोषित एवं उत्पीड़ित जनता को विद्रोह की प्रेरणा दी तो दूसरी ओर इसने लोकतंत्र एवं स्वतंत्रता के नाम पर युद्ध करने वाले साम्राज्यवादी देशों के वास्तविक चरित्र को उजागर किया। क्रान्ति के पश्चात् जिस नये समाजवादी सोवियत रूस का निर्माण हुआ उसने साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद का विरोध किया एवं उसके विरूद्ध संघर्ष में सहयोग एवं समर्थन देने का आश्वासन दिया। क्रान्ति ने भारत की युवा पीढ़ी को प्रभावित किया। 1920 के दशक में भारत में वामपंथी राजनीतिक दलों की स्थापना हुई जिनका मजदूरों पर विशेष प्रभाव था। वामपंथी क्रान्तिकारियों की गतिविधियाँ इस दशक की उल्लेखनीय राजनीतिक प्रवृत्ति थी। भगत सिंह जैसे क्रान्तिकारियों ने भी रूसी क्रान्ति से प्रेरणा ली। क्रान्तिकारी विचारों का सर्वोच्च विकास तब हुआ जब उन्होंने यह समझ लिया कि भारत को ब्रिटिश पराधीनता से ही नहीं बल्कि सामन्ती शोषण से भी मुक्ति पानी है। इस विचार के विकास में रूसी क्रान्ति का अहम् योगदान था।
- महायुद्ध ने पश्चिम की अजेयता के साथ-साथ पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठता के मिथक को भी तोड़ दिया। युद्ध के कई मोर्चों पर भारतीय सैनिकों ने यूरोपीय फौजों से सफलतापूर्वक लोहा लिया। एक देश द्वारा दूसरे देश पर किये जाने वाले अत्याचारों ने यूरोपीय नैतिकता की पोल खोल दी।
- युद्ध के दौरान और उसके उपरांत युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण, औपनिवेशिक एवं अर्द्ध औपनिवेशिक देशों जैसे-मिस्र, तुर्की, चीन, कोरिया, हिंदचीन आदि में राष्ट्रीय आन्दोलन की गति काफी तेज हो गयी। चूँकि भारत भी इसी विश्वव्यापी उपनिवेशवाद का एक हिस्सा था अत: यहाँ भी राष्ट्रीय आन्दोलन में तेजी आना स्वाभाविक था।
- युद्ध ने भारतीय बुर्जुआ वर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन के करीब लाने में मदद की। विदेशी प्रतिद्वन्दिता की अनुपस्थिति के कारण भारतीय औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग ने युद्धकाल में खूब लाभ कमाया। युद्ध के उपरांत इस लाभ को जारी रखने के लिए उसे एक सशक्त राष्ट्रीय आंदोलन एवं स्वतंत्र राष्ट्रवादी सरकार की ज़रूरत थी जो उसे विभिन्न प्रतिगामी करों से बचाये तथा युद्धोपरांत उत्पन्न मंदी से निकलने में सहयोग करे। यही वजह थी कि रौलेट सत्याग्रह के प्रतिज्ञा-पत्र पर बंबई के कुल हस्ताक्षर कर्त्ताओं में 74% व्यापारी थे।

प्रथम विश्व युद्ध के प्रमुख आंदोलन

होम रूल लीग आंदोलन

होमरूल का अर्थ है-स्वशासन, जिससे तात्पर्य था ब्रिटिश शासन के अधीन स्वशासन की प्राप्ति अर्थात् ऐसा शासन जिस पर बाह्य रूप से ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण हो, लेकिन आंतरिक नियंत्रण भारतीयों के हाथ में रहे।

इसका प्रमुख उद्देश्य संवैधानिक उपायों द्वारा शांति पूर्वक स्वशासन की प्राप्ति था। इसके साथ ही स्वशासन प्राप्ति में सभी वर्गों, जातियों व क्षेत्रों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना भी इसका प्रमुख लक्ष्य था। इसके लिए होमरूल के नेताओं ने समाज में एकता एवं समानता स्थापित करने का भी प्रयास किया।

इस आंदोलन के माध्यम से इसके नेता मुख्यत: ऐनी बेसेन्ट भारतीय जनता को राजनीतिक निष्क्रियता की अवस्था से जगाना चाहती थी और राजनीतिक अधिकारों के प्रति सचेत करना चाहती थी। होमरूल आंदोलन वास्तव में भारत के लिए स्वशासन की याचना नहीं, बल्कि अधिकार पूर्ण मांग की अभिव्यक्ति था।

कार्यक्रम

होमरूल लीग आंदोलन के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु एक विस्तृत कार्यक्रम अपनाया गया। स्वशासन के प्रति भारतीय जनता में जागरुकता पैदा करना इसका प्रमुख कार्यक्रम था। इसके लिए पत्र-पत्रिकाओं व अन्य माध्यमों का भी सहारा लिया गया और राजनीतिक शिक्षा व राजनीतिक मुद्दों पर बहस आयोजित करके राष्ट्रीय मुद्दों पर जनता में चेतना का विस्तार किया गया। इसके लिए राष्ट्रीय घटनाओं की जानकारी देने हेतु छात्रों के लिए कक्षाओं का आयोजन किया गया। पुस्तकालयों की स्थापना की गई, लोगों के बीच पर्चे बाँटे गये, चंदा एकत्रित कर सामाजिक कार्य हेतु लोगों को प्रेरित किया गया।

दूसरा प्रमुख कार्यक्रम था सामाजिक आधार को निरंतर विस्तृत करना। इसके लिए ग्रामीण व क्षेत्रीय मांगों को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने का प्रयास किया गया। उदाहरण के लिए क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा तथा भाषाई आधार पर राज्यों के गठन को 'स्वराज्य' की मांग से जोड़ना, नमक कर की समाप्ति, भू-राजस्व दरों में कमी आदि ग्रामीण मांगों को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने का प्रयास किया गया।

इसके साथ-साथ विभिन्न वर्गों में एकता बनाए रखने का सफल प्रयास किया गया। हिन्दू मुस्लिम एकता के नारे लगाए गये। छुआछूत व जातिवाद का विरोध किया गया होमरूल के कार्यक्रमों के धर्मनिरपेक्ष स्वरुप को बनाये रखा गया जिससे ब्रिटिश राज द्वारा हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदाय के बीच खाई को बढ़ाया न जा सके।

आन्दोलन का विस्तार

अपने उद्देश्यों व विस्तृत कार्यक्रम के आधार पर होमरूल आंदोलन का स्वरूप अखिल भारतीय तो रहा ही साथ ही इसका विदेशों में भी प्रचार हुआ। भारत में तिलक के नेतृत्व में महाराष्ट्र व कर्नाटक में यह एक संगठित व पदसोपानिक आंदोलन के रूप में उभरा तो दूसरी ओर ऐनी बेसेंट का कार्यक्षेत्र शेष संपूर्ण भारत था जो विकेन्द्रित आधार पर कार्य कर रहा था। प्रत्येक स्थान पर कोई भी तीन सदस्य मिलकर शाखा का निर्माण कर सकते थे। संयुक्त प्रांत में नेहरू व जिन्ना, मद्रास में बेसेंट, कलकत्ता में बी. चक्रवर्ती व जे. बनर्जी आदि इस आन्दोलन के प्रमुख नेता थे।

भारत से बाहर इसका प्रचार मुख्यत: लंदन व अमेरिका में हुआ। लंदन में ग्राहम पोल ने ब्रिटिश जनमत को भारतीय समस्याओं के प्रति अवगत कराया तथा 'स्वशासन' की भारतीयों की मांग की न्यायोचित्तता को ब्रिटिश जनमत

के समक्ष रखा। ब्रिटिश संसद की एक कमेटी ने होमरूल का समर्थन किया।

दूसरी तरफ अमेरिका में इसका नेतृत्व लाला लाजपत राय ने किया। उन्होंने एक सूचना केन्द्र खोला तथा प्रवासी भारतीयों को इस संबंध में जानकारी प्रदान करने व समर्थन जुटाने का कार्य किया। इसके साथ ही भारतीय होमरूल की मांग पर अंतर्राष्ट्रीय जनमत बनाने का भी कार्य किया गया।

आन्दोलन के खत्म होने का कारण

- सरकार ने संवैधानिक सुधारों का वादा किया परिणामस्वरूप ऐनी बेसेंट के नेतृत्व में नरमपंथियों का एक गुट आन्दोलन से अलग हो गया।
- तिलक 'इंडियन अनरेस्ट' के लेखक वेलेन्टाइन शिरोल पर मुकद्मा करने (उन्होंने तिलक को भारतीय अशांति का जन्मदाता कहा था) लंदन चले गये थे।

लीग आन्दोलनों का मूल्यांकन

यह आंदोलन ऐसे दौर में शुरू हुआ था जब गरमपंथी अंग्रेजों के दमनकारी प्रहारों से तथा नरमपंथी 1909 के संवैधानिक सुधारों से निराशा में डूब चुके थे, परिणामत: राष्ट्रीय आंदोलन संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। ऐसे में होम रूल आंदोलन ने कांग्रेस और भारतीयों दोनों को एक नये जोश से भर दिया। इसने राष्ट्रीय आन्दोलन में निम्न प्रकार से योगदान दिया-

- होमरूल के नेताओं ने क्षेत्रीय व स्थानीय मांगों को भी राष्ट्रीय मांगों से जोड़ने का कार्य किया, जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण भारत का जुड़ाव राष्ट्रीय आंदोलन से हुआ और कालांतर में इसने गांधीवादी आंदोलनों के लिए आधार तैयार किया।
- इसी प्रकार होमरूल आंदोलन ने अपने अखिल भारतीय स्वरूप के कारण अब तक अलग-थलग रहे दक्षिण भारतीयों को भी राष्ट्रीय आंदोलन की धारा में लाने का कार्य किया। इसके साथ-साथ अपने धर्म-निरपेक्ष स्वरूप व जातिवाद, छुआछूत के विरोध के कारण हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करने व निम्न वर्ग के लोगों की व्यापक भागीदारी को सुनिश्चित करने में भी अपना योगदान दिया।
- होमरूल के सदस्य अधिकतर युवा नेता थे, जिन्हें इस आंदोलन ने राष्ट्रीय नेतृत्व हेतु प्रशिक्षित किया और नेहरू, जिन्ना जैसे योग्य, नेता आए। बाद में इन्हीं युवाओं ने भविष्य के राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व को संभाला।
- आंदोलन के इन नेताओं में अपने कार्यक्रमों व उद्देश्यों के प्रचार हेतु समितियों का गठन किया, इससे कार्य अधिक कुशलतापूर्वक होता था। कांग्रेस के अंदर भी ऐसी स्थानीय समितियों का गठन किया गया जिसने संगठन को सुदृढ़ बनाया व राष्ट्रीय आंदोलन को संगठनात्मक स्वरूप प्रदान किया। इन समितियों ने ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय साहित्य, पैदल मार्च, भाषण के माध्यम से जनता को राजनीतिक शिक्षा दी और राष्ट्रीय आंदोलन के सामाजिक आधार को व्यापक किया।
- इसी आंदोलन के फलस्वरूप 1919 का एक्ट पारित हुआ, जिसके द्वारा भारतीयों को स्वशासन देने की घोषणा

की गई। अत: यह कहा जा सकता है कि होमरूल आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। परन्तु इसकी कुछ सीमाएं परिलक्षित होती हैं, जिसके कारण यह आंदोलन दीर्घकालीन नहीं हो सका। यह आंदोलन 1917 तक आते-आते कमजोर पड़ने लगा, जिसके निम्न कारण थे :

- नरमपंथ व गरमपंथ में वैचारिक मतभेद। जहां नरमपंथी सरकार से कुछ रियायतें चाहते थे, वहीं गरमपंथी स्वशासन की मांग कर रहे थे। दूसरी तरफ नरमपंथी 1919 के सुधारों को उसी रूप में स्वीकार करना चाहते थे तो गरमपंथी सुधारों में संशोधन हेतु असहयोग आंदोलन चलाना चाहते थे।
- इसकी समाप्ति का दूसरा कारण नेतृत्व के अभाव था। क्योंकि 1917 में स्वशासन दिए जाने की घोषणा के कारण ऐनी बेसेंट आंदोलन से अलग हो गई और तिलक इंडियन अनरेस्ट के लेखक शिरोल पर मानहानि का मुकदमा दायर करने हेतु इंग्लैण्ड चले गए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि होमरूल आंदोलन में अनेक सीमाएं व्याप्त थी। लेकिन फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इसने राष्ट्रीय आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यही कारण है कि होमरूल आंदोलन के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर सरकार ने इसके प्रति आरंभ में दमन की नीति अपनाई जिसके परिणाम स्वरूप बेसेंट को गिरफ्तार कर लिया गया। छात्रों के राजनीतिक बैठकों में भाग लेने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। अन्य महत्वपूर्ण नेताओं को भी गिरफ्तार कर लिया गया।

लेकिन इसका जनता पर विपरीत प्रभाव पड़ा। इससे लोगों में अधिक रोष व्याप्त हो गया। इसके खिलाफ देशव्यापी प्रदर्शन होने लगे। उदहारण के लिए सुब्रमण्यम अय्यर ने अपनी 'नाइटहुड' की उपाधि त्याग दी।

इन परिस्थितियों को देखते हुए अंतत: सरकार ने दमन के स्थान पर समझौतावादी नीति का अवलम्बन किया। श्रीमती बेसेंट को रिहा कर दिया गया। गृह सचिव मांटेग्यू ने भारत में स्वशासन के लिए विभिन्न संस्थानों के क्रमिक विकास और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य से जुड़ी उत्तरदायी सरकार स्थापित करने की घोषणा की।

लखनऊ समझौता (1916)

अपनी स्थापना (दिसम्बर 1906) के समय से ही मुस्लिम लीग कांग्रेस की विरोधी थी। उसका विचार था कि मुस्लिम जनता का हित ब्रिटिश समर्थक दृष्टिकोण बनाये रखने से ही पूरा हो सकता है और इसके लिए कांग्रेस का विरोध करना अपरिहार्य था। फलत: लीग ने कांग्रेस की स्वशासन की माँग को कभी समर्थन नहीं दिया।

किन्तु 1912 - 1916 के बीच परिस्थितियों ने कुछ इस प्रकार आकार ग्रहण किया कि लीग के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। अब मुस्लिम लीग कांग्रेस के समीप आयी और दोनों के बीच 1916 में लखनऊ में एक समझौता हुआ। लीग के परिवर्तित दृष्टिकोण के पीछे निम्न परिस्थितियाँ थी-

- बाल्कन युद्ध (1912-13) में तुर्की की शक्ति काफी घट गयी तथा इसका भू-क्षेत्र कम हो गया। इस युद्ध में ब्रिटेन ने तुर्की को सहयोग देने से इन्कार कर दिया। तुर्की के शासक को दुनियाभर के मुसलमान अपना 'खलीफा'

(प्रधान) मानते थे। इस प्रकार दुनियाँ के सभी मुसलमानों के लिए यह संवेदनशील विषय था। भारतीय मुसलमानों ने तुर्की की शक्ति कम होने के लिए अंग्रेजों को उत्तरदायी माना और कांग्रेस को सहयोग देने का फैसला किया।

- प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुओं-मुसलमानों का समान रूप से दमन किया। अली बंधुओं के अलावा मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और हसरत मोहानी को नजरबंद किया गया। आज़ाद के पत्र 'अलहिलाल' तथा मोहम्मद अली के पत्र 'कामरेड' को प्रतिबन्धित किया गया। इससे युवा मुसलमान ब्रिटिश शासन के विरोधी हो गये।
- मुसलमानों का एक वर्ग बंगाल-विभाजन को अंग्रेजों द्वारा मुस्लिमों के पक्ष में लिया गया निर्णय मानता था। उसका ब्रिटिश शासन से तब मोहभंग हो गया जब सरकार ने बंगाल-विभाजन को रद्द कर दिया।
- इसी समय मुस्लिम लीग के कुछ युवा समर्थक राष्ट्रवादी विचारों से प्रभावित हो रहे थे। वे ब्रिटिश शासन को हिन्दुओं एवं मुसलमानों के लिए समान रूप से अभिशाप समझते थे। यह वर्ग मुसलमानों के हितों पर खतरा न होने की शर्त पर कांग्रेस का सहयोग करने के लिए तैयार था।
- अलीगढ़ में विश्वविद्यालय की स्थापना एवं उसे सरकारी मदद न दिये जाने से भी मुस्लिम समुदाय का शिक्षित तबका सरकार से नाराज हुआ।
- दूसरी तरफ कांग्रेस इस बात को लगातार मानती आ रही थी कि उपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्ष में देश के सभी संप्रदायों, वर्गों की सामूहिक भागीदारी महत्त्वपूर्ण है। साथ ही यह समय क्रान्तिकारी उभार का समय था और लीग का मुस्लिम संस्थाएं एक दूसरे से सहयोग की इच्छुक थी। एसी बेसेंट और बाल गंगाधर तिलक के सहयोग से हुए इस समझौते के प्रावधान इस प्रकार थे-
  - लीग ने स्वीकार किया कि वह कांग्रेस के द्वारा उत्तरदायी सरकार की माँग का समर्थन करेगी।
  - मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन व्यवस्था की माँग को कांग्रेस ने स्वीकार किया।
  - यह तय हुआ कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में कुल निर्वाचित भारतीय सदस्यों का 1/9 भाग मुसलमानों के लिए आरक्षित किया जायेगा। प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं में भी इनके लिए स्थान आरक्षित किये जायेंगे।
  - यह स्वीकार किया गया कि किसी प्रस्ताव को वैसी स्थिति में पास नहीं किया जायेगा जबकि किसी समुदाय के विरूद्ध उसमें प्रावधान हो और 3/4 सदस्य उस आधार पर प्रस्ताव का विरोध करें।

लखनऊ समझौता का मूल्यांकन

सकारात्मक प्रभाव

- इस समझौते के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन के सामूहिक आधार का विस्तार हुआ। कांग्रेस को लीग का समर्थन मिलने से उसकी शक्ति में वृद्धि हुई ब्रिटिश शासन की फूट डालो और राज करो की नीति को इस समझौते ने विफल कर दिया।

- इस समझौते से राष्ट्रीय एकता की भावना मजबूत हुयी और उपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्ष की भारतीय इच्छा और सामर्थ्य में वृद्धि हुई।
- समझौते ने मुसलमानों के अन्दर व्याप्त इस भय को दूर किया कि स्वशासन प्राप्ति की स्थति में कम संख्या के कारण उनकी स्थिति कमजोर होगी।
- समझौते से ब्रिटिश सरकार पर दबाव बढ़ा और इसी के फलस्वरूप उसने भारत के उत्तरदायी सरकार की स्थापना के प्रयास आरम्भ कर दिए। अगस्त 1917 में मांटेग्यू की घोषणा में स्वशासी संस्थाओं और उत्तरदायी प्रणाली के क्रमिक विकास का आश्वासन दिया गया।

नकारात्मक प्रभाव

- इस समझौते ने इस तथ्य को स्थापित किया कि हिन्दुओं और मुसलमानों के हित एक दूसरे के विपरीत हैं और केवल मुस्लिम प्रतिनिधि ही मुस्लिमों के हितों की रक्षा कर सकते हैं। इस धारणा में द्वि–राष्ट्र सिद्धान्त के बीज छिपे हुए थे।
- पृथक निर्वाचन की व्यवस्था मूलत: एक ब्रिटिश विचार था जो फूट डालो और राज करो की नीति से जुड़ा था। कांग्रेस ने इस समझौते में पृथक निर्वाचन को स्वीकार कर अंतत: इस सिद्धान्त को ही समर्थन दिया।
- लीग को उसकी शक्ति के अनुपात में कही ज्यादा तवज्जों दी गयी। 1937 के चुनावों तक लीग एक प्रभावशाली संस्था नहीं थी। लीग के लिए आरक्षित सीटो की संख्या उसके राजनैतिक आधार की अपेक्षा बहुत अधिक थी। उदाहरण के लिए लीग को पंजाब में 50% तथा सिन्ध में 33% सीटे दी गयी जबकि 1937 के चुनाव में लीग को पंजाब कि 84 सीटों में केवल दो सीटों पर तथा सिन्ध की 33 में केवल तीन सीटों पर जीत मिली।
- लीग जिन परिस्थितियों से प्रभावित होकर कांग्रेस की ओर झुकी उनके महत्त्व को नहीं समझा गया। तुर्की के खलीफा के अवमानना और भारत की गुलामी के बीच कोई सम्बन्ध नहीं था। अन्य राष्ट्रीय आधारों के साथ सह कारक सहयोगी हो सकता था पर केवल अपने आप में यह कारक वायवीय प्रकृति का था। इस प्रकार समझौते का आधार ही ठोस नहीं था। यही कारण है कि खिलाफत आन्दोलन के बाद कांग्रेस को लीग का सहयोग कभी नहीं मिला।
- कांग्रेस ने मुस्लिम जनता के अपने राजनैतिक आधार की वृद्धि करने की बजाय इस समझौते के द्वारा अप्रत्यक्षत: यह संदेश दे दिया कि लीग ही मुस्लिमों की प्रतिनिधि संस्था है। परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम समुदाय कांग्रेस के सापेक्ष लीग को अपनी संस्था के रूप में देखता रहा और कांग्रेस से अपने को नहीं जोड़ सका।
- यह समझौता लीग और कांग्रेसी नेताओं के बीच हुआ। समुदायों के बीच की खाई तो वैसी ही बनी रही। उसे पाटने के लिए किसी कार्यक्रम की व्यवस्था इस समझौते में नहीं थी।

गदर आंदोलन

गदर आंदोलन मुख्य रूप से भारत के बाहर रह रहे अप्रवासी भारतीयों द्वारा आरंभ किया गया था। इन आंदोलनकारियों में मुख्य रूप से भारत से निष्कासित क्रांतिकारी, व्यापारी, पंजाब व अन्य क्षेत्रों से विदेश गए किसान, अन्य देशों से लाए गए भारतीय मजदूर तथा ब्रिटिश सेना के वे भारतीय सैनिक थे, जिन्हें ब्रिटिश सेना ने अपने अभियान की समाप्ति के बाद वहीं छोड़ दिया था।

कारण

गदर आंदोलन के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार प्रमुख कारण थे-भारतीय प्रवासियों की विभिन्न ब्रिटिश उपनिवेशों में फैली समस्याएं जैसे भेदभावपूर्ण नीति, कड़े अप्रवासी नियम, पंजीकरण अधिनियम, होटलों व सार्वजनिक स्थलों आदि में प्रवेश पर रोक आदि। इन समस्याओं के समाधान में ब्रिटिश भारतीय सरकार इन अप्रवासियों के साथ असहयोग करती थी, परिणामस्वरूप उनमें एक स्वाभाविक आक्रोश था। चूंकि सामान्यत: यह सीमित वर्ग था और पश्चिमी मूल्यों अर्थात स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व से परिचित था, अत: अपने आक्रोश को एक सांगठनिक रूप देना चाहता था। अन्य कारण था जातीय विद्वेष की भावना क्योंकि गोरे ब्रिटिश मजदूर भारतीय मजदूरों के साथ बुरा व्यवहार करते थे। गोरे मजदूरों व उनके संगठनों ने भारतीय मजदूरों के प्रवेश के खिलाफ आंदोलन शुरू किया और ब्रिटिश सरकार ने गोरे मजदूरों का साथ दिया जिससे भारतीयों में असंतोष व्याप्त था।

अन्य प्रमुख कारण में कामागाटामारू जैसी घटनाओं ने इस आक्रोश को और बढ़ाया। इस जहाज को जिसे भारतीयों को लेकर कनाडा जाना था, कनाडा में प्रवेश रोक दिया गया और इसे वापस भेज दिया गया जिससे लोगों में रोष व्याप्त था।

अंतिम व सबसे प्रमुख कारण जिसने इन असंतोषजनक घटनाओं को दिशा दी वह था प्रथम विश्व युद्ध का आरंभ। गदर आंदोलनकारियों ने इस अवसर को अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने हेतु सशस्त्र संघर्ष आरंभ करना उचित समझा। सशस्त्र संघर्ष हेतु इनको हथियार व अन्य संसाधन उपलब्ध कराने का कार्य विभिन्न देशों में रह रहे सैनिकों ने कराया।

उद्देश्य एवं कार्यक्रम

- सशस्त्र संघर्ष द्वारा अंग्रेजों को बाहर करना
- लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना करना
- समतावादी समाज की स्थापना करना।

लाला हरदयाल

अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु गदर आंदोलनकारियों ने अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग कर आंदोलन को संगठित करने का प्रयास किया। उन्होंने संगठनों की स्थापना द्वारा अपने विचारों का प्रसार किया। जैसे - जी.डी. कुमार की स्वदेश सेवक गृह, यूनाइटेड इंडिया हाउस आदि।

आंदोलनकारियों ने प्रेस की भी सहायता ली। इसके द्वारा एक तरफ जहां इन्होंने अखबारों के माध्यम से सामाजिक सुधारों का प्रयास किया, तो दूसरी तरफ क्रांतिकारी गतिविधियों को प्रोत्साहन व समर्थन प्रदान किया। उदाहरण के तौर पर 1911 में लार्ड हार्डिंग पर बम फेंके जाने को उचित ठहराया तथा अन्य प्रवासियों में राष्ट्रीय चेतना को जागृत किया। वहीं दूसरी ओर इन्होंने प्रेस का प्रयोग ब्रिटिश शोषण को उजागर करने में भी किया। उदाहरण के लिए इन्होंने लोगों को बताया कि भारत में प्रतिव्यक्ति औसत आय कम होना, भारतीय संपदा की लूट, भारतीय उद्योगों का विनाश, सरकार का भेदभावपूर्ण रवैया आदि सभी ब्रिटिश साम्राज्य की देन है। अत: हमें अपनी स्वतंत्रता एवं भविष्य के लिये ब्रिटिश राज के खिलाफ संघर्ष छेड़ देना चाहिए।

इन क्रांतिकारी साधनों के साथ-साथ इन्होंने कड़े कानूनों में परिवर्तन करवाने हेतु समय-समय पर भारत व इंग्लैण्ड में प्रतिनिधिमंडल भेजे। भारतीयों को एकताबद्ध करके प्रथम विश्व युद्ध के दौरान संघर्ष हेतु जागृत करने के लिए भारत की यात्राएं की तथा सैनिकों व किसानों में राष्ट्रवादी भावनाओं का प्रसार किया।

मूल्यांकन

अपने उद्देश्यों व विस्तृत कार्य प्रणाली व साधनों के प्रयोग द्वारा गदर आंदोलन जल्दी ही एक बड़े भाग में फैल गया। इस आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। गदर आंदोलन की सबसे प्रमुख विशेषता या इसका योगदान तत्कालीन समाज की राजनीतिक चेतना का विकास करना था। इसने प्रवासी भारतीयों व भारत में रह रहे भारतीयों के बीच एक कड़ी का कार्य किया जिसके कारण उनमें आपसी संपर्क अधिक बढ़ा।

इस आंदोलन ने संघर्ष हेतु नई रणनीतियों व कार्यक्रमों को विकसित किया। इस आंदोलन ने भास्तीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न बना दिया तथा भारत के बाहर भारतीयों की स्वतंत्रता की मांगों के लिए एक सशक्त जनमत तैयार किया।

गदर आंदोलनकारियों का एक महत्वपूर्ण योगदान उपनिवेशवाद के खिलाफ एक वैचारिक संघर्ष को प्रारंभ करना था। इन्होंने औपनिवेशिक शोषणकारी चरित्र का विश्लेषण कर उसकी वास्तविकता को जनता के समक्ष रखा। इसका एक प्रभाव यह भी हुआ कि अन्य देशों के समक्ष स्वयं को कल्याणकारी व प्रजातंत्र की हिमायती कहने वाली ब्रिटिश सरकार का वास्तविक रूप विश्व के सामने आया। इसके कारण भारत के समर्थन में वैश्विक जनमत का निर्माण हुआ।

गदर आंदोलन का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप इसकी महत्ता को और बढ़ा देता है। इसके सदस्य हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख आदि सभी वर्गों से थें। इसका प्रमुख पत्र गदर भी अनेक भाषाओं में छपता था। इस प्रकार इसने राष्ट्रीय आंदोलनों के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को व्यवहारिकता प्रदान की। गदर आंदोलन की एक और विशेषता या इसका योगदान था-लोकतंत्र व समाजवादी सिद्धांत का प्रचार जैसे समतावादी समाज की स्थापना। इसकी इसी विचारधारा का प्रभाव था जिसके कारण कालांतर में अनेक किसान नेता व कम्युनिस्ट नेतृत्व का उदय हुआ।

इसका एक महत्वपूर्ण योगदान भारत को प्रथम अस्थाई सरकार का गठन करना था जिसे कई देशों में मान्यता भी प्राप्त थी। पहली बार राजा महेन्द्र प्रताप की अध्यक्षता में अफगानिस्तान में भारतीयों की निर्वासित सरकार का गठन हुआ जिसे कई देशों का समर्थन प्राप्त था। साथ ही गदर आंदोलन ने पंजाब में धर्मनिरपेक्ष किसान व राष्ट्रीय आंदोलनों की नींव रखी।

अंतत: यह कहा जा सकता है कि गदर आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन में तो महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ही साथ ही विदेशों में भी भारतीय पक्ष को रखा व समर्थन प्राप्त किया। उपरोक्त विशेषताओं व प्रभावों के बाद भी गदर आंदोलन शीघ्र ही समाप्ति की ओर अग्रसर हो गया, जिसका कारण इसमें अंतर्निहित कुछ कमियां थी। जैसे-

- साधनों के संबंध में दूरगामी रणनीति का अभाव था। उन्होंने सीमित साधनों के साथ संघर्ष आरंभ कर दिया जिसके कारण बाद में ही संघर्ष को विराम देना पड़ा।
- जनशक्ति पर अतिशय विश्वास के कारण भी गदर आंदोलन जल्दी ही समाप्त हो गया। उनको विश्वास था कि भारत में उन्हें पूर्ण समर्थन प्राप्त होगा लेकिन ऐसा नहीं हो पाया क्योंकि पंजाब में सरकार के दमन के कारण लोग इनसे दूर रहे। और पंजाबी महंतों द्वारा इन्हें पतित सिक्ख घोषित कर दिये जाने से अशिक्षित जनता ने इनके साथ सहयोग नहीं किया। शेष भारत में संवैधानिक होमरूल आन्दोलन प्रभावी था तथा सशस्त्र संघर्ष के लिए लोग तैयार नहीं थे। इसके अलावा इसकी सांगठनिक सीमा भी थी जैसे निरंतरता प्रदान करने वाले नेतृत्व व संगठन का अभाव। अधिकतर नेता सैनिक, प्रचारक आदि थे, लेकिन उनमें सांगठनिक क्षमता नहीं थी।

उपरोक्त कुछ सीमाओं के कारण यद्यपि गदर आंदोलन समय से पूर्व समाप्त कर दिया गया (ब्रिटिश दमन द्वारा) लेकिन इसने राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में सराहनीय योगदान दिया तथा उसे कुछ चिरस्थायी मूल्य प्रदान किए।

इस प्रकार समग्र विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम विश्व युद्ध के दौरान भारतीय राजनीति आंतरिक व बाह्य दो स्तरों पर कार्य कर रही थी। और ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के खिलाफ इसको दोनों ही स्तरों पर पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। यद्यपि विभिन्न विचारधाराएं अब भी विद्यमान थी और चाहे उद्देश्य (स्वशासन, ब्रिटिश शासन से मुक्ति) व साधन (संवैधानिक व सशस्त्र संघर्ष) अलग-अलग रहे हों, लेकिन फिर भी अंतिम उद्देश्य में सभी सफल रहे और राष्ट्रीय आंदोलन को तीव्रता प्रदान की। प्रत्येक आंदोलन ने कुछ ऐसे मूलभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जो आगे आने वाले आंदोलनों के लिए आधार बने। जैसे-संवैधानिक साधन, धर्मनिरपेक्षता, ग्रामीण स्तर तक प्रसार, विभिन्न वर्गों को आंदोलन में शामिल करना, हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करना आदि।

अत: यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि प्रथम विश्व युद्ध के दौरान सभी भारतीयों ने व स्वतंत्रता की दिशा में सभी ने अपने स्तर पर एकताबद्ध प्रयास किए। परिणामत: गांधीवादी आंदोलनों का स्वरूप विशिष्ट वर्गीय व क्षेत्रीय न रहकर सभी वर्गों को समाहित किए हुए और अखिल भारतीय बना रहा।

खिलाफत आंदोलन

पृष्ठभूमि

1918 ई. में दिल्ली में मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन सम्पन्न हुआ जिसमें एम.ए. अंसारी ने अरब भूमि को खलीफा को वापस करने की मांग की। गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अंसारी के साथ 1919 ई. में लखनऊ के एक सम्मेलन में अखिल भारतीय खिलाफत समिति का गठन किया जिसके अध्यक्ष बंबई के सेठ छोटानी तथा सचिव

मौलाना शौकत अली थे।

फरवरी 1920 ई. को मौलाना अबुल कलाम आजाद के नेतृत्व में खिलाफत सम्मेलन कलकत्ता में हुआ जिसमें असहयोग आंदोलन के पक्ष में एक प्रस्ताव पारित हुआ तथा एक खिलाफत दिवस मनाने का निर्णय लिया गया। अगले कुछ महीनों में कई अन्य बैठकें हुई जब 15 मई, 1920 ई. को तुर्कों के साथ सेव्रे की संधि की घोषणा हुई। बाद में केंद्रीय खिलाफत समिति ने अपनी बंबई बैठक में 1 अगस्त से असहयोग शुरू करने का निर्णय लिया।

कारण

खिलाफत आन्दोलन 'खलीफा' के मुद्दे से जड़ा हुआ था। ऑटोमन तुर्क साम्राज्य का सुल्तान सम्पूर्ण मुस्लिम जगत के लिए मुहम्मद साहब का उत्तराधिकारी अर्थात् खलीफा था। इसके साथ ही वह इस्लाम के प्रमुख धार्मिक स्थलों का स्वामी भी था। तुर्की के सुल्तान ने प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी का साथ दिया था। जर्मनी की हार के साथ ही यह स्पष्ट हो गया था कि तुर्की के साथ सम्मानजनक व्यवहार नहीं होगा। उस समय मुस्लिम समाज में यह आशंका बलवती होने लगी कि खलीफा के सम्मान को चोट पहुंचेगी।

इग्लैंड के प्रधानमंत्री ने मुस्लिमों को इसके लिए आश्वासन दिया था, परन्तु फिर भी पूरे विश्व में प्रयास की जरूरत महसूस की गयी जो विभिन्न खिलाफत कमेटियों के गठन में दृष्टव्य होती है।

इसी संदर्भ में जब 1920 में सेव्रे की संन्धि घोषित हुई जिसमें तुर्की साम्राज्य के विघटन के साथ अन्य कठोर शर्तें थीं। इसे एक आन्दोलन का रूप दे दिया।

जहाँ तक गाँधीजी व उनके पहल पर कांग्रेस द्वारा इस आन्दोलन के समर्थन का कारण है तो गाँधी जी खिलाफत को हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापना का एक ऐसा अवसर मानते थे जो अगले 100 सालों में भी नहीं प्राप्त होगा। गाँधीजी का लक्ष्य हिन्दू-मुस्लिम एकता द्वारा सत्याग्रह के माध्यम से मुसलमानों की सुरक्षा सुनिश्चित करना, आंतरिक शांति स्थापित करना व सांप्रदायिक एकता समन्वय सहिष्णुता का लक्ष्य प्राप्त करना था।

घटनाक्रम

दिसंबर 1920 ई. में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में खिलाफत आंदोलन के समर्थन में एक प्रस्ताव पारित किया गया । कांग्रेस तथा खिलाफत समिति के बीच त्रिपक्षीय उद्देश्यों के लिये समझौता हुआ, जिसमें गांधी जी ने प्रमुख भूमिका निभायी थी। यह उद्देश्य थे पंजाब की शिकायतों को दूर करना, खिलाफत की गलतियों को संशोधित करना तथा स्वराज्य की स्थापना। यह आंदोलन पूरे देश में फैल गया जिस पर थोड़ी बहुत ब्रिटिश प्रतिक्रिया हुई। परिणामस्वरूप, 8 जुलाई, 1921 ई. को अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन कराँची में हुआ जिसमें भारतीय सेना से मुस्लिम सैनिकों को अपनी नौकरी छोड़ देने का आह्वान किया गया। गांधी द्वारा 1922 ई. के शुरू में असहयोग आंदोलन

को समाप्त करने के निर्णय ने खिलाफतियों को विभाजित कर दिया। 1922 ई. तुर्की में यंग तुर्क विद्रोह ने आंदोलन का ध्यान भंग कर इसे निरर्थक बना दिया।

परिणाम

यद्यपि खिलाफत आन्दोलन ने प्रारंभिक दौर में हिन्दू-मुस्लिम एकता को बहुत बढ़ावा दिया तथा इसका प्रतिफल हम असहयोग आन्दोलन के दौरान व्यापक मुस्लिम-हिन्दू एकता का परिदृश्य पाते हैं जिसने कांग्रेसी प्रभाव को गावों तक पहुंचा दिया। साथ ही इससे मुस्लिम समुदाय में व्यापक राष्ट्रीय भावना का प्रसार हुआ तथा भारत की पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव कांग्रेस से पहले मुस्लिम संगठन द्वारा स्वीकार किया गया।

लेकिन इस एकता की सफलता सतत नहीं रह पाई। इसका बड़ा कारण यह था कि सरकार के विरुद्ध एकजुट होकर लड़ते समय भी कांग्रेस व खिलाफत के उद्देश्य अलग-अलग थे। गाँधी खिलाफत को आजादी की लड़ाई के लिए इस्तेमाल कर रहे थे जबकि खिलाफत से जुड़े मुस्लिम भारत की स्वतंत्रता के लिए उतना नहीं लड़ रहे थे जितना इसीलिए कि तुर्की की स्वतंत्रता बनाई रखी जाये।

ऐसे में असहयोग की वापसी व तुर्की की जनमत द्वारा खलीफा के पद की समाप्ति ने हिन्दू मुस्लिम एकता के आधार को ही समाप्त नहीं किया अपितु उस तीव्र धार्मिक भावना को भी जन्म दिया जिसकी अभिव्यक्ति सांप्रदायिक दंगों की श्रृंखला में हुई।

❖❖❖❖❖

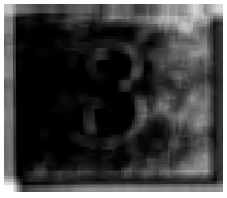

राष्ट्रीय आंदोलन और गाँधी (1915-1935)

पृष्ठभूमि

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में गांधीजी का उद्‌भव एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में जाना जाता है। उन्होंने तत्कालीन भारतीय राजनीति में एक नई विचारधारा का सूत्रपात किया तथा कांग्रेस की ढुलमुल नीतियों की निन्दा करते हुए अन्याय का दृढ़ता से विरोध करने का आह्‌वान किया। गाँधी जी ने 1915 में भारत आगमन के बाद राष्ट्रीय आंदोलन को अहिंसा और सत्याग्रह जैसे दो अचूक शस्त्रों से लैस किया, जिसका वे सफल प्रयोग अपने दक्षिण अफ्रीका प्रवास के दौरान कर चुके थे। गाँधीवादी आंदोलन की मुख्यत: दो प्रवृत्तियां दिखायी देती हैं। पहली, स्थानीय मुद्दों पर आधारित विभिन्न वर्गों की समस्याओं का समाधान कर उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ना तथा दूसरी; हिन्दू-मुस्लिम एकता द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन के जनाधार को व्यापक बनाना। गाँधी जी ने भारत में अहिंसा और सत्याग्रह का सफल प्रयोग चम्पारण (1917), खेड़ा (1918) और अहमदाबाद (1918) के आंदोलनों में किया। इसके बाद 1920-22 में खिलाफत आन्दोलन शुरूकर हिन्दू-मुस्लिम एकता द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया आयाम दिया। गाँधी जी ने असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलनों का नेतृत्व कर जनसाधारण को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ा और अंतत: भारत छोड़ो आन्दोलन द्वारा भारत की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त किया।

गाँधीवादी दर्शन

महात्मा गाँधी कोई मौलिक विचारक नहीं थे, लेकिन उनकी विचारधारा पर अपने जीवन, धर्म, समय की परिस्थितियों, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं, अन्य धर्मों तथा दार्शनिकों के विचारों का प्रभाव पड़ा जिसके आधार पर उन्होंने अपना व्यवहारिक दर्शन प्रस्तुत किया। महात्मा गाँधी कोई राजनैतिक दार्शनिक नहीं थे, इसलिए उनकी तुलना प्लेटो, रूसो, हीगल, मिल आदि दार्शनिकों से नहीं की जा सकती। उनकी तुलना महात्मा बुद्ध और सुकरात से की जा सकती है। वास्तव में गांधी जी एक व्यवहारिक पुरूष अथवा कर्मयोगी थे। उनका दर्शन एक जीवन दर्शन है जिसमें सत्य और अहिंसा का प्रमुख स्थान है। उन्होंने अन्याय के विरोध के लिए प्रयोग किए गए, अपने तरीके को सत्याग्रह का नाम दिया। निर्भीकता उनके सत्याग्रह का आवश्यक अंग था।

सत्य के सच्चे पुजारी के रूप में उनका विश्वास था कि सत्य ईश्वर है और ईश्वर सत्य है और ईश्वर (मानवता का) प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है। अहिंसा उनके सत्याग्रह का परम आवश्यक अंग था। अहिंसा का अभिप्राय अन्यायी के आगे चुपचाप झुक जाना नहीं है, अपितु अपनी आत्मा को अन्यायी की इच्छा के विरूद्ध लड़ाना है। उसके प्रति घृणा नहीं, प्रेम, अहिंसा तथा दया की भावना से, जिससे उसकी आत्मा प्रभावित हो जाए और उसका हृदय परिवर्तन हो जाए। वह अंग्रेजों के विरूद्ध नहीं थे, बल्कि उनकी साम्राज्यवादी नीतियों के विरोधी थे। इसकी जड़ में उनका यह विश्वास था कि मनुष्य की प्रकृति मूलतः अच्छी है और एक अन्यायकारी का मन, सत्याग्रहियों के आत्म बलिदान से स्वतः बदल जाएगा और अन्त में सत्य अर्थात् न्याय की ही विजय होगी।

गांधीजी के व्यक्तिगत दर्शन का सार था कि मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य सत्य की प्राप्ति है। चूँकि अंतिम सत्य की प्राप्ति कठिन है ऐसे में प्राप्त सत्य के आधार पर नैतिक कार्य संपन्न करने चाहिए। प्रारंभिक चरण में ब्रिटिश साम्राज्य पर अपनी नैतिक आस्था उन्होंने इसी आधार पर की थी कि ब्रिटिश राज न्याय पर आधारित है।

चूंकि उनका विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार द्वारा लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना संभव होगी और पश्चिमी उदारवादी तत्वों स्वतंत्रता, समानता तथा बंधुत्व का प्रसार करने वाली ब्रिटिश सरकार भारतीयों को प्रथम विश्व युद्ध के बाद उत्तरदायी सरकार स्थापित करने में मदद देगी। इसीलिए युद्ध में कांग्रेस ने राजभक्ति का पर्याप्त परिचय दिया। महात्मा गांधी ने स्थान-स्थान पर जाकर लोगों को सेना में भर्ती और युद्ध के लिए प्रयत्न करने की प्रेरणा दी। उन्होंने इसी आधार पर प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटिश राज को अपना नैतिक समर्थन प्रदान किया । किंतु प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर अंग्रेजों की नीतियों में आए परिवर्तन से उपजे असंतोष एवं ब्रिटिश दमनात्मक कार्यवाहियों को गांधी जी ने अनैतिक बताया। रौलेट एक्ट, जलियांवाला बाग कांड जैसी दमनात्मक घटनाओं के कारण मूल गांधीवादी दर्शन में थोड़ा परिवर्तन आया, किन्तु आंदोलन का गांधीवादी स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहा, जिसने कालान्तर में भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन को सशक्त जनांदोलन में परिवर्तित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उनके अनुसार ब्रिटिश सरकार द्वारा औपनिवेशिक सत्ता को अंतिम सत्य मानकर हिंसात्मक गतिविधियों द्वारा भारतीयों पर ब्रिटिश शासन का आरोपण एक अविवेकी और अत्याचारी कार्य है। इसके बाद गांधी जी ब्रिटिश साम्राज्य के विरोध के लिए सत्याग्रह को एक प्रमुख हथियार के रूप में प्रयोग किया।

इन आंदोलनों में साधन और साध्य में एकरूपता देखी गई। अहिंसात्मक सत्याग्रह के साधनों में मुख्यतः ब्रिटिश कानूनों का शांतिपूर्ण उल्लंघन करना, सामूहिक गिरफ्तारियां देना, शांतिपूर्ण मार्च एवं हड़तालों का आयोजन करना, समझौतों एवं वार्ताओं द्वारा सकारात्मक समाधान का प्रयास करना तथा आंदोलन के दौरान संगठनात्मक कार्यों पर विशेष बल देना आदि गुण प्रमुख थे। इन साधनों की आंशिक झलक प्रारम्भिक गांधीवादी आंदोलनों में भी दिखाई देती है। परंतु बाद के लगभग सभी आंदोलनों यथा असहयोग, सविनय अवज्ञा, व्यक्तिगत सत्याग्रह आदि में इन साधनों का कुशल प्रयोग परिलक्षित होता है।

निश्चित रूप से गांधीवादी दर्शन, आंदोलन के साधनों और गांधीवादी आंदोलनों के स्वरूप की पृष्ठभूमि इन प्रारंभिक गांधीवादी आंदोलनों के दौरान ही बनी थी या यह कहना ज्यादा समीचीन होगा कि दक्षिण अफ्रीका में प्राप्त किये गये व्यापक कार्यात्मक अनुभवों ने गांधी को तात्कालिक भारतीय परिस्थितियों में अपने प्रयोगों को विशिष्ट एवं व्यवस्थित रूप में करने के लिए प्रेरित किया था। इन कार्यों की प्रेरणा उन्हें अपने राजनीतिक गुरू गोपाल कृष्ण गोखले

से भी मिली थी। गाँधी जी के जीवन दर्शन पर जिन अन्य महापुरूषों का प्रभाव परिलक्षित होता है, उनमें अमेरिकन हेनरी डेविड थोरो, जॉन रस्किन और रूसी लियो टॉल्सटाय का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

महात्मा गाँधी का जीवन दर्शन 'जियो और जीने दो' में विश्वास करता है। उनके अनुसार छोटे-बड़े सभी राष्ट्र समान हैं और इसलिए एक का दूसरे द्वारा शोषण अथवा एक दूसरे पर आक्रमण नहीं होना चाहिए। सारी मानव जाति आध्यात्मिक एकता में बंधी होती है और इस एकता को भंग करना पाप है। विश्व बंधुत्व की भावना के विकास के लिए यह आवश्यक है कि सभी अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा शांतिपूर्ण ढंग से किया जाए। ऐसा करने से विश्व शांति स्थापित हो सकती है जो कि मानव रक्षा, प्रगति और कल्याण के लिए अति अवश्यक है। संक्षेप में गाँधी जी द्वारा बताया गया जीवन दर्शन वास्तव में मानव, समाज, राज्य तथा संसार के लिए एक मार्गदर्शन है। इसमें अन्य सभी प्रसिद्ध विचारधाराओं जैसे प्रजातंत्र, समाजवाद, साम्यवाद, आदर्शवाद, राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद आदि अच्छाइयों का अनोखा समन्वय है।

गाँधीवादी आन्दोलनों की रणनीति : संघर्ष-विराम-संघर्ष

गाँधीवादी आन्दोलन दीर्घकालीन संघर्ष की रणनीति से प्रेरित थे और इसके लिये रणनीति संघर्ष-विराम-संघर्ष के रुप में विकसित की गयी। इस अवधारणा में पहले दौर में संविधानेत्तर माध्यमों से सशक्त जनांदोलन चलाए जाते इसके फलस्वरूप सरकार से कुछ रियायतें प्राप्त की जाती। इसके बाद तत्कालीन कानूनी ढ़ाँचें के अंतर्गत उपलब्ध अधिकारों का उपयोग करते हुए गहन सामाजिक-आर्थिक रचनात्मक कार्य किया जाता तथा प्राप्त रियायतों को अपर्याप्त सिद्ध किया जाता। इस प्रकार इस विराम के दौर का उपयोग पहले की तुलना में अधिक प्रभावशाली आन्दोलन छेड़ने के लिये ताकत संजोई जाती। यह रणनीति असहयोग आन्दोलन से आरम्भ हुई और इसका चरम भारत छोड़ो आन्दोलन में दिखायी देता है।

वस्तुतः यह गाँधीवादी रणनीति कुछ परिकल्पना पर आधारित थी। इस परिकल्पना के मुख्य तत्व थे -

- जनांदोलन का चरित्र ही ऐसा होता है कि देर-सवेर उसमें ठहराव आ जाता है। आन्दोलन की केन्द्र बिन्दु जनता है जनता की संघर्ष की क्षमता सीमित है।
- विराम काल का उपयोग वैचारिक सक्रियता द्वारा जनमानस की संघर्ष क्षमता बढ़ाने तथा औपनिवेशिक दमन का मुकाबला करने की शक्ति बढ़ाने के प्रयास के रूप में था। इसके लिये रचनात्मक कार्यों का सहारा लिया जाता। ये रचनात्मक कार्य थे- खादी, ग्रामोद्योग, हिन्दू मुस्लिम एकता, राष्ट्रीय शिक्षा, अस्पृश्यता के खिलाफ संघर्ष, वस्त्र तथा शराब का बहिष्कार आदि। इन रचनात्मक कार्यों के माध्यम से लाखों लोगों को राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति चेतना जागृत कर उन्हें आन्दोलन की मुख्य धारा से जोड़ा जा सकता।
- इस प्रकार नयी क्षमता एवं नये उत्साह के साथ जनता को आन्दोलन के लिये पुनः तैयार कर एक नया शक्तिशाली आन्दोलन चलाया जा सकता है।

इस पूरी रणनीति को गाँधीजी के इन शब्दों से समझा जा सकता है। "योग्य सेनापति लड़ाई के मैदान और लड़ाई के समय का चुनाव अपनी पसंद से करता है। इन मामलों में पहल वह हमेशा खुद करता है। सत्याग्रह की लड़ाई में लड़ाई के तरीके और रणकौशल का चुनाव यानी आगे बढ़ना है या पीछे हटना है, सविनय अवज्ञा करनी है या

रचनात्मक कार्य, स्थिति की अपेक्षाओं को देखकर किया जाता है।" निष्कर्षत: सवाल यह नहीं था कि बातचीत की जाए या नहीं। सवाल यह था कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बातचीत करने का यह उचित अवसर है या नहीं, बातचीत किस तरह हो, उसका विषय क्या हो, उसका नतीजा क्या निकलेगा और समझौता हो तो उसकी शर्तें क्या हों।

प्रारम्भिक आंदोलन

चम्पारण सत्याग्रह (1917)

चम्पारण का मामला काफी पुराना था। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गोरे बागान मालिकों ने किसानों से एक अनुबंध करा लिया था जिसके अंतगर्त किसानों को अपनी भूमि के 3/20वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था। यह व्यवस्था 'तिनकठिया पद्धति' के नाम से जानी जाती थी। 19वीं सदी के अंत में जर्मनी में रासायनिक रंगों (डाई) का विकास हो गया जिसने नील को बाजार से बाहर कर दिया। इसके कारण बिहार में चम्पारण के बागान मालिक नील की खेती बंद करने को विवश हो गये। किसान भी मजबूरन नील की खेती से छुटकारा पाना चाहते थे। किन्तु परिस्थितियों को देखकर गोरे बागान मालिक किसानों की विवशता का फायदा उठाना चाहते थे। उन्होंने दूसरी फसलों की खेती करने के लिये किसानों को अनुबंध से मुक्त करने की एवज में लगान व अन्य करों की दरों में अत्यधिक वृद्धि कर दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने द्वारा तय की गयी दरों पर किसानों को अपने उत्पाद बेचने के लिये बाध्य किया। किसानों ने इसका विरोध किया तो उनके विरूद्ध शक्ति का उपयोग किया गया। इस समय तक गाँधी जी की कांग्रेस में एक सक्रिय नेता के रूप में पहचान बन गयी थी। अत: किसानों ने गांधी जी को चम्पारण बुलाने का फैसला किया। 1917 में चम्पारण के एक स्थानीय कांग्रेसी नेता राजकुमार शुक्ल ने गाँधी से लखनऊ में भेंट की और उनसे चम्पारण आने का आग्रह किया।

फलत: गांधीजी राजेन्द्र प्रसाद, बृज किशोर, मजहर उल-हक, महादेव, देसाई, नरहरि पारिख तथा जे.बी. कृपलानी के सहयोग से मामले की जांच करने चम्पारण पहुंचे। गांधी जी के चम्पारण पहुंचते ही अधिकारियों ने उन्हें तुरन्त चम्पारण से चले जाने का आदेश दिया। किन्तु गांधीजी ने इस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया तथा किसी भी प्रकार के दंड को भुगतने का फैसला किया। सरकार के इस अनुचित आदेश के विरूद्ध गांधीजी ने अहिंसात्मक प्रतिरोध या सत्याग्रह का आंदोलन शुरू कर दिया। गांधीजी की दृढ़ता के सम्मुख सरकार विवश हो गयी, अत: उसने स्थानीय प्रशासन को अपना आदेश वापस लेने तथा गांधीजी को चम्पारण के गांवों में जाने के लिये एक आयोग का गठन किया तथा गांधीजी को भी इसका सदस्य बनाया गया। गांधीजी आयोग को यह समझाने में सफल रहे कि तिनकठिया पद्धति समाप्त होनी चाहिए। उन्होंने आयोग को यह भी समझाया कि किसानों से पैसा अवैध रूप से वसूला गया है, उसके लिये किसानों को हरजाना दिया जाये। बाद में एक और समझौते के पश्चात् गोरे बागान मालिक अवैध वसूली का 25 प्रतिशत हिस्सा किसानों को लौटाने पर राजी हो गये। इसके एक दशक के भीतर ही बागान मालिकों ने चम्पारण छोड़ दिया। इस प्रकार गांधीजी ने भारत में सत्याग्रह आंदोलन का प्रथम युद्ध सफलतापूर्वक जीत लिया। एन. जी. रंगा ने महात्मा गाँधी के चम्पारण सत्याग्रह का विरोध किया, जबकि रवीन्द्र नाथ टैगोर ने चम्पारण सत्याग्रह के दौरान ही इन्हें 'महात्मा' की उपाधि दी।

अहमदाबाद मिल हड़ताल (1918)

चम्पारण के पश्चात् गांधीजी ने अहमदाबाद मिल मजदूरों के हड़ताल के मुद्दे पर हस्तक्षेप किया। यहां मिल मालिकों और मजदूरों में प्लेग बोनस को लेकर विवाद छिड़ा था। गांधीजी ने मजदूरों को सलाह दी कि वे शांतिपूर्ण एवं अहिंसक ढंग से अपनी हड़ताल जारी रखें। अंतत: गांधीजी ने मजदूरों के समर्थन में भूख हड़ताल प्रारम्भ करने का फैसला किया। यह गाँधी जी द्वारा किसी आंदोलन में शुरू किया गया पहला भूख हड़ताल था। अंबालाल साराभाई की बहन अनुसुइया बेन ने इस संघर्ष में गांधीजी को सक्रिय सहयोग प्रदान किया। इस अवसर पर उन्होंने एक दैनिक समाचार पत्र का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया। गांधीजी के अनशन पर बैठने के फैसले से मजदूरों के उत्साह में वृद्धि हुई तथा उनका संघर्ष तेज हो गया। मजबूर होकर मिल मालिक समझौता करने को तैयार हो गये तथा सारे मामले को एक ट्रिब्यूनल को सौंप दिया गया। जिस मुद्दे को लेकर हड़ताल प्रारम्भ हुई थी, ट्रिब्यूनल के फैसले से वह समाप्त हो गया। ट्रिब्यूनल ने मजदूरों के पक्ष में निर्णय देते हुए मिल मालिकों को 35 प्रतिशत बोनस मजदूरों को भुगतान करने का फैसला सुनाया। गांधीजी के सत्याग्रह आंदोलन की यह दूसरी सफलता थी।

खेड़ा सत्याग्रह (1918)

वर्ष 1918 के भीषण दुर्भिक्ष के कारण गुजरात के खेड़ा जिले में पूरी फसल बरबाद हो गयी थी, फिर भी सरकार ने किसानों से मालगुजारी वसूल करने की प्रक्रिया जारी रखी। राजस्व संहिता के अनुसार यदि फसल का उत्पादन कुल उत्पाद के एक-चौथाई से भी कम हो तो किसानों का राजस्व कर की अदायगी से मुक्त कर देना चाहिए, किन्तु सरकार ने लगान माफ करने से इन्कार कर दिया। फलस्वरूप गांधीजी ने किसानों को राजस्व अदा न करने तथा सरकार के दमनकारी कानून के खिलाफ संघर्ष करने की प्रेरणा दी। खेड़ा जिले के युवा अधिवक्ता बल्लभभाई पटेल, इंदुलाल याज्ञनिक तथा कई अन्य युवाओं ने गांधी जी के साथ खेड़ा के गांवों का दौरा प्रारम्भ किया। इन्होंने किसानों को लगान न अदा करने की शपथ दिलायी। गांधीजी ने घोषणा की कि यदि सरकार गरीब किसानों का लगान माफ कर दे तो लगान देने में सक्षम किसान स्वेच्छा से अपना लगान अदा कर देंगे। परंतु सरकार ने लगान वसूलने के लिये दमन का सहारा लिया। कई स्थानों पर किसानों की संपत्ति कुर्क कर ली गयी तथा उनके मवेशियों को जब्त कर लिया गया। इसी बीच सरकार ने अधिकारियों को गुप्त निर्देश दिया कि लगान उन्हीं से वसूला जाये जो लगान दे सकते हैं। इस आदेश से गांधीजी का उद्देश्य पूरा हो गया तथा आंदोलन समाप्त हो गया।

प्रथम जनान्दोलन-असहयोग (1920–1922)

असहयोग का अर्थ

असहयोग का अर्थ है कि यदि कोई सरकार जनता के इच्छा के अनुरूप कार्य नहीं करती है तथा जनता की समस्याओं के समाधान का प्रयास नहीं करती तो ऐसी सरकार के साथ सभी प्रकार के सहयोगात्मक संबंधों व कार्यों को समाप्त कर लेना चाहिए। इसमें सत्याग्रह का साधन के रूप में प्रयोग करके शोषणकारी सरकार से नैतिक दबाव द्वारा अपनी मांगे मनवाने का पयास किया जाता है।

असहयोग का राजनीतिक संघर्ष के एक साधन के रूप में प्रयोग सर्वप्रथम भारत में महात्मा गांधी ने किया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जनता पर किए गए अत्याचार एवं युद्धकालीन वायदों जैसे-स्वशासन प्रदान करना, प्रत्येक सरकारी विभाग में अधिक भारतीयों की नियुक्ति व ब्रिटिश सरकार के एक अंग के रूप में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना आदि कारकों ने गांधी जी को सरकार के विरुद्ध असहयोग हेतु प्रेरित किया।

असहयोग आंदोलन की पृष्ठभूमि

प्रथम विश्व युद्ध (1913-19)

प्रथम विश्वयुद्ध में भारत ने ब्रिटेन की सहायता की। गाँधी जी ने लोगों से सेना में भरती होने की अपील की। युद्ध के दौरान अमेरिका एवं मित्र राष्ट्रों ने घोषणा की कि यह युद्ध प्रजातंत्र की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है। यह भी कहा गया कि युद्ध के बाद उपनिवेशों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जायेगा। इसके अलावा अगस्त 1917 की माण्टेग्यू घोषणा में भी भारत को क्रमिक रूप से स्वशासन देने की घोषणा की गई। इन सभी घोषणाओं से भारतीयों के मन में उम्मीद की किरण पैदा हुई। किन्तु युद्ध में विजय के बाद एक भी घोषणा को जब पूरा नहीं किया गया तो असंतोष फैलना स्वाभाविक था। युद्ध के दौरान तथा युद्धोपरान्त की आर्थिक कठिनाइयों ने भी असंतोष में वृद्धि की और आंदोलन के निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार की।

रूसी क्रान्ति (1917)

नवम्बर 1917 में रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई और रूसी साम्राज्यवाद का अंत हुआ। रूस ने अपने उपनिवेशों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया। भूमिहीनों को भूमि का वितरण किया गया तथा सामंती शोषण का अंत हुआ। रूसी क्रान्ति की जिस चीज ने सारे संसार को प्रेरित किया वह थी, आम लोगों की शक्ति और उनका साहस। इस क्रान्ति ने भारत के निम्न, मध्य एवं बुद्धिजीवी वर्ग को समान रूप से प्रभावित किया और उन्हें आंदोलन की प्रेरणा दी।

1919 का अधिनियम

युद्धकालीन सहयोग और माण्टेग्यू घोषणा से भारतीय सकारात्मक सुधारों की आस लगाये बैठे थे। इसके विपरीत 1919 के अधिनियम के तहत होने वाले सुधार निराशाजनक थे। प्रान्तों में द्वैध शासन, आंशिक उत्तरदायित्व, विषयों का केन्द्रीय व प्रान्तीय भागों में बंटवारा-सभी प्रावधान अपर्याप्त, असंतोषजनक और निराशाप्रद थे। इस अधिनियम ने भी आंदोलन की भूमिका तैयार की।

रौलेट एक्ट

कांग्रेस और गाँधीजी ने राजनैतिक सुधारों की आशा में प्रथम विश्व युद्ध में अंग्रेजों को सहयोग देने के लिए भारत वासियों से अपील की थी, लेकिन युद्ध समाप्ति के बाद जब ब्रिटिश सरकार ने रौलेट एक्ट (अराजकतावादी तथा क्रांतिकारी अपराध अधिनियम, 1919) केन्द्रीय विधान परिषद में पेश किया तो कांग्रेस स्तब्ध रह गयी। इस कानून

के तहत बिना वारंट तलाशी, अमान्य साक्ष्य को मान्य बनाने, बंदी प्रत्यक्षीकरण को रद्द करने, संदेहमात्र पर गिरफ्तारी तथा निर्धारित न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध कहीं भी अपील न किये जाने जैसे कठोर प्रावधान थे। गाँधी जी ने प्रस्तावित रौलेट एक्ट के विरोध में रौलेट सत्याग्रह आरंभ किया, जिसमें जनता का अपार समर्थन मिला। आंदोलन को दबाने के लिए अंग्रेजों ने दमन का सहारा लिया तो जन असंतोष और भी भड़क उठा। उल्लेखनीय है कि 1917 में जस्टिस रौलेट की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई थी, जिसने भारत में बढ़ रही आतंकवादी गतिविधियों पर नियंत्रण बनाये रखने के लिए 1918 में एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके आधार पर भारत की केन्द्रीय विधान परिषद में एक विधेयक पेश किया गया, जिसे 'रौलेट एक्ट' के नाम से जाना जाता है।

जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड (13 अप्रैल, 1919)

रौलेट कानून के विरोध में चल रहे आंदोलन के दौरान कांग्रेस के दो नेताओं सैफूद्दीन किचलू और डॉ. सत्यपाल की गिरफ्तारी पर विरोध जताने के लिए अमृतसर में 13 अप्रैल, 1919 को बैसाखी के दिन एक विशाल जनसभा आयोजित की गई। पंजाब सरकार ने सभाओं पर प्रतिबंध लगाया था पर सभा में शामिल होने वाले दूर-दराज से आये लोगों (इनमें बहुसंख्यक देहाती थे, जो बैशाखी के मेले में भाग लेने आये थे) को इस प्रतिबंध की जानकारी नहीं थी।

अमृतसर शहर उन दिनों राष्ट्रवादी गतिविधियों का केन्द्र बन गया था, इसीलिए वहाँ की शांति व्यवस्था की जिम्मेदारी एक कुख्यात पुलिस अधिकारी जनरल डायर को सौंप दी गई थी। जनरल डायर ने शांतिपूर्ण चल रही सभा को चारों तरफ से घेर लिया और बिना चेतावनी दिये ही भीड़ पर गोलियां चलाने का आदेश दे दिया। उसके सिपाही तब तक गोलियां चलाते रहे जब तक उनकी गोलियां खत्म न हो गईं। इस घटना में हजारों लोग मारे गये और लगभग तीन हजार लोग घायल हुए। इस बर्बर नरसंहार के विरोध में रवीन्द्र नाथ टैगोर ने 'नाइट' की उपाधि वापस कर दी तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पूर्व अध्यक्ष सर शंकरन नायर ने वायसराय की कार्यकारिणी से त्यागपत्र देकर इस जघन्य घटना के प्रति विरोध जताया।

खिलाफत का मामला

तुर्की का खलीफा सिद्धान्त रूप में सारे दुनियाँ के मुसलमानों का प्रधान था। प्रथम विश्वयुद्ध में तुर्की मित्र राष्ट्रों के खिलाफ जर्मनी का सहयोगी था। भारतीय मुसलमानों को युद्ध में सहयोग देने के लिए प्रेरित करने हेतु ब्रिटेन ने तुर्की के खलीफा के सम्मान की रक्षा करने की बात कही। किन्तु युद्ध के पश्चात् 1920 की सेव्रे की संधि के द्वारा ईरान, मेसोपोटामिया, सीरिया और फिलीस्तीन पर तुर्की सल्तनत के अधिकार को खत्म कर दिया गया। तुर्की के खलीफा के प्रभाव को खत्म होते देख भारतीय मुसलमान उत्तेजित हो गये और उन्होंने खलीफा और उसके साम्राज्य की रक्षा के लिए खिलाफत आंदोलन की शुरूआत की। उन्होंने गांधी से सहयोग माँगा तो गाँधी ने उनको असहयोग आंदोलन आरम्भ करने का सुझाव दिया। खिलाफत कमेटी ने जून 1920 में सर्वसम्मति से गाँधी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

गाँधी जी ने अब कांग्रेस पर भी असहयोग आंदोलन आरम्भ करने का दबाव डाला। उन्होंने खिलाफत को एक अच्छे अवसर के रूप में देखा। इस समय असहयोग आंदोलन आरम्भ करने पर मुस्लिमों का भरपूर सहयोग मिलना तय था। इस तथ्य ने भी असहयोग की पृष्ठभूमि तैयार की।

असहयोग आंदोलन का आरंभ

असहयोग आंदोलन

कांग्रेस और भारतीय जनता इस उम्मीद में थी कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार शासन व्यवस्था में उनके अधिकारों का विस्तार करेगी, पर 1919 के माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों और रौलेट एक्ट जैसे छलावों ने उनके उम्मीदों पर पानी फेर दिया। अंततः गाँधी जी ने 22 जून, 1920 को वायसराय को चेतावनी देते हुए एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने इस बात का उल्लेख किया कि कुशासन करने वाले शासक को सहयोग देने से इनकार करने का अधिकार हर आदमी को है। उन्होंने पत्र में इस बात का भी जिक्र किया कि यदि सरकार भारतीयों को स्वशासन देने के अपने वादे से पीछे कदम हटाती है तो वे असहयोग आन्दोलन छेड़ने के लिये बाध्य होंगे। सरकार की तरफ से कोई संतोषजनक जवाब नहीं मिलने के कारण गाँधी जी ने 1 अगस्त, 1920 को असहयोग आंदोलन शुरू कर दिया। सारे देश में हड़तालें आयोजित की गईं, प्रदर्शन हुए और सभाओं का आयोजन किया गया। सितम्बर 1920 में कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में कांग्रेस ने आंदोलन को मंजूरी दी। दिसम्बर 1920 के नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में असहयोग प्रस्ताव को विधिवत पास किया गया। इस प्रस्ताव में आंदोलन से संबंधित कार्यक्रम के अलावा अन्य बातों पर विस्तार से चर्चा की गयी।

असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम

नकारात्मक कार्यक्रम (सरकार के संदर्भ में)

- सरकारी या अर्द्धसरकारी स्कूलों, कॉलेजों, न्यायालयों तथा 1919 ई के सुधारों पर आधारित परिषदों के चुनाव का बहिष्कार।
- सरकारी उपमानों (रायबहादुर आदि) तथा स्थानीय संस्थाओं की मनोनीत सीटों से त्यागपत्र देना।
- सरकारी या अर्द्धसरकारी कार्यक्रमों में शामिल होने से इन्कार करना।
- सैनिक, लिपिक पदों पर भारतीयों द्वारा अंग्रेजों को प्रशासन तथा अपनी मातृभूमि के शोषण करने में सहायता करने से इन्कार करना।
- अंग्रेजी वस्त्रों एवं उत्पादों का बहिष्कार करना।

सकारात्मक कार्यक्रम (राष्ट्रवादी आन्दोलन के संदर्भ में)

- राष्ट्रीय स्कूलों, कॉलेजों तथा निजी मध्यस्थ न्यायालयों की, जिसे पंचायत कहा जाता था, पूरे देश में स्थापना करना।
- हाथ से सूत कताई एवं बुनाई को पुनर्जीवित कर स्वदेशी तथा खादी को लोकप्रिय बनाना।
- हिंदुओं तथा मुसलमानों के बीच एकता का विकास करना।
- हरिजन कल्याण के लिए अस्पृश्यता समाप्त कर अन्य सुधार करना।
- महिलाओं का उत्थान तथा उनके विकास के लिए प्रयत्न करना।

आंदोलन की प्रगति

1920 के प्रारम्भ से ही आंदोलन के कार्यक्रम पर अमल होने लगा। आंदोलन की प्रगति दो रूपों में परिलक्षित हुई। प्रथम अखिल भारतीय असहयोग स्तर पर तथा क्षेत्रीय स्तर पर किसान आंदोलनों के रूप में (प्रतापगढ़ किसान आंदोलन)। इसे निम्न बिन्दुओं के अंतर्गत व्यक्त किया जा सकता है-

- विधान परिषदों के चुनावों का बहिष्कार किया गया।
- गाँधी सहित कई नेताओं ने अपने पदक/उपाधियों को वापस कर दिया।
- सी. आर. दास, नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, बल्लभ भाई पटेल आदि ने वकालत छोड़ी।
- सरकारी स्कूलों का बहिष्कार कर काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, राष्ट्रीय कॉलेज लाहौर, जामिया मिलिया इस्लामिया (दिल्ली) आदि राष्ट्रीय कॉलेजों की स्थापना की गयी।
- मौलवियों ने जिहाद अथवा हिजरत (देशांतरण) का फतवा जारी किया। मुहम्मद अली ने मुसलमानों से सेना की नौकरी छोड़ने की अपील की।
- लोगों ने चर्खा चलाने, खद्दर पहनने, अस्पृश्यता निवारण तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रति प्रतिबद्धता जतायी।
- नवम्बर 1921 में प्रिंस ऑफ वेल्स के आगमन के अवसर पर हड़ताल आयोजित कर उनका बहिष्कार किया गया।
- इस आंदोलन ने कई स्थानीय आंदोलनों को जन्म दिया। असम में चाय-बागान मजदूर हड़ताल पर गये, बंगाल और असम के रेल कर्मचारियों ने हड़ताल की, आंध्र के वन कानून के खिलाफ आंदोलन हुआ, राजस्थान में किसानों और आदिवासियों ने आंदोलन छेड़ा तथा पंजाब में अकालियों ने गुरूद्वारों पर भ्रष्ट महंतों के खिलाफ आंदोलन छेड़ दिया।
- आंध्र प्रदेश की प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने कर न देने का निश्चय किया, किन्तु गाँधी ने उन्हें मना कर दिया।
- विदेशी कपड़ों का बहिष्कार सबसे सफल रहा। जगह-जगह विदेशी कपड़े एकत्र कर उनकी होली जलायी गयी। 1920-21 में जहाँ 1.2 अरब रूपये मूल्य के विदेशी कपड़ों का आयात हुआ था, वहीं 1921-22 में यह घटकर 57 करोड़ रूपया रह गया।
- खादी राष्ट्रीय आंदोलन की प्रतीक बन गयी। खादी और चरखे का खूब प्रचार हुआ।
- आंदोलन के लिए स्थापित 'तिलक स्वराज फण्ड' को लक्ष्य (एक करोड़ रूपया) से ज्यादा की प्राप्ति हुई।

आंदोलन का स्थगन (चौरी-चौरा कांड)

5 फरवरी, 1922 को उ.प्र. के गोरखपुर जिले के चौरी-चौरा नामक स्थान पर आंदोलनकारियों की एक भीड़ ने पुलिस कार्यवाही से नाराज होकर 21 पुलिस कर्मियों को थाने में बंदकर आग लगा दी। इस घटना में सभी 21 पुलिसकर्मी मारे गये। गाँधी के लिए सत्य और अहिंसा का प्रश्न स्वराज से बड़ा था। अतः उन्होंने आंदोलन को स्थगित किये जाने की घोषणा की। गाँधी के इस निर्णय की नेहरू और सुभाष सहित सभी अग्रणी नेताओं ने निंदा की।

असहयोग आंदोलन का स्थगन : आलोचनात्मक समीक्षा

असहयोग आंदोलन को ऐसे वक्त पर स्थगित करने से जबकि जन उभार चरम पर था, गाँधी के ऊपर गंभीर आरोप लगाये गये। विद्वानों ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार रखे हैं-

- कहा गया है कि आंदोलन पर अब गांधी का अधिकार नहीं रह गया था और वह अब जनसाधारण के हाथ में पहुँच गया था। गांधी आंदोलन पर अपना नेतृत्व बनाये रखना चाहते थे, क्योंकि उन्हें डर था कि एक बार यदि आंदोलन जनसाधारण के हाथ में चला गया तो बुर्जुआ वर्ग के हितों की रक्षा करना मुश्किल हो जायेगा।
- उपर्युक्त विचार का समर्थन करते हुए कहा गया कि यही कारण था कि गांधी ने आंध्र प्रदेश में कर न देने के आंदोलन को सहमति नहीं दी। कांग्रेस कार्य-समिति ने किसानों से कहा कि भू-राजस्व न देना देश के हितों के विपरीत एवं कांग्रेस के नीतियों के विरूद्ध है। कार्यसमिति ने जमींदारों को आश्वासन दिया कि कांग्रेसी आंदोलन का उद्देश्य जमींदारों के कानूनी अधिकारों को किसी प्रकार से हानि पहुँचाना नहीं है।
- कहा गया है कि किसानों द्वारा जमींदारों को लगान न देना तो विरोध का सर्वाधिक शांतिपूर्ण यद्यपि अत्यधिक क्रान्तिकारी तरीका है। अत: अहिंसा का वास्तविक उद्देश्य वर्गीय हितों की रक्षा तथा वर्ग शोषण को बनाये रखना था।
- ऐसे विद्वानों ने अहिंसा पर ही सवाल खड़ा किया है। उनका विचार है कि अहिंसा एक बुर्जुआ अवधारणा है जो अंतिम संघर्ष को तिलांजलि देने और मूलभूत परिवर्तनों को रोकने के लिए प्रयोग की गयी।

इस प्रकार उपरोक्त धारणा के समर्थक विद्वानों का विचार है कि यदि आंदोलन को जारी रहने दिया जाता तो सारा देश उत्तेजित हो उठता और तब साम्राज्यवाद के साथ-साथ जमींदारी व्यवस्था का भी अंत हो जाता।

इसके विपरीत विद्वानों का एक दूसरा वर्ग आंदोलन के स्थगन के उपरोक्त मत को नकारते हुए इसे सही समय पर लिया गया निर्णय ठहराता है। इस वर्ग के विद्वानों का तर्क इस प्रकार है-

- आंदोलन को आरम्भ हुए एक वर्ष से अधिक समय हो गया था। सरकार का हठ बरकरार था। इससे पहले कि आंदोलन किसी अन्य कारण से कमजोर होता इसे वापस ले लेना ही ठीक था।
- 1921 के उत्तरार्द्ध में कुछ स्थानों को छोड़कर जगहों पर आंदोलन कमजोर हो रहा था। स्कूलों, अदालतों, विदेशी कपड़ों के बहिष्कार में कमी आने लगी थी। रैलियों में भी लोग कम संख्या में जुट रहे थे। ऐसी हालत में आंदोलन की वापसी का निर्णय सही था।
- कोई भी आंदोलन लगातार नहीं चलाया जा सकता। जनता की त्याग करने एवं दमन सहने की एक सीमा होती है। ऐसी स्थिति में आंदोलन को स्थगित करना एक रणनीति हो सकती है ताकि जनता अगले संघर्ष के लिए तैयार हो सके।
- असहयोग आंदोलन की रणनीति यह थी कि यदि अहिंसा पर आधारित आंदोलन के प्रति ब्रिटिश सरकार हिंसात्मक कार्यवाही करेगी तो उसका दमनात्मक स्वरूप सामने आयेगा जो जनमत को उसके खिलाफ कर देगा। चौरी-चौरा की घटना इस रणनीति के विरूद्ध जाती थी। हिंसा का जवाब सरकार हिंसा से देती, दमन करती और आंदोलनकारियों का मनोबल टूट जाता।

- आंदोलन के स्थगन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि गांधी बारदोली से सविनय अवज्ञा आंदोलन आरम्भ करना चाहते थे और चाहते थे कि जब यह आंदोलन आरंभ हो तब सारे देश में कहीं भी हिंसा न हो। उनका सोचना था कि हिंसा होने पर सरकार उसी बहाने अवज्ञा आंदोलन का दमन करेगी और वह आरम्भ में ही असफल हो जायेगा।
- गांधी का निर्णय बुर्जुआ हितों से नहीं जुड़ा था। कहीं भी जमींदारी को खत्म करने का आंदोलन नहीं चल रहा था। इस अवधि में जहाँ कहीं किसान आंदोलन चल रहे थे, वहाँ जमींदारों द्वारा अवैध वसूली तथा मनमानी मालगुजारी खत्म किये जाने की ही माँगे की गयी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आंदोलन को स्थगित करने का गांधी का निर्णय सही था। जनता की ऊर्जा, उसका उत्साह और मनोबल बरकरार रहा था, जो सविनय अवज्ञा और भारत छोड़ो आंदोलनों में दिखायी देता है। असहयोग आंदोलन के दमन की स्थिति में राष्ट्रीय आंदोलन के तहत किसी अन्य बड़े आंदोलन की संभावना क्षीण हो जाती।

असहयोग आंदोलन की उपलब्धियाँ

- आंदोलन काल में कांग्रेस की सदस्य संख्या 50 लाख तक पहुँच गयी। अब कांग्रेस सही अर्थों में एक अखिल भारतीय संस्था बन गयी थी। किसान, मजदूर, दस्तकार, व्यापारी, व्यवसायी, कर्मचारी, पुरूष, महिलायें, बच्चे, बूढ़े, सभी कांग्रेस के साथ थे। सारे देश में शायद ही कोई जगह ऐसी बची हो जहाँ आंदोलन का असर न पड़ा हो। इस प्रकार असहयोग आंदोलन ने पहली बार देशभर के लोगों को एकजुट किया। यह इसकी एक बड़ी उपलब्धि थी।
- इस आंदोलन ने यह दिखाया कि हिन्दुस्तान की जिस जनता को दीन-हीन, निरक्षर और स्वशासन के अयोग्य समझा जाता था, वही जनता आजादी के संघर्ष में पूरे मनोयोग से जुटी थी। आजादी के संघर्ष की जटिलता को न समझते हुए भी स्वराज का मुद्दा हर हिन्दुस्तानी के दिल को छूता था। यह पहला अवसर था जब राष्ट्रीयता ने गाँवों, कस्बों, स्कूलों--- सभी को प्रभावित किया।
- सांप्रदायिक एकता (यदि मोपला विद्रोह को छोड़ दे तो) इस आंदोलन की बड़ी उपलब्धि थी। यह एकता आंदोलन की सफलता में सहायक थी। इस संघर्ष में हिन्दुओं-मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर लड़ाई लड़ी। गाँधी ने कई बार मस्जिदों से भाषण दिये। कई जगह गिरफ्तार लोगों में दो तिहाई से अधिक मुसलमान होते।
- आंदोलन की एक उपलब्धि यह रही कि स्वदेशी के प्रचार और विदेशी के बहिष्कार ने स्वतंत्रता संघर्ष के लिए जन-आधार तैयार किया जो आगे के आंदोलनों के लिए महत्त्वपूर्ण साबित हुआ।
- कुछ विद्वानों का विचार है कि यदि गाँधी इंग्लैण्ड से वार्तालाप कर पाये तो यह असहयोग के कारण ही। इस आंदोलन ने गाँधी के पीछे चलने वाले अपार जनसमूह की शक्ति से ब्रिटिश राज का परिचय कराया। फलतः मालिक एवं गुलाम का संबंध समाप्त हुआ और उसका स्थान एक संवाद में दो बराबर के साझीदारों ने ले लिया। एक विद्वान का विचार है कि वर्तमान समय में दो देशों के बीच सत्याग्रह द्वारा सच्चे वार्तालाप का इससे बेहतर उदाहरण नहीं मिल पायेगा।

खिलाफत और गाँधी

गाँधी जी ने एक बार अपने जीवन का उद्देश्य बताते हुए कहा था कि जनता के हृदय-परिवर्तन के द्वारा उसके अहिंसा का प्रसार एवं हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना जागृत करना उनके जीवन का उद्देश्य है।

अपने इसी विचार के अनुरूप उन्होंने खिलाफत के मुद्दे को दोनों संप्रदायों के बीच एकता के अच्छे अवसर के रूप में देखा। यद्यपि खिलाफत के प्रश्न से भारत का कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था, फिर भी गाँधी ने खिलाफत आंदोलन का नेतृत्व स्वीकार किया। वायसराय को लिखे पत्र में उन्होंने खिलाफत की समस्या के न्यायपूर्ण हल और भारत के लिए स्वशासन को ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण बताया। इस प्रकार उन्होंने दोनों ही मुद्दों को समान महत्त्व दिया।

गाँधी जी ने घोषणा की कि खलीफा की सहायता करना हर हिन्दू का कर्त्तव्य है। उन्होंने कांग्रेस पर खिलाफत आंदोलन को स्वीकार करने के लिए दबाव डाला। उन्होंने कहा कि यदि सरकार खिलाफत जैसे महान ध्येय के संबंध में धोखा देती है तो हमारे लिए असहयोग करने के सिवाय कोई चारा नहीं रह जाता। गाँधी जी का विचार था कि मुसलमानों के हृदय को जीतने का इससे अच्छा मौका फिर नहीं आयेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गाँधी राष्ट्रीय आंदोलन की सर्वोत्तम रणनीति में मुस्लिम समुदाय को एक अनिवार्य एवं अहम् घटक के रूप में देखते थे, यद्यपि कालान्तर की घटनाओं ने साबित किया कि वह गलत थे।

खिलाफत और असहयोग को एक साथ जोड़ने की उनकी रणनीति की आलोचना इस प्रकार की जाती है-

- सर्व इस्लामवाद का राष्ट्रवाद से स्वाभाविक द्वेष होता है। यह विचारधारा राष्ट्रीयता की सीमा को तोड़ती है, यद्यपि वह अन्तर्राष्ट्रीयता तक (जिसे प्राचीन भारतीय विचारधारा में वसुधैवकुटुम्बकम् कहा गया है) भी नहीं जाती। अपितु वह उस मूल के प्रति आकर्षित होती है जहाँ से निकलकर वह सारी दुनियाँ में फैली है। इस मूल के प्रति आकर्षण राष्ट्र के प्रति विकर्षण पैदा करता है। मुहम्मद अली ने कहा कि यह सोचना भूल है कि भारत के बाहर जो कुछ हुआ है, उस आधार पर हिन्दू-मुसलमानों के बीच मतभेद मिट जाएंगे। उन्होंने कहा कि वे मुसलमान पहले हैं भारतीय बाद में।
- अरब देशों और यूरोप की गैर मुस्लिम आबादी तुर्की सल्तनत की दासता से मुक्ति पाने के लिए आंदोलन कर रही थी। साथ ही स्वयं तुर्की में कमाल अतातुर्क के नेतृत्व में 'युवा तुर्क' आंदोलन खलीफा के रूढ़िवादी शासन का अंत कर तुर्की में आधुनिक लोकतंत्र स्थापित करना चाह रहा था। इस प्रकार खिलाफत आंदोलन 'कट्टर धार्मिक एवं प्रतिक्रियावादी' आंदोलन ही साबित होता है। जब हम खुद अपनी आजादी के लिए लड़ रहे थे जब खलीफा के सामंती शासन की समर्थन करना कितना तर्कसंगत था?
- बाद के दिनों में तुर्की में खिलाफत अप्रासंगिक हो गई। युवा तुर्क आंदोलन सफल हुआ। कमाल पाशा 1923 में वहाँ का वास्तविक शासक बना। उसने सुल्तान का पद समाप्त कर तुर्की को गणतंत्र घोषित किया। कुछ भारतीय मुसलमानों ने कमाल पाशा को खलीफा के साथ अच्छा व्यवहार करने को कहा तो यह महसूस करते हुए कि जब तक खिलाफत रहेगी तब तक अंतर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप का अवसर बना रहेगा, अत: कमाल पाशा ने खलीफा के नाममात्र पद को भी 1924 में समाप्त कर दिया।

- गाँधी जी ने जिन दो धर्मों के बीच एकता का प्रयास किया उनके बीच के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं पारंपरिक अंतर को वह या तो नहीं समझ पाये या समझकर भी यह मानने की भूल की कि ये अंतर मिट जायेंगे। उन्होंने 'ईश्वर अल्ला तेरो नाम' का गान तो किया पर दोनों संप्रदायों के बीच सहभोज या वैवाहिक संबंध स्थापित करने की बात कभी नहीं की। इससे स्पष्ट है कि कहीं न कहीं वे भी यह मानते थे कि वास्तविक एकता असंभव है।
- अंग्रेजों के आने से पहले मुसलमान यहाँ शासक वर्ग था। अंग्रेजों के जाने के बाद चुनाव आधारित व्यवस्था में वह शासित वर्ग ही रहता (ऐसी आशंका मुस्लिमों में व्याप्त थी)। अत: ऐसी स्थिति में वह हिन्दू समुदाय से वास्तविक एकता नहीं स्थापित कर सकता था। गाँधी इस बात को नहीं समझ पाये।
- खिलाफत आंदोलन का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से यदि कोई संबंध बनता था तो उसे 'अवसरवाद' ही कहा जा सकता है। मुहम्मद अली ने मुसलमानों से भारतीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने को कहा क्योंकि एक गुलाम भारत तुर्की एवं खलीफा की मदद नहीं कर सकेगा। दूसरे अर्थों में भारत को इसलिए आजाद होना था, ताकि वह खलीफा और तुर्की की सहायता कर सके।
- कुछ विद्वानों ने इसे सुविधा पर आधारित गठबंधन माना है। गाँधी ने खिलाफत का उपयोग हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रसार एवं राष्ट्रीय आंदोलन को सशक्त करने के लिये किया तो अली बंधुओं ने इसका उपयोग सर्व इस्लामी उद्देश्यों के लिये किया।

खिलाफत आंदोलन के प्रभाव

खिलाफत आंदोलन के निम्नलिखित प्रभाव परिलक्षित हुए-

- **जन साधारण में जागृति :** खिलाफत आंदोलन से जनसाधारण में जागृति उत्पन्न हुई, विशेषकर मुसलमानों में, भले ही इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य इस्लाम धर्म का बचाव था। परंतु इसके अन्य उद्देश्यों में कुछ ऐसे भी उद्देश्य थे, जिनसे भारतीय मुसलमानों में राजनैतिक जागृति की वृद्धि हो गई।

  देश के अन्य वर्गों के लोगों ने भी इसका विरोध किया कि इंग्लैण्ड द्वारा तुर्की साम्राज्य का विभाजन मुसलमानों के हित में नहीं है तथा ऐसा सब कुछ करना उनके साथ अन्याय करना है।
- **एकता की दिशा में नया मोड़ :** खिलाफत आंदोलन ने भारत में हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच पहले से चली आ रही एकता को नया आयाम मिला। दोनों सम्प्रदायों के लोगों ने एक दूसरे के सुख और दु:ख को समझा। अब वे एक दूसरे के द्वारा चलाये जा रहे आन्दोलनों में कंधे से कंधा मिलाकर भाग लेने लगे।
- **अंग्रेजों के प्रति मुसलमानों में अविश्वास :** कांग्रेस तो सदैव अंग्रेजों को संदेह की दृष्टि से देखती थी। लेकिन खिलाफत आंदोलन से यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज मुसलमानों के मित्र नहीं हैं। इस आन्दोलन ने मुस्लिम लीग को यह शिक्षा अवश्य दी कि उसे अंग्रेज सरकार के प्रति अपने व्यवहार में सावधान रहना चाहिए।
- **राष्ट्रीय आंदोलन को नई ऊर्जा :** हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही समुदायों का अंग्रेजी सरकार द्वारा अपनायी गयी नीतियों से पूर्णतया विश्वास उठ गया। दोनों ही समुदायों के लोगों ने असहयोग आन्दोलन में सक्रिय भूमिका

निभाया। दोनों समुदायों के एकता ने असहयोग आंदोलन को जन आंदोलन में परिवर्तित कर दिया। इसने राष्ट्रीय आंदोलन को एक नए जोश से भर दिया।

विरामकाल (1922–1929)

स्वराजवादी और रचनात्मक कार्य

फरवरी 1922 में असहयोग आंदोलन वापस लिये जाने और शीघ्र ही गाँधी जी को गिरफ्तार किये जाने के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन में संघर्ष विराम की स्थिति उत्पन्न हो गयी। राष्ट्रीय आन्दोलन का यह विराम काल 1929 तक चला। इसलिए 1922 से 1929 तक के काल को राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में 'विरामकाल' के रूप में जाना जाता है। ब्रिटिश सरकार द्वारा 1919 में पारित अधिनियम के अंतर्गत विधान परिषदों के चुनावों की घोषणा की गई तो कांग्रेस में दो भिन्न मत उपस्थित हुए। पहले मत का समर्थन करने वाले लोग चुनावों में भाग लेकर परिषदों में प्रतिनिधित्व करना चाहते थे। इस मत का समर्थन करने वाले 'परिवर्तनवादी' कहलाए, क्योंकि ये परिषदों के प्रतिनिधि के रूप में परिषदों में ही भारत विरोधी नीतियों का विरोध कर सरकार के साथ असहयोग करने की नीति में विश्वास करते थे। इस मत का समर्थन करने वालों में मोतीलाल नेहरू और सी. आर. दास अग्रणी थे। दूसरे मत के समर्थक 'अपरिवर्तनवादी' कहलाये। इस मत के समर्थक विरामकाल में रचनात्मक कार्यों के माध्यम से जनता को नये आन्दोलन के लिये तैयार करने का समर्थक था और रणनीति में किसी प्रकार के परिवर्तन का विरोधी था। परिषद में सदस्यता के समर्थक वर्ग का नेतृत्व सी.आर. दास और मोतीलाल नेहरू कर रहे थे, जिन्होंने गया अधिवेशन (1922) में अपने प्रस्ताव के विरोध के कारण 1923 में एक नई पार्टी 'कांग्रेस खिलाफत स्वराज पार्टी' का गठन किया। यही बाद में स्वराज पार्टी के नाम से प्रसिद्ध हुई।

सी आर दास

स्वराजवादियों का तर्क

- स्वराजवादियों का मानना था कि यदि कांग्रेस विधानपरिषदों में हिस्सा नहीं भी लेती है तो भी विधानपरिषदें कार्य करती रहेंगी। चुनाव में अन्य राजनीतिक दल बड़े पैमाने पर भाग ले सकते हैं और इससे जनता पर कांग्रेस का प्रभाव कम हो सकता है।
- महत्वपूर्ण पदों पर गैर-कांग्रेसियों का प्रभुत्व सम्भव है एवं उनकी कोशिश कांग्रेस को कमजोर करने की होगी। इसे रोकने के लिये चुनाव में हिस्सेदारी आवश्यक है।
- सरकार यदि किसी गलत कानून को वैध करार देती है तो जनान्दोलन न चलाए जाने की स्थिति में विधानपरिषदों के माध्यम से ही उन्हें रोका जा सकता है।

- सरकार की गलत नीतियों का परिषद के अंदर विरोध जब समाचार पत्रों के माध्यम से जनता तक पहुंचेगा तब उसमें राजनैतिक चेतना जागृत होगी और वह नये आन्दोलन के प्रति तैयार भी होगी। अर्थात् परिषद के अन्दर विरोध की रणनीति असहयोग आन्दोलन का विस्तार होगी और बाहर विरामकाल की रणनीति का हिस्सा।

स्वराज पार्टी के विरोधी खेमे नो चैंजर्स अर्थात् अपरिवर्तनवादी (जिसका नेतृत्व वल्लभ भाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद और सी. राजगोपालाचारी कर रहे थे) और स्वराज पार्टी के मध्य विवाद बढ़ता गया और एक समय ऐसा लगने लगा कि कांग्रेस का दूसरा विभाजन हो जायेगा, उस समय गाँधी जी ने स्थिति को संभाल लिया। गाँधी जी स्वास्थ्य कारणों से 1924 में रिहा कर दिये गये थे। गाँधी जी को स्वराजवादियों की ईमानदारी दृढ़ता, अनुशासन और अदम्य साहस पर पूर्ण विश्वास था। अत: उन्होंने सी.आर. दास, मोतीलाल नेहरू के साथ संयुक्त बयान में स्वराजियों को कांग्रेस का अभिन्न अंग माना और स्वराजियों को कांग्रेस के नेतृत्व में परिषद् में नेतृत्व करने के लिये स्वीकृति दी।

स्वराज दल की सफलताएं

चुनावों में स्वराजवादी दल को उल्लेखनीय सफलता मिली, सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेंबली की 101 निर्वाचित सीटों में से 42 पर इनकी जीत हुई। मध्य प्रांत में पूर्ण बहुमत, बंगाल में सबसे बड़े दल और बंबई और उत्तर प्रदेश में भी इन्हें अच्छी सफलता मिली। जातिवाद और साम्प्रदायिकता की लहर के कारण इन्हें मद्रास एवं पंजाब में असफलता का मुँह देखना पड़ा। कार्यात्मक स्तर पर भी स्वराज दल ने महत्वपूर्ण सफलता अर्जित की, जो निम्नलिखित है -

- एक स्वराजी नेता विट्ठल भाई पटेल को सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेंबली का अध्यक्ष बनवाने में इन्होंने सफलता अर्जित की।
- स्वशासन की स्थापना के लिये संविधान में परिवर्तन, नागरिक स्वतंत्रता की बहाली, दमनकारी कानून की समाप्ति तथा देशी उद्योगों का विकास जैसे मुद्दों को सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली में जोर-शोर से उठाया गया।
- बजट मांगों पर कई विधेयकों का सदन में पूर्ण बहुमत द्वारा विरोध किया गया। अंतत: सरकार को इन्हें पास कराने के लिये वीटो का सहारा लेना पड़ा जिससे सरकार का असली चरित्र उजागर हुआ कि भारत में लोकतंत्र एक दिखावा मात्र है।
- नगरपालिका और स्थानीय निकायों में भी स्वराजियों ने सफलता अर्जित की। सी.आर. दास कलकत्ता के मेयर चुने गये। रणनीति में परिवर्तन के विरोधियों (No Changers) ने भी स्थानीय निकायों में हिस्सा लिया, क्योंकि उनका विश्वास था कि रचनात्मक कार्यों में स्थानीय निकायों की मदद ली जा सकती है।

स्वराजवादियों की सीमाएं एवं पतन

स्वराज पार्टी बहुत लम्बे समय तक राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी भूमिका नहीं निभा सकी। इसके निम्नलिखित कारण थे :-

- सबसे बड़ा आघात उन्हें सी.आर. दास के निधन से लगा। मोतीलाल नेहरू के खिलाफ उनके नास्तिक होने के कारण पहले ही वातावरण बनने लगा था। अत: स्वराजवादियों में कोई प्रभावशाली नेतृत्व नहीं रह गया।

- स्वराजियों का विरोध मात्र विधेयकों को रद्द कराने तक सीमित था। इसे भी गर्वनर जनरल वीटो का प्रयोग कर पारित कर सकता था अर्थात् स्वराजियों का विरोध बहुत सीमित था और इससे वह जनमानस को कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं पहुंचा सके। अत: जनता में इनकी कोई पैठ नहीं बन पायी और ये मात्र अखबारों में छपी बातों को ही सत्य मानकर प्रफुल्लित होते रहे।
- स्वराजवादी पार्टी में बाद के वर्षों में कुछ ऐसे लोग प्रवेश कर गये, जो सत्ता में पद चाहते थे और सरकार द्वारा दी गयी रियायतों का समर्थन करते थे। इन लोगों के कारण स्वराजियों की रणनीति को गहरा धक्का लगा।
- स्वराजियों के खिलाफ सरकार भी षड्यंत्र कर रही थी। अंतत: जब बंगाल में स्वराजी, जमींदारों के खिलाफ काश्तकारों की मांग का समर्थन करने में असफल रहे, इन काश्तकारों में अधिकांशत: मुसलमान थे, तब सरकार को मौका मिला और स्वराज पार्टी में साम्प्रदायिक तत्वों को प्रवेश कराने में उसे सफलता मिली।

वास्तव में स्वराज पार्टी अपने भीतर घुसपैठ कर रहे साम्प्रदायिक और पदलोलुप तत्वों को रोकने में असफल रही। एन.सी. केलकर, एम. आर. जयकर, लाला लाजपत राय और मदनमोहन मालवीय जैसे नेता स्वराज्य पार्टी से जुड़ गये जो सत्ता में भागीदारी के समर्थक थे। सरकार, इसके चाटुकारों और हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिक ताकतें भी इसके लिए चुनौती बनी हुई थीं। एक ओर हिन्दू साम्प्रदायिक ताकतों ने स्वराजियों के खिलाफ मोर्चा खोल रखा था तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक मुसलमान भी स्वराजियों को कोसने में पीछे नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि स्वराज्य पार्टी एकदम कमजोर हो गई। इन परिस्थितियों में पार्टी को और अधिक टूट से बचाने; संसदीय भ्रष्टाचार को रोकने और कार्यकर्ताओं को और अधिक निराश होने से बचाने के लिये अंतत: 1926 से विधानमंडल में हिस्सा न लेने का फैसला किया गया। स्वराज पार्टी जिस कारण बनी थी वह मुद्दा की समाप्त हो गया। अत: स्वराज पार्टी स्वत: ही समाप्त हो गयी।

रचनात्मक कार्य

यद्यपि सुधारों को अंदर से तोड़ने के लिए कौंसिलों में प्रवेश स्वराजवादियों का मुख्य उद्देश्य था, किन्तु यह एकमात्र उद्देश्य न था। उनके पास सामाजिक-आर्थिक सुधारों अथवा उन्नतकारी गतिविधियों की समझ थी, जिसे गांधी जी ने रचनात्मक कार्यक्रमों की संज्ञा दी थी। गांधी जी का मानना था कि स्वतंत्रता संग्राम के रथ के दो पहिये हैं: रचनात्मक कार्यक्रम और राजनैतिक प्रचार। उनके अनुसार रचनात्मक कार्यक्रम अठारह बिंदुओं पर आधारित था, जिसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता उन्मूलन, मद्य निषेध, स्वदेशी एवं बहिष्कार मुख्य थे।

स्वराजवादी इन कार्यक्रमों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, क्योंकि वे जानते थे कि उन्हें कौंसिल छोड़कर कभी भी उन लोगों के साथ सविनय अवज्ञा में शामिल होना पड़ सकता है जो कौंसिलों में शामिल नहीं हुए। उनकी राजनैतिक शक्ति का श्रेय गांधी एवं कांग्रेस के साथ उनके निरंतर सहयोग को जाता था। रचनात्मक कार्य कांग्रेस के दोनों गुटों, परिवर्तन विरोधी एवं स्वराजवादियों के लिए एक सामान्य मंच के रूप में उभरा। फिर भी रचनात्मक कार्यों को क्रियान्वयन करने में परिवर्तन विरोधी दल के मुकाबले में स्वराजवादी जो कौंसिलों में प्रवेश एवं संसदीय राजनीति में अधिक व्यस्त थे, अधिक सफलता प्राप्त न कर सके।

स्वराजवादी वर्ग संघर्ष की जगह वर्गों की सहिष्णुता में विश्वास रखते थे। उनके विचार में चूँकि हमारी सामाजिक व्यवस्था शताब्दियों पुरानी थी, इसलिए यथास्थिति बनी रहनी चाहिए। यद्यपि वे किसानों के प्रति न्याय के समर्थक थे, लेकिन वे समाज के धनी वर्गों को प्रसन्न रखना चाहते थे क्योंकि इनसे चुनावों में इन्हें काफी आर्थिक सहायता मिलती थी। यद्यपि रचनात्मक कार्यों के प्रति अपने समर्थन के दृष्टिकोण से स्वराजवादियों ने उनके क्रियान्वयन के साधन के रूप में विधान परिषदों की उपयोगिता स्वीकार की तथापि विधान परिषदों के बाहर उनके कार्यक्रम काफी सीमित थे। एशियाई देशों की फेडरेशन और विदेशों में प्रचार की ऐजेंसियों के गठन के कार्यक्रमों की व्यापकता को देखते हुए उनके क्रियान्वयन की संभावना भी केवल वैचारिक स्तर तक ही रह सकती थी। इस प्रकार स्वराजवादियों के रचनात्मक कार्यों को वैचारिक संदर्भ में ही देखा जा सकता है क्योंकि व्यवहारिक धरातल पर उनके रचनात्मक कार्यों का दायरा अत्यंत सीमित था।

साइमन कमीशन (1927)

संसद में स्वराजवादियों के कार्यों ने यह पूर्णतः सिद्ध कर दिया था कि 1919 के संवैधानिक सुधार अपर्याप्त थे। जनता में भी यह भावना घर करती जा रही थी कि ब्रिटिश सरकार के खिलाफ दूसरे आंदोलन का समय नजदीक आ रहा है। इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने संवैधानिक सुधारों के लिये एक शाही आयोग की घोषणा की। चूँकि 1919 के अधिनियम में यह पहले से ही वर्णित था कि दस वर्ष के उपरान्त 1919 के संवैधानिक सुधारों की प्रगति का अवलोकन करने के लिए एक आयोग का गठन किया जाएगा तथा इस बात का भी आश्वासन दिया गया था कि इस आयोग में भारतीयों को भी शामिल किया जाएगा, परन्तु जब कमीशन भारत आया तो इसके सभी सदस्य अंग्रेज थे। हालाँकि यह आयोग 1919 के अधिनियम के उन प्रावधानों के अनुरूप था, जिसमें कहा गया था कि दस साल बाद (अर्थात् 1929 में) एक आयोग का गठन किया जाएगा। परंतु ब्रिटिश सरकार ने 1927 में ही आयोग के गठन का प्रस्ताव किया। इस आयोग के अध्यक्ष सर जॉन साइमन थे। इसीलिए इसे 'साइमन आयोग' के नाम से जाना गया। इस आयोग में सात सदस्य थे, जो सभी अंग्रेज थे।

कांग्रेस ने इस आधार पर कि इसमें एक भी भारतीय सदस्य नहीं है और भारत का राजनीतिक भविष्य बिना किसी भारतीय के तय हो, यह भारत के लिये अपमानजनक है, इसका विरोध किया। इस मुद्दे पर तेजबहादुर सप्रू का लिबरल फेडरेशन, हिन्दू महासभा तथा जिन्ना के नेतृत्व वाले लीग के धड़े ने कांग्रेस का समर्थन किया। साइमन कमीशन के विरूद्ध भारत में तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा इसका बहिष्कार पूरे भारत में जोर-शोर से हुआ। और जितना ही तीव्र विरोध था उतना ही बर्बर सरकारी दमन। इसी दमन के क्रम में पुलिस की लाठियों से घायल होने के बाद लाला लाजपत राय की मृत्यु हो गयी थी।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट

साइमन आयोग की रिपोर्ट 1930 ई. में प्रकाशित हुई, जिसके प्रावधान निम्नलिखित थे-

- इसने प्रांतों के लिए पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की सिफारिश की।

- इसने पुलिस और न्याय का नियंत्रण भी मंत्रियों को हस्तांतरित कर दिया जो विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी थे।
- विधानमंडलों के लिये विस्तृत मताधिकार की सिफारिश की गयी।
- केन्द्रीय मंत्रिमंडल पर ब्रिटिश अधिकार एवं नियंत्रण जारी रखे जाएं।
- भारतीय रियासतों से गहरे सम्पर्क के लिये एक अखिल भारतीय संघ की योजना का प्रस्ताव किया गया।

भारतीयों ने इसे सिरे से अस्वीकार कर दिया। साइमन आयोग को नियुक्त करने वाले अनुदार पंथी भारत राज्य सचिव लार्ड बिर्किन हेड लगातार चुनौती दे रहे थे कि भारत सर्वसम्मति से संवैधानिक सुधार के लिये कोई ठोस प्रस्ताव नहीं बना सकता। भारतीयों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक रिपोर्ट तैयार की जिस 'नेहरू रिपोर्ट' के नाम से जाना जाता है।

नेहरू रिपोर्ट (1928)

साइमन कमीशन में किसी भारतीय के न होने पर भारतीयों ने इस पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। कमीशन में किसी भारतीय को न लिए जाने का कारण सरकार ने बताते हुए कहा कि एक तो भारतीयों में पारस्परिक मतभेद बहुत हैं, दूसरी तरफ साइमन आयोग का गठन ब्रिटिश संसद द्वारा किया गया जिसे ब्रिटिश संसद को अपनी रिपोर्ट देनी है। अतः इसमें भारतीयों को शामिल करने का औचित्य नहीं बचता। भारतीयों द्वारा प्रतिरोध किये जाने पर भारत के मंत्री लार्ड बिर्किन हेड ने इसी अवसर पर भारतीयों को चुनौती दी कि वे एक ऐसा संविधान बनाये जिस पर सभी राजनीतिक दल सहमत हों। भारतीयों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और 2 फरवरी 1928 को दिल्ली में विभिन्न राजनैतिक दलों की एक सर्वदलीय बैठक बुलायी गयी। इसमें सभी पार्टियों ने यह बात कही कि जब तक सरकार डोमीनियन स्टेट्स देने का वायदा नहीं करेगी तब तक उससे कोई समझौता नहीं होगा। इसके बाद 19 मई 1928 को एक सर्वदलीय सम्मेलन बम्बई में फिर हुआ, जिसकी अध्यक्षता डॉ. अंसारी ने की थी। इस अधिवेशन में संविधान निर्माण करने के लिए एक समिति गठित की गयी जिसके अध्यक्ष मोती लाल नेहरू बनाये गये। इस समिति के सदस्य थे-तेज बहादुर सप्रू, अली इमाम, शुएब कुरैशी, सुभाषचन्द्र बोस, एम.एस. अणे, एम.आर. जयकर, एन.एम. जोशी और मंगल सिंह। जयकर ने बाद में इस समिति से अपना नाम वापस ले लिया था।

मोतीलाल नेहरू

इस समिति को संविधान निर्माण के लिए 1 जुलाई 1928 के पहले तक का समय दिया गया। इस समिति ने संविधान निर्माण से सम्बद्ध रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, जिसे नेहरू रिपोर्ट कहा जाता है। समिति की जून से जुलाई तक 25 बैठकें हुई, इसके बाद 28 अगस्त 1928 को लखनऊ में सर्वदलीय सम्मेलन में इसकी रिपोर्ट प्रस्तुत की गयी जिसमें इस रिपोर्ट की पुष्टि कर दी गई। इसके बाद 22 दिसम्बर से 1 जनवरी 1929 तक एक सर्वदलीय सम्मेलन कलकत्ता में हुआ जिसकी अध्यक्षता डॉ. अंसारी ने की थी। इस सम्मेलन में अंतिम रूप से यह रिपोर्ट प्रस्तुत की गयी। इस रिपोर्ट के मुख्य प्रावधान इस प्रकार थे-

- भारत को डोमीनियन स्टेट का दर्जा इसी प्रकार प्रदान किया जाए जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्य ने कनाडा, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और आयरलैण्ड की स्टेटों को प्रदान किया है।
- संविधान में मौलिक अधिकारों का प्रावधान किया जाये। इस समिति ने 19 मौलिक अधिकारों की सिफारिशें की थी।
- केन्द्रीय विधान सभा के निचले सदन और प्रांतीय विधान सभाओं के सदस्य निर्वाचित होंगे। लेकिन जहाँ मुसलमान अल्पमत में हैं वहाँ उनकी सीटें सुरक्षित रखी जायेंगी। इसी प्रकार जहाँ हिन्दू अल्पमत में हैं वहाँ उनकी सीटें सुरक्षित रहेंगी। लेकिन पंजाब और बंगाल में मुसलमानों के लिए स्थान सुरक्षित नहीं रहेंगे।
- आरक्षित स्थानों का निश्चय जनसंख्या के आधार पर निश्चित समय के लिए होगा।
- प्रत्येक पुरूष और स्त्री को 21 वर्ष की आयु होने पर मत देने का अधिकार होगा।
- सिंध और कर्नाटक प्रांत अलग बनेंगे। अन्य नये प्रान्तों का निर्माण भी भाषायी आधार पर ही होगा।
- जिन विषयों पर केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारें को शासन का अधिकार होगा वे एक ही अनुसूचियों में शामिल होंगे।

मुहम्मद अली जिन्ना ने इस रिपोर्ट की कई धाराओं पर आपत्ति प्रकट कर दी और कहा कि -

- केन्द्रीय विधान सभा में मुसलमानों को एक तिहाई स्थान दिये जायें।
- अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र के पास रहेंगी।
- संविधान संशोधन दोनों सदनों द्वारा तथा संयुक्त रूप से 80 प्रतिशत मतों के बिना नहीं सम्पन्न होगा जिन्ना के इन प्रावधानों को स्वीकार नहीं किया गया। कालांतर में जिन्ना ने नाराज होकर अपना चौदह सूत्रीय फार्मूला प्रस्तुत कर दिया जिसे 'जिन्ना प्रस्ताव' के नाम से जाना जाता है।

जिन्ना के चौदह सूत्र (1928)

राष्ट्रवादी मुसलमानों ने रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया किन्तु जिन्ना ने नेहरू समिति के कई प्रावधानों पर अपना विरोध प्रकट किया और अपनी एक अलग योजना प्रस्तुत की जिसके प्रावधान इस प्रकार हैं।

- भारत में भावी संविधान का स्वरूप संघात्मक होना चाहिए जिसमें अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र के पास होनी चाहिए।
- सभी प्रांतों को एक समान स्वायतत्ता प्रदान की जाय।
- सभी प्रांतीय विधान सभाओं और अन्य संस्थाओं व अल्पसंख्यक समुदाय को पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाय।
- केन्द्रीय विधान मण्डलों में मुसलमानों को कम से कम एक तिहाई स्थान प्रदान किये जाने चाहिए।
- अल्पसंख्यक वर्गों के लिए पृथक निर्वाचन प्रणाली के आधार पर ही प्रतिनिधित्व किया जाना चाहिए।
- किसी भी प्रांत के विभाजन से पंजाब, बंगाल या पश्चिमोत्तर सीमा प्रांतों में मुसलमानों के बहुमत पर प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

- सभी सम्प्रदायों को अपने धार्मिक विश्वास, उपासना, त्यौहार, प्रचार, सम्मेलन तथा शिक्षा की पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिए।
- यदि कोई भी सम्प्रदाय या वर्ग किसी भी विधेयक पर तीन चौथाई मत द्वारा अपना विरोध प्रकट करे तो उसे नहीं पास होना चाहिए।
- सिंध को बम्बई प्रांत से अलग कर देना चाहिए।
- सीमांत और बलूचिस्तान प्रांतों में सुधार किये जाने चाहिए।
- सभी सरकारी सेवाओं में मुसलमानों को उचित आरक्षण मिलना चाहिए।
- मुस्लिमों को उनकी संस्कृति, शिक्षा भाषा, धर्म और वैयक्तिक कानूनों की सुरक्षा के लिए पर्याप्त संरक्षण मिले।
- केन्द्रीय अथवा प्रांतीय मंत्रिमंडल में कम से कम एक तिहाई मंत्री मुसलमान होने चाहिए।
- केन्द्रीय विधान मण्डल को संविधान में परिवर्तन का अधिकार तभी हो जब संघ की इकाईयां उसे स्वीकार कर लें।

जिन्ना के चौदह सूत्रीय मांगों को कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया और इसी बीच सरकार ने 31 दिसम्बर, 1930 तक दी गई तारीख को भारत की पूर्ण स्वराज की मांग नहीं स्वीकार की। नेहरू रिपोर्ट में पूर्ण स्वतन्त्रता जैसी कोई बात नहीं की गई थी जबकि 1927 के मद्रास अधिवेशन में कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य पारित किया था। इस बात का तीव्र विरोध किया गया और नवम्बर 1927 में आल इण्डिया इंडिपेंडेंस लीग की स्थापना की गयी। इसके संस्थापक सुभाष चन्द्र बोस और जवाहर लाल नेहरू थे। दिसम्बर 1928 को कलकत्ता में कांग्रेस अधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता मोती लाल नेहरू ने की थी। इस अधिवेशन में कांग्रेस का एक गुट डोमीनियन स्टेटस का लक्ष्य पारित करवाना चाहता था। जबकि बोस और नेहरू का गुट कांग्रेस का पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य पारित करवाना चाहता था। गांधी जी ने स्थिति को परखकर बुद्धिमानी से यह प्रस्ताव पास करवा लिया कि कांग्रेस अपने मद्रास अधिवेशन में पारित पूर्ण स्वाधीनता के प्रस्ताव पर डटे रहते हुए भी नेहरू कमेटी द्वारा पारित संविधान को स्वीकार करती है। इसमें यह भी कहा गया कि सरकार 31 दिसंबर, 1930 को यह स्वीकार नहीं करेगी तो कांग्रेस अहिंसक-असहयोग आंदोलन चलायेगी। अब गाँधी जी को यह लगने लगा था कि नवीन जनान्दोलन का समय नजदीक आ रहा है और उन्होंने इसके लिये रणनीति बनानी भी शुरू कर दी थी। जल्द ही भारत के इतिहास में एक ऐसा आन्दोलन शुरू होने वाला था जो प्रथम दृष्टया में बहुत साधारण दिख रहा था, परन्तु ब्रिटिश शासन को बुरी तरह से झकझोरने वाला आन्दोलन था।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930-1934)

पृष्ठभूमि

सविनय अवज्ञा आंदोलन की पृष्ठभूमि तभी बन गयी थी जब असहयोग आंदोलन को उसके चरम पर वापस ले लिया गया था। न तो आंदोलन का उद्देश्य ही पूरा हुआ था और न ही जनता की ब्रिटिश सरकार के प्रति लड़ने का जोश खत्म हुआ था। जनता के मन में यह बात बैठ गई थी कि असहयोग का सरकार ने दमन नहीं किया था, बल्कि

यह तो कांग्रेस नेतृत्व के कारण स्थगित हुआ। इसे वे सरकार के ऊपर अपनी जीत के रूप में देखते थे, अत: उनका आत्मबल बरकरार था। 1930 तक आते-आते अन्य परिस्थितियों ने इसमें सहयोग किया और एक और आंदोलन की भूमिका तैयार हो गयी।

आंदोलन की पृष्ठभूमि के निर्माण में निम्नलिखित घटनाओं का योगदान था-

साइमन कमीशन और उसका विरोध

1919 के भारत सरकार अधिनियम से राष्ट्रवादी असंतुष्ट थे। वे शीघ्र ही नये सुधार चाहते थे। किन्तु सरकार दस साल से पहले नये सुधार पर विचार करने को तैयार नहीं थी।

1927 में ब्रिटेन की कंजरवेटिव पार्टी को लगा कि आगामी चुनावों में उसकी हार हो सकती है। वह नहीं चाहती थी कि भारत जैसे महत्त्वपूर्ण उपनिवेश के सम्बन्ध में अनुभवहीन लेबर पार्टी (जो कि कंजरवेटिव पार्टी की हार की दशा में सत्ता में आती) द्वारा कोई निर्णय लिया जाय। अत: एक आठ सदस्यीय आयोग की नियुक्ति की गयी। सर जान साइमन इसके अध्यक्ष थे, जिनके नाम पर इसे 'साइमन कमीशन' कहा गया।

इस आयोग को वर्तमान सरकारी व्यवस्था, शिक्षा का प्रसार तथा प्रतिनिधि संस्थाओं का अध्ययन करना था, तत्पश्चात् यह सिफारिश करनी थी कि भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना उपयुक्त होगा कि नहीं और यदि उपयुक्त होगा तो किस सीमा तक।

नेहरू रिपोर्ट

जिस समय भारत में साइमन कमीशन का विरोध हो रहा था, उसी वक्त भारत राज्य सचिव लार्ड बिरकेनहेड ने भारतीयों को एक सर्वसम्मत संविधान तैयार करने की चुनौती दी। (भारतीय इस बात पर उद्वेलित थे कि उन्हें आयोग में जगह नहीं दी गयी थी और सरकार उन्हें अपने लिए संविधान तैयार करने के योग्य नहीं समझती थी। बिर्किनहेड की चुनौती इसी के प्रति उत्तर में आयी थी) भारतीयों ने उनकी इस चुनौती को स्वीकार किया। विभिन्न विचारधाराओं के नेताओं का एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया गया और मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति बनायी गयी। इस समिति को भारत के भावी संविधान का प्रारूप तैयार करना था।

रिपोर्ट पर विवाद

नेहरू रिपोर्ट पर दो तरह की आपत्तियाँ सामने आयीं। राष्ट्रवादियों का एक वर्ग (नेहरू व सुभाष के नेतृत्व में) डोमीनियन स्टेट्स की जगह पूर्ण स्वतंत्रता की माँग किये जाने पर बल दे रहा था। यद्यपि बाद में इस वर्ग ने भी कुछ शर्तों पर डोमीनियन स्टेट्स को अपनी सहमति दे दी।

दूसरी आपत्ति मुस्लिम लीग की ओर से आयी और उस पर सहमति नहीं बन सकी। लीग की आपत्ति सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को खत्म करने, अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र के पास होने तथा मुसलमानों को केवल अल्पसंख्यक वाले राज्यों में आरक्षण मिलने के मुद्दों पर थीं। जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट से असंतोष व्यक्त करते हुए अपनी माँगें 14 सूत्री फार्मूले के तहत प्रस्तुत की।

कलकत्ता अधिवेशन (1928)

कलकत्ता अधिवेशन में नेहरू और सुभाष के नेतृत्व में नेहरू रिपोर्ट पर गहरी आपत्ति जतायी गयी। ये लोग डोमीनियन स्टेट्स की जगह पूर्ण स्वाधीनता की माँग कर रहे थे। इन्होंने अपना विरोध जताने लिए एक 'भारतीय स्वतंत्रता लीग' का गठन भी कर लिया था।

दूसरी ओर गाँधी और अन्य नेता इतनी जल्दी डोमीनियन स्टेट्स से पूर्ण स्वाधीनता की ओर नहीं बढ़ना चाहते थे। उनका विचार था कि सरकार को इसके लिए वक्त देना चाहिए और फिलहाल डोमीनियन स्टेट्स पर ही सहमति बननी चाहिए। वे सरकार को दो वर्ष का समय देना चाहते थे।

किन्तु युवा राष्ट्रवादियों के दबाव में अंतत: तय यह हुआ कि सरकार को एक वर्ष का समय दिया जाय। यह संकल्प लिया गया कि यदि सरकार इस बीच डोमीनियन स्टेट्स का संविधान जारी नहीं करती तो लाहौर में होने वाले अगले अधिवेशन में कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य घोषित कर उसके लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन चलायेगी।

सरकार का अड़ियल रूख

वायसराय ने कलकत्ता अधिवेशन के प्रस्ताव की उपेक्षा करते हुए कहा कि भारत के राजनैतिक विकास के सभी सूत्र 1917 की घोषणा में निहित हैं और उसी में डोमीनियन स्टेट्स की प्राप्ति भी जुड़ी हुयी है। उन्होंने कहा कि साइमन आयोग की सिफारिशें आने के बाद (वायसराय की यह घोषणा अक्टूबर 1929 में हुयी जबकि साइमन कमीशन रिपोर्ट 1930 में आयी थी) एक गोलमेज़ सम्मेलन बुलाया जायेगा जिसमें डोमीनियन स्टेट्स के मुद्दे पर वार्ता की जायेगी।

दूसरी ओर कांग्रेस 1917 की घोषणा और उस पर आधरित 1919 के सुधारों को पहले ही नकार चुकी थी। साथ ही वह चाहती थी कि साइमन आयोग की रिपोर्ट के आने के पहले ही गोलमेज़ सम्मेलनों में डोमीनियन स्टेट्स के मुद्दे को सुलझा लिया जाना चाहिए। कांग्रेस यह भी चाहती थी कि जब गोलमेज़ सम्मेलन आयोजित हो तो चर्चा इस बात पर न हो कि डोमीनियन स्टेट्स कब दिया जाय बल्कि यह तय कर लिया जाय कि इसे लागू करने की योजना बना ली जाये। सरकार ने कांग्रेस के इन प्रस्तावों को अस्वीकार कर अड़ियल रवैया अपना लिया।

सरकार ने कांग्रेस के इस प्रस्ताव को भी अस्वीकार कर दिया कि राजनीतिक बंदियों को रिहा कर दिया जाये तथा गोलमेज़ सम्मेलन में कांग्रेस का बहुमत में प्रतिनिधित्व हो। सरकार के अड़ियल रवैये ने आंदोलन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। अब यह स्पष्ट हो गया कि आंदोलन के अलावा कोई अन्य रास्ता नहीं है।

गोलमेज़ सम्मेलन के प्रति गाँधी की आशंका

नेहरू रिपोर्ट पर जिस प्रकार से विभिन्न दलों के बीच मतभेद उभर कर सामने आया था, उसे देखते हुए गाँधी को गोलमेज़ सम्मलेन की सफलता पर संदेह था। उन्होंने महसूस किया कि ऐसे समय में जबकि भारतीय राष्ट्रीय दलों और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में आपस में ही बुरी तरह फूट पड़ी हुई है, सम्मेलन में भाग लेना निरर्थक होगा क्योंकि अंग्रेज इस फूट का लाभ उठायेंगे और किसी ठोस निर्णय पर पहुँचना असंभव हो जायेगा।

गाँधी चाहते थे कि ब्रिटेन से बातचीत तब की जाय जब भारतीय दलों के बीच एकता हो। उनका विचार था कि एक बार जब आंदोलन आरंभ होगा तो आंदोलन के ज्वार में सारे मतभेद भुला दिए जायेंगे।

इसके अलावा गाँधी यह भी महसूस करने लगे थे कि अंग्रेज कांग्रेस के साथ छल कर रहे हैं। साथ ही उन्होंने यह भी अनुमान किया कि आंदोलन से मिलने वाली सफलता गोलमेज़ सम्मेलन से मिलने वाली सफलता से कहीं ज्यादा ही होगी। अत: उन्होंने सविनय अवज्ञा की बात शुरू कर दी।

लाहौर अधिवेशन

लाहौर अधिवेशन (दिसम्बर, 1929) तक सरकार को एक वर्ष का दिया गया समय पूरा हो चुका था। अत: अधिवेशन में निम्नलिखित बातों पर सहमति बनी-

- पूर्ण स्वराज्य अब कांग्रेस का प्रधान लक्ष्य होगा।
- गोलमेज़ सम्मेलन का बहिष्कार किया जायेगा।
- कांग्रेस कार्यसमिति जब उचित समझे आंदोलन आरम्भ कर सकती है।
- सदस्यों को कौंसिल चुनावों से दूर रहने और वर्तमान सदस्यों को पद त्याग करने का निर्देश दिया गया।
- यह तय हुआ कि 26 जनवरी, 1930 को सम्पूर्ण राष्ट्र प्रथम स्वाधीनता दिवस मनायेगा।

गाँधी जी की ग्यारह माँगें

हमेशा की तरह गाँधी सरकार को एक आखिरी मौका देना चाहते थे। अत: यंग इंडिया में प्रकाशित एक लेख के द्वारा उन्होंने सरकार के सामने ग्यारह माँगे रखी और 31 जनवरी, 1930 तक इनके पूरा न होने पर आंदोलन की चेतावनी दी। ये माँगें निम्नलिखित थी-

- लगान में 50% की कमी की जाय।
- नमक कर समाप्त किया जाय।
- रूपये की विनिमय दर घटायी जाय (1शिलिंग 4 पेन्स की जाये)।
- रक्षात्मक शुल्क लगाकर विदेशी कपड़े का आयात नियंत्रित किया जाय।
- तटीय यातायात रक्षा विधेयक पास किया जाय।
- सभी राजनीतिक बंदी रिहा किये जाय।
- शस्त्र रखने का अधिकार दिया जाय।
- नशीली वस्तुओं की ब्रिकी पर रोक लगे।
- सिविल सेवाओं तथा सेना व्यय में 50% की कटौती की जाए।
- गुप्तचर विभाग खत्म किया जाय या उस पर सार्वजनिक नियंत्रण हो।

- डाक आरक्षण बिल पास किया जाय।

जब सरकार ने इन माँगों पर कोई ध्यान नहीं दिया तो फरवरी 1930 के अंत में गाँधी ने नमक कानून का मुद्दा बनाकर आंदोलन छेड़ने का निर्णय कर लिया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का आरंभ

12 मार्च, 1930 को गाँधी जी साबरमती से अपने समर्थकों के साथ चलकर 5 अप्रैल को गुजरात के एक समुद्री तट डांडी पहुँचे। इसे 'डांडी मार्च' के नाम से भी जाना जाता है। 6 अप्रैल की सुबह उन्होंने समुद्री जल से मुठ्ठी भर नमक बनाकर उस नमक कानून का उल्लंघन किया जिसके तहत आम आदमी को नमक बनाने का अधिकार नहीं था। 9 अप्रैल को उन्होंने जनता को ये निर्देश दिये-

- जहाँ भी संभव हो नमक बनाकर नमक कानून तोड़ा जाय।
- यदि पर्याप्त शक्ति हो तो कर न दिया जाय।
- स्थानीय नेता अहिंसा बनाये रखने में सहयोग करें।
- स्कूल, कॉलेज, न्यायालयों का बहिष्कार किया जाय तथा सरकारी नौकरियों से त्यागपत्र दिया जाय।
- शराब, अफ़ीम, विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना दिया जाय।

- लोग घरों में चरखा चलाकर सूत कातें और खादी पहनें।

गाँधी का यही निर्देश आंदोलन का कार्यक्रम था। जनता ने इस कार्यक्रमों पर व्यापक अमल किया।

आन्दोलन की प्रकृति

गाँधी द्वारा नमक कानून का उल्लंघन करने के बाद देश भर में इस कानून को तोड़ने का सिलसिला चल पड़ा। इसके अलावा लोगों ने अपनी स्थानीय समस्याओं के अनुसार सरकार के विरूद्ध अवज्ञा आंदोलन चलाया। मसलन तमिलनाडु, केरल और आन्ध्र में नमक कानून तोड़ा गया तो महाराष्ट्र, मध्यप्रान्त और कर्नाटक में वन कानूनों का उल्लंघन किया गया। बिहार एवं बंगाल में चौकीदार कर के विरोध में आंदोलन हुआ तो असम में 'कनिंघम सरकुलर' का (इसके तहत छात्रों-अभिभावकों को अच्छे आचरण का प्रमाण-पत्र देना होता था) का उल्लंघन किया गया। गुजरात और संयुक्त प्रान्त में भू-राजस्व न अदा करने का आंदोलन हुआ।

चटगाँव में सूर्यसेन और उनके साथियों ने शस्त्रागारों को लूटा। पेशावर में खान अब्दुल गफ्फार खाँ के नेतृत्व में आंदोलन हिंसक होने के बाद लायी गयी गढ़वाल रेजीमेण्ट के हिंदू सैनिकों ने अपने अफसरों की अवज्ञा करते हुए मुसलमान आंदोलनकारियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। गफ्फार खाँ ने अपने 'खुदाई खिदमतगार' संगठन के

सदस्यों के साथ इस आंदोलन में अत्यंत सक्रिय रूप से भाग लिया। शोलापुर में मजदूरों ने पुलिस को खदेड़कर एक सप्ताह तक वहाँ समानान्तर सरकार कायम कर ली।

इस प्रकार यह आंदोलन सारे देश में फैला और इसमें छात्रों, किसानों, मजदूरों, व्यापारियों और महिलाओं ने भी सक्रिय भाग लिया।

गाँधी-इरविन समझौता

समझौते की पृष्ठभूमि

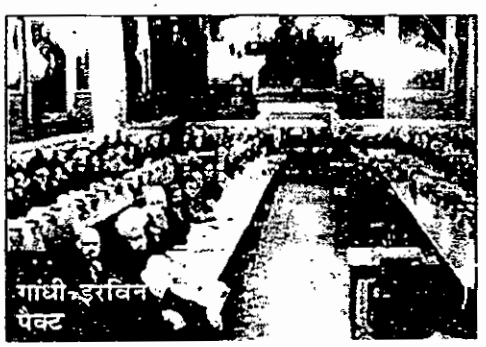

4 मई, 1930 को गाँधीजी को गिरफ्तार किया गया था। इसके बाद सरकार एक तरफ आंदोलन का दमन कर रही थी तो दूसरी ओर समझौते का प्रयास भी। जुलाई 1930 में वायसराय ने डोमीनियन स्टेट्स पर चर्चा के लिए गोलमेज़ सम्मेलन का प्रस्ताव रखा। हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, भारतीय रजवाड़े और दलित वर्ग के प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया (12 नवम्बर, 1930 से 19 जनवरी, 1931)। किन्तु कांग्रेस के सम्मेलन में भाग न लेने के कारण सम्मेलन असफल हो गया।

सरकार ने यह महसूस करते हुए कि गाँधी और कांग्रेस को लिये बिना किसी नतीजे पर नहीं पहुँचा जा सकता, 25 जनवरी को गाँधी तथा अन्य नेताओं को बिना शर्त रिहा कर दिया। इसके पश्चात् वायसराय और गाँधी के बीच चली 15 दिन की वार्ता के बाद 5 मार्च, 1931 को गाँधी-इरविन समझौता हुआ।

समझौते की शर्तें

इसके तहत वायसराय (लार्ड इरविन) इस बात पर सहमत हुए कि हिंसात्मक अपराधियों के अलावा शेष राजनीतिक कैदी रिहा होंगे। त्यागपत्र दे चुके सरकारी कर्मी नौकरी पर वापस लिए जायेंगे, समुद्र तट की एक निश्चित सीमा के भीतर नमक बनाने की अनुमति दी जायेगी, आपातकाल के अध्यादेश वापस होंगे, दुकानों पर शांतिपूर्ण धरने की छूट होगी तथा जुर्मानों की वसूली स्थगित की जायेगी और जब्त की गयी संपत्ति वापस की जायेगी। भगतसिंह को फाँसी न देने तथा पुलिस की ज्यादती की जाँच कराने को सरकार ने नहीं माना।

कांग्रेस की ओर से गाँधी ने सरकार को वचन दिया कि अवज्ञा आंदोलन वापस लिया जायेगा और कांग्रेस द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन में भाग लेगी।

कराची अधिवेशन (मार्च 1931)

5 मार्च, 1931 को सम्पन्न हुए गाँधी-इरविन समझौते को स्वीकृति प्रदान करने के लिए 29 मार्च, 1931 को कराची में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इस अधिवेशन में गाँधी-इरविन समझौते को स्वीकृति प्रदान

की गयी। किन्तु यह अधिवेशन इस बात के लिए जाना जाता है कि इसमें कांग्रेस ने मौलिक अधिकारों के साथ-साथ आर्थिक कार्यक्रमों से सम्बन्धित प्रस्ताव पास किया।

वस्तुत: इसी अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य को पहली बार परिभाषित किया गया। कहा गया कि जनता पर होने वाले शोषण को समाप्त करने के लिए राजनीतिक आजादी के साथ-साथ आर्थिक आजादी आवश्यक है। राजनीतिक आजादी को मौलिक अधिकारों के द्वारा व्यक्त किया गया और आर्थिक आजादी को आर्थिक कार्यक्रमों के द्वारा।

मौलिक अधिकारों की माँग

मौलिक अधिकारों से जुड़े प्रस्ताव में निम्न अधिकारों की माँग की गयी-

- अभिव्यक्ति एवं प्रेस की आजादी,
- वयस्क मताधिकार पर आधारित चुनाव,
- सभा एवं सम्मेलन आयोजित करने की आजादी,
- संगठन बनाने की आजादी,
- कानून के समक्ष समानता,
- राज्य का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप,
- अल्पसंख्यकों तथा अन्य भाषा-भाषियों की संस्कृति भाषा एवं लिपि की सुरक्षा।
- अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा।

आर्थिक कार्यक्रमों से जुड़ा प्रस्ताव

आर्थिक कार्यक्रमों से जुड़े प्रस्ताव इस प्रकार थे-

- मजदूरों एवं किसानों को यूनियन बनाने की आजादी।
- लगान एवं मालगुजारी में उचित कटौती।
- अलाभकर जोतों को लगान से मुक्ति।
- मजदूरों के लिए बेहतर सेवा शर्तें।
- महिला मजदूरों की सुरक्षा।
- महिला मजदूरों हेतु काम के घंटों की संख्या का निर्धारण।
- मुख्य उद्योगों, परिवहन और खानों पर सरकारी स्वामित्व।

इस प्रकार कांग्रेस का कराची अधिवेशन उसकी मूल नीतियों को स्पष्ट करता है। कांग्रेस की ये नीतियाँ उसके संपूर्ण संघर्ष एवं आजादी के बाद के संविधान में देखी जा सकती हैं।

अन्य प्रस्ताव

- गाँधी-इरविन समझौते को मंजूरी दी गयी।
- अहिंसा के सिद्धान्त में आस्था व्यक्त करते हुए क्रान्तिकारियों (भगत सिंह आदि को 6 दिन पहले फाँसी दी गयी थी) के बलिदान की प्रशंसा की गयी।
- पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य को दुहराया गया।

सविनय अवज्ञा का द्वितीय चरण

गाँधी इरविन समझौते (5 मार्च, 1931) से अवज्ञा आंदोलन का पहला चरण समाप्त हुआ था। द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन में गाँधी जी ने भाग लिया पर इसमें कांग्रेस की मुख्य माँगों पर कोई समझौता न होने से सम्मेलन असफल हुआ (7 सितम्बर, 1931 से 1 दिसम्बर, 1931 तक)। इसके पश्चात् गाँधी ने दुबारा सविनय अवज्ञा आरम्भ किये जाने की घोषणा की। गाँधी जी को पुन: गिरफ्तार कर लिया गया (4 जनवरी, 1932)।

जनता ने फिर से व्यापक प्रदर्शन किये। पहले चार महीने में ही 30 हजार से ज़्यादा लोग जेल भेजे गये। किन्तु सरकार के निरंतर दमन से आंदोलन कमजोर होता गया। अंतत: अप्रैल 1934 में गाँधी जी ने आंदोलन वापस लेने की घोषणा की।

सविनय अवज्ञा आंदोलन की सीमाएँ

- आंदोलन अपने पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य को नहीं पा सका। यहाँ तक कि सरकार ने डोमीनियन स्टेट्स भी नहीं दिया।
- गाँधी-इरविन समझौता कांग्रेस के लिए एवं साथ ही आंदोलन के लिए भी नुकसान देह साबित हुआ। गोलमेज़ सम्मेलन में जाने एवं वहाँ से खाली हाथ लौटने तक आंदोलन धीमा पड़ गया।
- मुसलमानों का इस आंदोलन से दूर रहना (कुछ स्थानों जैसे पश्चिमोत्तर प्रान्त को छोड़कर जहाँ खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने आंदोलन छेड़ा) आंदोलन की एक अन्य सीमा थी। सरकार ने इस मतभेद का फायदा उठाते हुए अड़ियल रवैया अपनाया।
- आंदोलन के पूर्व गाँधी द्वारा रखी गयी 11 सूत्री माँगें आंदोलन के उद्देश्य से कतई मेल नहीं खाती थी। स्वाधीन भारत के लिए किसी ठोस आर्थिक कार्यक्रम का अभाव लोगों के सामने कोई आदर्श लक्ष्य नहीं रख सका (विशेषतया किसानों एवं मजदूरों के संदर्भ में)।
- कांग्रेस नेतृत्व ने जनता की क्रान्तिकारी शक्ति से अधिक ब्रिटिश साम्राज्य की सदाशयता पर यकीन किया। सरकार के ढुलमुल रवैये के बाद भी गोलमेज़ सम्मेलन से उम्मीद की गयी और उसमें भाग लेने के लिए आंदोलन को स्थगित कर दिया गया।
- गाँधी-इरविन समझौते में गाँधी की 11सूत्री माँगों में से कोई भी माँग पूर्णत: नहीं मानी गयी। गाँधी सरकार से भगतसिंह को होने वाली फाँसी भी नहीं रद्द करवा सके (भगत सिंह को 23 मार्च को फाँसी होनी तय थी जबकि समझौता 5 मार्च को हुआ) यहाँ तक कि सरकार ने पुलिस द्वारा की गयी ज्यादातियों की जाँच की बात भी नहीं स्वीकारी।

अंतत: 1934 तक आते-आते जनता की आन्दोलन की क्षमता क्षीण होने लगी थी। गाँधी जी को यह महसूस हो रहा था कि आन्दोलन को और लम्बा नहीं खिंचा जा सकता है। अत: उन्होंने 1934 में इस आन्दोलन को वापस लेने की घोषणा कर दी। एक बार फिर कांग्रेस में विरामकालीन रणनीति को लेकर विवाद शुरू हो गया। इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने 1935 का अधिनियम जारी किया। इस बार गाँधीजी ने स्थिति को समझते हुए चुनाव में हिस्सेदारी के लिए कांग्रेस को अपनी स्वीकृति दे दी।

मूल्यांकन/महत्त्व/उपलब्धियाँ

- इस आंदोलन का महत्त्व सर्वप्रथम इसकी व्यापकता में दिखता है। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त से बंगाल तक तथा तमिलनाडु से असम तक इस आंदोलन की लहर फैली। आंदोलन के द्वितीय चरण में यह कश्मीर की रियासत में भी फैला। संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक आदि सभी प्रान्तों में आंदोलन उग्र रूप में फैला। जनता ने आंदोलन के लिए निर्धारित कार्यक्रम का दृढ़ता से पालन किया। छात्रों ने स्कूल और कालेज छोड़े, वकीलों ने अदालतों का बहिष्कार किया, सरकारी सेवकों ने नौकरी छोड़ी तथा विदेशी कपड़ों की होली जलाई गयी। प्रदर्शन, जुलूस, सभाएं और हड़तालें विरोध प्रदर्शन के लोकप्रिय तरीके बन गए। केवल पहले चरण में ही 90 हजार लोग जेल गये।
- इस आंदोलन में असहयोग आंदोलन से आगे बढ़कर कर न चुकाने का मुद्दा भी शामिल था जो काफी लोकप्रिय हुआ। संयुक्त प्रान्त एवं गुजरात में भू-राजस्व न देने का आंदोलन व्यापक रूप में चलाया गया। इसके अलावा अवज्ञा के अन्य तरीके भी अपनाये गए। वन कानूनों की अवज्ञा, चौकीदारी कर की अवज्ञा, असम में कनिंघम सरकुलर की अवज्ञा आदि के द्वारा लोगों ने सरकार के प्रति विरोध प्रकट किया।
- इस आंदोलन का सामाजिक दायरा काफी विस्तृत था। छात्र, किसान, व्यापारी आदि तो थे ही, आदिवासियों और महिलाओं की व्यापक भागीदारी भी देखी गयी। कर्नाटक, महाराष्ट्र एवं मध्यप्रान्त में वन कानूनों का उल्लंघन मुख्यत: आदिवासियों द्वारा किया गया। शराब, अफीम तथा विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर धरना देने में महिलाएं सदैव ही आगे रही। एक विद्वान का विचार है कि यदि इस आंदोलन से महिलाएं घर की चहारदीवारी से बाहर निकली तो भी इस आंदोलन को सफल मानना चाहिए। मजदूरों ने इस आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभायी। शोलापुर में पुलिस के साथ संघर्ष कर उन्होंने एक हफ्ते तक समानान्तर सरकार बना ली थी। गाँधी के गोलमेज़ सम्मेलन में जाने का भी उन्होंने विरोध किया जो इस वर्ग में आ चुकी राजनीतिक परिपक्वता का परिचायक था। इस आंदोलन का दायरा गाँव के निरक्षर लोगों तक पहुँचा। बंगाल के एक उच्चाधिकारी ने कहा-"मुझे इस बात का बिल्कुल अंदाजा नहीं था कि कांग्रेस को इस प्रकार के निरक्षर एवं गवांर लोगों का भी सहयोग प्राप्त होगा।"
- इस आंदोलन से देश में नई एकता, आत्मविश्वास एवं गौरव उत्पन्न हुआ। जनता ने गाँधी-इरविन समझौते को दो बराबर की ताकतों के बीच के समझौते के रूप में देखा। इस आत्मविश्वास ने ही उन्हें भविष्य के संघर्ष की प्रेरणा दी।
- इस आंदोलन ने भारत सरकार को आर्थिक रूप से क्षति पहुँचायी। कपड़े का आयात घटकर $\frac{1}{3}$ रह गया। अन्य आयातित वस्तुओं जैसे-सिगरेट की खपत भी घट गयी। शराब तथा भू-राजस्व से होने वाली सरकारी आय भी कम हुयी।

❖❖❖

9

द्वितीय विश्व युद्ध की राजनीति
(1935 – 1945)

पृष्ठभूमि

सविनय अवज्ञा आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में आम जनता की भागीदारी के दृष्टि से बेमिसाल था। लेकिन इसके वापस लिये जाने के बाद राष्ट्रवादी खेमे में भावी रणनीति पर बड़ी लंबी-चौड़ी और गंभीर बहस शुरू हो गई। बहस का मुख्य मुद्दा यह था कि राष्ट्रीय आंदोलन तत्काल कौन-सी राह पकड़े अर्थात् किस तरह संचालित किया जाए। गांधी जी ने रचनात्मक कार्यों की ओर ध्यान लगाने की बात कही तो कांग्रेस का दूसरा खेमा एक बार फिर, संवैधानिक तौर तरीकों से संघर्ष छेड़ने की बात करने लगा। इस समय कांग्रेस में एक तीसरी विचारधारा भी उभर रही थी। यह वह दौर था जब समाजवादी विचारों से प्रेरित जवाहर लाल नेहरू कांग्रेस में वामपंथी लहर का नेतृत्व कर रहे थे। उन्होंने 1936 में लखनऊ और फैजपुर कांग्रेस अधिवेशनों में अपने अध्यक्षीय भाषणों के माध्यम से नई वामपंथी रणनीति का प्रारूप प्रस्तुत किया था। नेहरू का मानना था कि अवज्ञा आंदोलन को वापस लेना, संसद में भागीदारी और रचनात्मक कार्य शुरू करना एक तरह से नैतिक पराजय है। यह अपने आदर्शों से पथविमुख होना तथा क्रांतिकारी राह छोड़कर सुधारवादी राह पकड़ने जैसा है। नेहरू ने गांधी की संघर्ष की मौलिक रणनीति का भी विरोध किया। उस रणनीति का जिसे हम "संघर्ष-समझौता-संघर्ष" की रणनीति कह सकते हैं, यानी औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ संविधानेत्तर तरीकों को जबर्दस्त संघर्ष और फिर अचानक आंदोलन को वापस लेना, सरकार के सुधारवादी कदमों से समझौता कर लेना और फिर मौका पड़ने पर संघर्ष छेड़ देना। इसी तरह नेहरू का वामपंथियों और संसद में हिस्सेदारी की वकालत करने वालों से भी मतभेद था। परिस्थितियां ऐसी बन रही थी जिसमें कांग्रेस के एक और विभाजन की संभावना स्पष्ट नजर आने लगी थी। ब्रिटिश अधिकारी मन ही मन खुश हो रहे थे कि आज नहीं तो कल कांग्रेस में विभाजन तो होगा ही। लेकिन एक बार फिर गांधी जी ने कांग्रेस को टूटने से बचा लिया। उन्होंने संसद में भागीदारी के पक्षधर खेमे को विधानमंडल में प्रवेश की अनुमति दे दी। साथ ही साथ गांधीजी ने नेहरू और वामपंथियों को यह भी बताया कि सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेना समय का तकाजा था, तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में एक सही कदम। लेकिन इसका मतलब साम्राज्यवाद से समझौता या राजनीतिक अवसरवादी ताकतों के सामने समर्पण नहीं है।

इधर ब्रिटिश सरकार 1932-33 के दौरान भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को दबाने में सफल तो हो गई थी, पर उसे मालूम था कि उसकी दमन की नीति बहुत दिनों तक कामयाब नहीं हो सकती। आने वाले दिनों में फिर आंदोलन भड़क सकता है और उसे दमन के बल पर दबाया नहीं जा सकता, अत: राष्ट्रीय आंदोलन को स्थायी रूप से कमजोर करने का मार्ग ढूढ़ने लगी। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को कमजोर करने की रणनीति को अमली जामा पहनाने के लिए अगस्त 1935 में 'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935' पारित किया। इस अधिनियम द्वारा संवैधानिक सुधारों का जाल फेंककर कांग्रेस के एक हिस्से को औपनिवेशिक शासन का हिस्सा बनाने का प्रयास किया गया। अधिनियम 1935 का विरोध सभी भारतीयों ने किया, कांग्रेस ने इसे पूरी तरह नामंजूर कर दिया। कांग्रेस ने इसके बदले आजाद भारत के लिए संविधान बनाने की मांग की। कांग्रेस की मांग थी कि एक संविधान सभा का गठन किया जाए, जिसके सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हो।

1935 अधिनियम लागू कर दिया गया था तथा 1937 के आरंभ में चुनाव कराने की घोषणा भी कर दी गई थी। अब कांग्रेस का मुख्य मुद्दा था सत्ता में साझेदारी का। इस मुद्दे पर कांग्रेस दो खेमे में बंट गयी, लेकिन अंतत: 1936 के प्रारंभ में लखनऊ में और आखिरी महीने में फैजपुर में कांग्रेस अधिवेशन के दौरान चुनाव में भाग लेने का निर्णय किया गया। फरवरी 1937 में चुनाव सम्पन्न हुए तो कांग्रेस को चुनावों में शानदार सफलता मिली। कांग्रेस को 716 सीटों पर सफलता मिली। बंगाल, असम, उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत, पंजाब और सिंध को छोड़कर शेष सभी प्रांतों में इसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। अंतत: 6 प्रातों में कांग्रेस की सरकार बनी। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अपने कार्यों से जनता में काफी लोकप्रियता हासिल की, सितंबर 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ हो गया। ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों से बिना पूछे इस युद्ध में भारतीयों को झोंक दिया। जब कांग्रेस ने सरकार से कहा कि वह अपने युद्ध के उद्देश्यों की स्पष्ट रूप से घोषणा करे तो ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने युद्ध का उद्देश्य आत्मपरिरक्षण बताया जबकि एक अन्य मंत्री ने कहा कि हमारा उद्देश्य युद्ध जीतना है। वायसराय ने भारत रक्षा नियमों के अधीन विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए। फिर ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल द्वारा यह घोषणा की गई कि एटलांटिक चार्टर भारत पर लागू नहीं होता और वह प्रधानमंत्री इसलिए नहीं बने कि अंग्रेजी साम्राज्य को समाप्त कर दिया जाए। सरकार की इन घोषणाओं से असंतुष्ट होकर अक्टूबर 1939 में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया।

वायसराय ने द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न राजनीतिक संकटों से निपटने के लिए अगस्त 1940 में सुप्रसिद्ध 'अगस्त प्रस्ताव' प्रस्तुत किया, जिसमें वायसराय की कार्यकारिणी (जिसमें उस समय तक एक भी भारतीय जनता का प्रतिनिधि नहीं था) को प्रसारित करने का सुझाव दिया ताकि एक युद्ध मंत्रणा परिषद बना दी जाए। सीधे अर्थों में इसका तात्पर्य भारतीयों को युद्ध के कार्यों में लगाना था।

अगस्त ऑफर (1940)

कांग्रेस ने हरिपुरा अधिवेशन (फरवरी 1939) में प्रस्ताव पारित करके यह कह दिया था कि भारत को ऐसे साम्राज्यवादी युद्ध में शामिल नहीं किया जा सकता जिसमें भारत की जनशक्ति और साधनों का दुरुपयोग ब्रिटिश स्वार्थों के लिए हो। यदि भारत को युद्ध में झोंकने का प्रयास किया गया तो भारत उसका तीव्र विरोध करेगा। इसके बाद त्रिपुरी कांग्रेस

अधिवेशन 1939 में भी यही बात दोहराई गई। कांग्रेस चाहती थी कि केन्द्र में भारतीयों को लेकर एक ऐसी सरकार बने जो विधानसभा के प्रति जिम्मेदार हो और युद्ध के बाद भारत को स्वाधीनता देने का वादा किया जाये। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने ऐसा कुछ नहीं किया और भारत को युद्ध में शामिल करने की घोषणा कर दी। अन्ततः जब युद्ध का विरोध होने लगा तो वायसराय लार्ड लिनलिथिगो ने 19 जनवरी, 1940 को घोषणा कर दी कि युद्ध के बाद जितनी जल्दी हो सकेगा भारत को डोमीनियन स्टेट्स घोषित कर दिया जायेगा। इसी के बाद 20-22 मार्च, 1940 को कांग्रेस का रामगढ़ अधिवेशन हुआ, जिसकी अध्यक्षता अबुल कलाम आजाद ने की थी। इसमें कांग्रेस ने प्रस्ताव पारित करके कहा कि भारत की जनता पूर्ण स्वाधीनता से कम कुछ भी स्वीकार नहीं कर सकती तथा भारत की जनता ही अपना निजी संविधान तैयार कर सकती है। इसी अधिवेशन में इन बातों को न मानने पर व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा करने की चेतावनी भी दी गयी। इधर युद्ध का विरोध तीव्र होता देखकर सरकार ने 8 अगस्त, 1940 को एक घोषणा की, जिसे 'अगस्त प्रस्ताव' के नाम से जाना जाता है। इसमें निम्नलिखित प्रावधान थे-

- ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारत में औपनिवेशिक स्वराज की स्थापना करना है।
- युद्ध के समाप्त होने पर तुरंत एक **संविधान निर्मात्री सभा** का गठन किया जायेगा, जिसमें भारतीय प्रतिनिधि भी होंगे।
- गवर्नर जनरल की **कार्यकारिणी का विस्तार** किया जायेगा तथा उसमें भारतीय प्रतिनिधियों को लिया जायेगा।
- ब्रिटिश सरकार को युद्ध के मसलों पर राय देने के लिए एक **युद्ध परामर्श समिति** का गठन किया जायेगा जिसमें **देशी रियासतों एवं अन्य वर्गों के प्रतिनिधि** शामिल होंगे।
- ब्रिटिश सरकार भारत की **शान्ति और कल्याण** के मद्देनजर शासन का उत्तरदायित्व किसी ऐसे दल को नहीं सौंपेगी जिसका अन्य कोई दल विरोध करे।
- ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता से अनुरोध करती है कि वह सरकार को युद्ध में पूर्ण रूपेण सहयोग करे और कॉमनवेल्थ का हिस्सा रहते हुए स्वायत्तता प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

व्यक्तिगत सत्याग्रह (1940)

कांग्रेस ने अगस्त प्रस्ताव को तुरंत अस्वीकृत कर दिया, क्योंकि कांग्रेस की मुख्य मांग थी कि भारत का शासन तत्काल भारतीयों को सौंपा जाये। साथ ही इसमें अल्पसंख्यकों को अनावश्यक वीटो पावर दे दी गयी थी। दूसरी तरफ मुस्लिम लीग ने इस घोषणा को इसलिए अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसमें पाकिस्तान का जिक्र तक नहीं था। कांग्रेस द्वारा घोषणा की अस्वीकारोक्ति के बाद गांधी जी को **व्यक्तिगत सत्याग्रह** का संचालन करने की जिम्मेदारी सौंप दी गयी। कांग्रेस कार्यकारिणी ने 11 अक्टूबर को व्यक्तिगत सत्याग्रह करने का निश्चय किया था। व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिये गांधी जी ने कुछ नियम बनाये जैसे -

- सत्याग्रह में वही आदमी भाग ले सकता है जिसको गांधी जी इजाजत देंगे।
- जिस किसी को भी सत्याग्रह के लिए चुना जायेगा वह निर्धारित समय के एक हफ्ते पहले स्थानीय अधिकारियों को सूचित करेगा कि उसकी सत्याग्रह यात्रा कहां से कहां तक की होगी।

- सत्याग्रही व्यक्ति अगर सत्याग्रह के दौरान गिरफ्तारी से बच गया तो वह निर्धारित स्थान पर पहुंचकर तिरंगा फहरायेगा और नारा लगायेगा कि युद्ध से हमारा कोई वास्ता नहीं है।

17 अक्टूबर, 1940 को व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू हुआ। पहले सत्याग्रही आचार्य विनोबा भावे बने। इसके बाद दिसम्बर 1941 तक इस आंदोलन में चार चरण सामने आये। पहले चरण में चुने हुए व्यक्तियों से सत्याग्रह करने को कहा गया जैसे विनाबो भावे, जवाहर लाल नेहरू आदि। दूसरे चरण में नवम्बर के मध्य से जनवरी के प्रारंभ तक, जिसमें कांग्रेस कार्यकारिणी, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति तथा केन्द्रीय और प्रांतीय विधान परिषदों के सदस्यों को चुना गया। इस आंदोलन में कार्य समिति के 11, अखिल भारतीय समिति के 196 तथा विधान सभाओं के 400 सदस्यों ने भाग लिया था। आंदोलन के तीसरे चरण में लगभग 2200 लोग जेल गये। अंतिम चरण तक लगभग 20,000 सत्याग्रही जेल में बंद हुए। अंततः इसी ने भारत छोड़ो आन्दोलन के लिये वातावरण तैयार कर दिया।

भारत छोड़ो आन्दोलन (1942)

पृष्ठभूमि

9 अगस्त, 1942 का दिन भारतीय इतिहास के स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है। इसकी तुलना विश्व की महत्वपूर्ण घटनाओं से की जाती है। यह भी मानव इतिहास में पीड़ित और परतंत्र जनता द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति के उन्हीं स्वर्णिम घटनाओं में गिना जाता है जिनमें अमेरिकी क्रांति, फ्रांसीसी क्रांति एवं रूसी क्रांति को रखा जा जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए किया गया यह प्रयास राष्ट्रवाद की ऐसी चेतना जागृत कर गया, जिसने साम्राज्यवादी सत्ता की जड़ें हिला दी और अंततः अगले 5 वर्षों के राजनीतिक घटनाक्रमों के बाद 15 अगस्त, 1947 को ब्रिटिश सत्ता का शासन समाप्त हो गया और भारत का एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में आविर्भाव हुआ।

1942 के इस आंदोलन में ऐसी क्या खास विशेषता थी जिसने जनता पर इतना व्यापक प्रभाव डाला? क्या यह परिस्थितियों की देन मात्र थी? क्या इस पर तत्कालीन युद्ध एवं राष्ट्रीय नेतृत्व का प्रभाव था? इस पृष्ठभूमि का पता लगाकर हमारे लिये यह जानना भी आवश्यक है कि क्या कांग्रेस द्वारा आयोजित पूर्व के आंदोलनों से इसका स्वरूप भिन्न था? अगर स्वरूप भिन्न था तो प्रभावों और बाद के क्रियाकलापों में भी क्या आमूल-चूल परिवर्तन आये? और सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न इस आंदोलन में गांधीजी की भूमिका क्या रही अर्थात क्या यह सरकार से असहयोग, उसके बाद सविनय अवज्ञा और अब सीधे स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए बगावत नहीं थी?

इतने सारे प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ना काफी दुरूह कार्य है। साथ ही उत्तर ढूंढने के क्रम में उहापोह की स्थिति बनने की संभावनाओं से इंकार नहीं किया जा सकता। अतः इस आंदोलन को कुछ बिंदुओं के आधार पर पंक्तिबद्ध किया जा सकता है। जैसे आंदोलन की पृष्ठभूमि क्या बनी। आंदोलन के उद्देश्य क्या थे? आंदोलन का विकास किस प्रकार हुआ? स्वरूप क्या था? और परिणामों के स्तर पर आंदोलन ने क्या छाप छोड़ा?

1920 के दशक से ही कांग्रेस में साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवादी देशों के खिलाफ अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक जनमत तैयार हो रहा था। इसी जनमत के प्रभाव में नेहरू को 1927 के ब्रूसेल्स सम्मेलन (साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद विरोध लीग) में कांग्रेस के प्रतिनिधि के तौर पर भेजा गया था। तब से प्रत्येक राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं में फांसीवादी, साम्राज्यवादी, औपनिवेशिक शक्तियों के खिलाफ कांग्रेस सहित सभी भारतीय दल सामूहिक रूप से विरोध प्रदर्शन करते आ रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में सितंबर, 1939 को ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार द्वारा भारत को द्वितीय विश्वयुद्ध में शामिल किया जाना, सभी भारतीय दलों द्वारा विरोध का कारण बना। इस विषय पर लोकतांत्रिक आधार पर प्रांतीय विधानमंडलों में चुनी गई कांग्रेस मंत्रिमंडलों के प्रतिनिधियों से भी कोई विचार-विमर्श नहीं हुआ। उदारवादी लोकतांत्रिक मूल्यों का ढोंग करने वाली इन पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों का यह व्यवहार भारतीय जनमानस के आक्रोश तथा 1942 के आंदोलन का तात्कालिक आधार बना, क्योंकि इसके बाद का सारा घटनाक्रम लगभग इसी प्रक्रिया से जुड़ा था।

उदाहरण स्वरूप देखें तो ज्ञात होगा कि द्वितीय विश्व युद्ध में भारत को शामिल किये जाने के प्रश्न पर जहां कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने 22 अक्टूबर, 1939 को सभी प्रांतीय विधानसभाओं से इस्तीफा देकर व्यक्तिगत सत्याग्रह द्वारा नैतिक रूप से ब्रिटिश सत्ता का विरोध प्रारंभ किया, तो वही दूसरी तरफ गरमपंथी दलों जैसे मुख्यतः कांग्रेस समाजवादी दल एवं सुभाषचंद्र बोस के फारवर्ड दल ने सशस्त्र विरोधात्मक संघर्ष प्रारंभ करने के लिए तैयारी शुरू कर दी।

परिणामस्वरूप भारतीय दलों विशेषरूप से कांग्रेसी धड़ों को मनाने एवं भारतीय जनता का युद्ध में समर्थन प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने 17 अक्टूबर, 1939 को श्वेत पत्र जारी कर बाद में लिनलिथंगो प्रस्ताव व क्रिप्स मिशन (1942) आदि माध्यमों से सक्रिय प्रयास प्रारंभ किया।

इन प्रयासों का नकारात्मक जवाब मिला। कांग्रेसी घटकों के अलावा अन्य दल जैसे मुस्लिम लीग, उदारवादी घटकों, साम्यवादी दल, हरिजन संघों, सिख, पारसी व ईसाई पार्टियों आदि ने भी ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों को अपने हितों के प्रतिकूल पाया और इसका पूर्णतः विरोध किया।

कांग्रेस ब्रिटिश सरकार का युद्ध में नैतिक आधार पर समर्थन करना चाहती थी, बदले में गांधी जी के नेतृत्व में भारतीय जनता के हितों के लिए कुछ मांगें रख रही थी जिसमें भारत को स्वतंत्र करने की मांग, संविधान निर्माण हेतु वयस्क मताधिकार पर आधारित प्रतिनिधि चयन करने की मांग आदि शामिल थीं। जबकि दूसरे भारतीय दल अपने सांप्रदायिक, जातीय, वर्गीय एवं राजनीतिक हितों की पुष्टि चाहते थे। इन विरोधी मांगों में सामंजस्य स्थापना की जगह ब्रिटिश सरकार अंतर्विरोध पैदा कर फूट डालो की नीति का सहारा ले रही थी।

परिणामस्वरूप कांग्रेस जहाँ राष्ट्रीय आंदोलन में वामपंथी प्रभावों के कारण आंतरिक स्तर पर जूझ रही थी वहीं बाहरी सांप्रदायिक व वर्गीय समस्याओं ने आंदोलन में गतिरोध की संभावनाएं पैदा कर दी। इस स्थिति को भांपकर कांग्रेस कार्यकारिणी ने गांधीजी के नेतृत्व में आंदोलन का निर्णय लिया। इन आंतरिक राजनीतिक घटनाओं के साथ-साथ संपूर्ण भारत में युद्ध के कारण उत्पन्न हुयी आर्थिक सामाजिक बदहाली और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बदलती परिस्थितियों ने भी इस आंदोलन को गतिशीलता प्रदान की।

भारत के विभिन्न भागों खास कर संयुक्त प्रांत, बिहार, बंगाल प्रांत के अधिकतर लोग ब्रिटिश भारतीय सेना की तरफ से दक्षिण पूर्वी एशियाई मोर्चों पर लड़ रहे थे। जापान का बढ़ते दबाव के कारण यूरोपीय अफसर तथा कर्मचारी इन

सैनिकों को बदहाल स्थिति में छोड़कर पीछे आ रहे थे, वहीं बर्मा से सटे बंगाल, असम, प्रांतों में सर्वक्षार की नीति (अर्थात स्वयं ही क्षेत्र की आर्थिक संपत्ति को नष्ट करना जिससे शत्रु देश इसका उपयोग न कर पाये) द्वारा फसलों को बर्बाद कर रहे थे। (नेपोलियन द्वारा रूस पर आक्रमण के दौरान रूसी जनता ने भी इस नीति का सहारा लिया था।) इन क्षेत्रों में जीवन रेखा मानी जानी वाली नावों को जब्त कर रहे थे। फासीवादी जापान के विरूद्ध लड़ रही मित्र राष्ट्रों की सेनाओं द्वारा अपने सहयोगी भारतीय सैनिकों के साथ नस्लवादी भेदभाव किया जा रहा था। इन अराजक होती परिस्थितियों ने भारतीय जनता को आक्रोशित कर दिया था। जनता की रक्षक तथाकथित ब्रिटिश सरकार जापानी खतरे का विरोध नहीं कर पा रही थी। इन परिस्थितियों से व्याकुल गांधीजी अब राजनीतिक आंदोलन छेड़ने के लिए विवश थे। वे अंग्रेजों से भारत को स्वतंत्र करने की अपील करने लगे। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी युद्ध में भारतीय समर्थन प्राप्त करने तथा जापान से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिकी तथा चीनी नेताओं ने ब्रिटिश सरकार पर भारतीय जनता को स्वतंत्रता प्रदान करने का दबाव डाला। किंतु अंग्रेजों ने क्रिप्स मिशन की असफलता के बहाने इन मुद्दों को टाल दिया।

आन्दोलन का स्वरुप

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत पर जापानी आक्रमण की बढ़ रही संभावना से उपजी परिस्थितियों में कांग्रेस समिति पर अहिंसात्मक सत्याग्रह आंदोलन आरंभ करने के लिए दबाव पड़ा। अब सवाल उठता है कि यह एक विद्रोह था या संगठित आंदोलन? कांग्रेस द्वारा आंदोलन के तय उद्देश्यों से कहीं भी विद्रोह की झलक नहीं मिलती। कांग्रेस द्वारा मुख्यतः चार उद्देश्य तय किये गये। प्रथम, भारत को विदेशी सत्ता से स्वतंत्र करना तथा भारतीय जनता में राष्ट्रवादी जागृति पैदा करना। दूसरा भारत को जापान तथा ब्रिटेन के बीच रणक्षेत्र के रूप में बदलने से बचाना। तीसरा, भारत में सांप्रदायिक सौहार्द स्थापित करना एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संसार के सभी देशों में घोषित लोगों के लिए नैतिक तथा धार्मिक नेतृत्व स्थापित करना। चौथा, एशिया के सभी औपनिवेशिक देशों की स्वतंत्रता प्राप्ति में सहायता देना तथा वैश्विक स्तर पर अंतर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना में सहयोग देना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस प्रस्तावों द्वारा व्यापक अहिंसात्मक कार्यक्रम तय किये गये। इन कार्यक्रमों में पूर्ववर्ती असहयोग एवं सविनय अवज्ञा आंदोलनों के दौरान प्रयुक्त रणनीतियां भी शामिल थीं। असहयोग के स्तर पर ब्रिटिश संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों, सरकारी कर्मचारियों, वकीलों आदि को ब्रिटिश सरकार से संबंध विच्छेद करने, सविनय अवज्ञा के कार्यों में नमक कर एवं सीमित रूप में लगान न देने, हड़तालें आयोजित करने, स्त्रियों द्वारा मद्यनिषेध रैली आयोजित करने आदि का उल्लेख था। इन प्रस्तावों में कहीं भी अराजक कार्यों जैसे गाड़ियां रोकने, हिंसात्मक कार्य करने, समानांतर सरकार स्थापित करने, सरकारी विभागों को नुकसान पहुंचाने जैसे कार्यों का जिक्र नहीं था।

इस आंदोलन को शहरी, ग्रामीण या फिर आंचलिक स्तर पर विभिन्न चरणों में चलाने का कार्यक्रम था। किंतु आकस्मिक रूप में कांग्रेस के सभी बड़े नेताओं के गिरफ्तार कर लिये जाने से आंदोलन की योजनाएं अस्त-व्यस्त हो गयीं। एक पूर्वनियोजित एवं संगठित आंदोलन नेतृत्व, विचारधारा दोनों स्तरों पर बिखर गया। किंतु उद्देश्यों के स्तर पर अभी भी एक था- यह उद्देश्य था पूर्ण स्वतंत्रता। यद्यपि नेतृत्व के कई केन्द्र उभरे जैसे समाजवादी नेताओं द्वारा [illegible]

मीनू मसानी, अरुणा आसफ अली आदि स्थानीय किसान नेताओं जैसे बलिया में चित्तू पांडे जिन्होंने आंदोलन को गतिशीलता प्रदान की।

यहीं से आंदोलन के स्वरूप में परिवर्तन आया। अब अनियंत्रित एवं नेतृत्वहीन जनता का आंदोलन स्वतंत्रता प्राप्ति की आकांक्षाओं में तीव्र हो गया। अहिंसक गतिविधियों की सीमा लांघकर आंचलिक स्तर पर जनता ने सरकारी उपक्रमों एवं उसके प्रतीक चिह्नों जैसे तार व्यवस्था, संचार साधनों आदि को नष्ट करना प्रारंभ कर दिया। कहीं-कहीं पर हिंसात्मक कार्यवाहियां भी हुई। दूरदर्शी नेतृत्व के अभाव में जनता गुमराह हो गई। सतारा, तामलुक, बलिया एवं मिदनापुर जैसे सुदूर स्थानों पर स्थानीय जनता ने समानांतर सरकारें स्थापित कर ली।

भारतीय जनता के विद्रोहमूलक गतिविधियों को दबाने के लिए ब्रिटिश सरकार पहले से सतर्क थी। कांग्रेस का दूरदर्शी नेतृत्व इस बात के प्रति आशंकित था कि सरकार 1932 के भारत रक्षा कानून को फिर से लागू कर सकती है।

कांग्रेसी नेताओं की आशंका निर्मूल नहीं साबित हुई। शीघ्र ही भारत छोड़ो आंदोलन का दमन कर दिया गया। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी धुरी राष्ट्रों के पराजय से मित्र राष्ट्रों की स्थिति सुदृढ़ हुई। जापान के भारत पर आक्रमण का संकट टल गया।

इस प्रकार आक्रोशित जनता तथा गांधीजी के 'करो या मरो' की घोषणाओं के आवेग में प्रारंभ किया गया तीव्र आंदोलन अपने अल्पकालीन उद्देश्यों (स्वतंत्रता प्राप्ति) में जरूर असफल रहा, किंतु भारतीय राष्ट्रवाद की ऐसी जागृति पैदा कर गया जिसने अखिल भारतीय स्तर पर विरोध को तीव्र किया। इस आंदोलन ने जनता के साथ-साथ पुलिस तथा फौज के मन में भी विद्रोह की भावना भर दी, जिसने अंग्रेजी सरकार के सबसे मजबूत आधार अर्थात् सेना में कीलें ठोंक दी। फलस्वरूप नौसेना विद्रोह आजाद हिंद फौज के प्रति जनता की भावनाएं जुड़ीं। नौसेना विद्रोह (1946) को व्यापक जनमर्थन मिला। ब्रिटिश सरकार को भारतीयों के साथ समझौता करना पड़ा। वेवेल समझौता (1945), कैबिनेट मिशन (1946) आदि संधि स्वरूप तय हुये। कालांतर में इन्हीं संधि आधारों पर संविधान सभा बनी और भारत संविधान पर आधारित संप्रभु गणराज्य बना।

यह कहा जाता है कि भारत की स्वतंत्रता में इस तीव्र असंतोष मूलक जनांदोलन से ज्यादा युद्ध के कारण उत्पन्न हुई ब्रिटिश आर्थिक नीतियां कारण बनी। इस तथ्य को स्वीकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि अगर आर्थिक विपन्नता ही वास्तविक कारण था तो भारत जैसे अन्य अफ्रीकी उपनिवेशों को क्यों नहीं स्वतंत्रता मिली। ये उपनिवेश 1960 के दशक में ही जाकर अंग्रेजी सत्ता से स्वतंत्र हो पाये। इस प्रकार आंदोलन तत्कालीन परिस्थितियों में जिसे विश्वयुद्ध ने भयावह बना दिया था, राजनीतिक चेतना से ओत-प्रोत जनता का अपने आक्रोशों को मूर्तरूप देने का एवं ब्रिटिश साम्राज्य को जड़ से उखाड़ फेंकने की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी।

आन्दोलन के तीन चरण

- **प्रथम चरण** : प्रथम चरण में आन्दोलन शहरी क्षेत्रों में केन्द्रित था। पटना, दिल्ली, बम्बई इत्यादि बड़े शहरों में इसका विशेष प्रभाव था। कुछ विशेष वर्गों, छात्र, बुद्धिजीवी, उद्योगकर्मी, व्यवसायी तथा मध्यम वर्ग की इसमें विशेष सक्रियता थी। बहुत बाद में ही सभी सरकारी संस्थानों यथा, डाकघर, रेलवे-स्टेशन, बैंक, कार्यालय, टेलीफोन इत्यादि को ध्वंस का केन्द्र बनाया गया। किन्तु, इन क्षेत्रों में दमन सरलता से किया जा सका, क्योंकि प्रशासनिक व्यवस्था वहाँ ज्यादा चाकचौबन्द थी।।

- **द्वितीय चरण :** द्वितीय चरण में आन्दोलन शहर से सटे ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तारित हुआ। यहां छात्रों के नेतृत्व में किसानों ने आन्दोलन किया। असल में शहरी चरण में अंग्रेजों ने शिक्षण संस्थाओं को बन्द कर दिया तथा दमन के कारण भागे हुए छात्रों ने ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर आन्दोलन का व्यापक प्रसार किया। आन्दोलन का चरमोत्कर्ष तामलुक, सतारा, मिदनापुर इत्यादि में दिखा जहां विद्रोहियों ने समानांतर सरकारों की स्थापना की। इन क्षेत्रों में आवागमन की असुविधा के कारण, संचार-साधनों की कमी के कारण दमन की प्रक्रिया में बहुत दिक्कत हुई। मजबूरन अंग्रेजों ने बम-वर्षा तथा हवाई प्रहार-जैसे हिंसात्मक तरीकों का सहारा लिया, जिससे जनता में हिंसा भड़क उठी और ध्वंसकारी गतिविधियां इसी समय से प्रारंभ हुई।
- **तृतीय चरण :** अब तक अंग्रेजों की दमनात्मक कार्यवाही इतनी क्रूर, अनैतिक तथा अमानवीय हो गई थी कि बचे हुए राष्ट्रवादियों ने भूमिगत होना उचित समझा। वस्तुत: सरकार लोगों को इतना डरा देना चाहती थी कि उनके मन से साम्राज्यवाद विरोधी भावना निकल जाए। आन्दोलन सितम्बर के अन्त तक दब गया। भूमिगत राष्ट्रवादियों तथा अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ अली, लोहिया इत्यादि ने जनता में उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना को बरकरार रखने के उद्देश्य से पर्चों के माध्यम से विचारों का प्रसार किया। उषा मेहता के गुप्त कांग्रेस रेडियो एवं पूंजीपतियों की भी भूमिका उल्लेखनीय रही।

आंदोलन पर बहस

नेता-स्तर पर ब्रिटिश सत्ता के प्रति भारतीयों में असंतोष तो पहले से ही उठ चुका था, पर जन-स्तर पर यह भावना अब विस्फोटक स्थिति में पहुंच गई थी। ऐसे में गांधी जी ने विशेष कदम उठाने का निश्चय किया, हालांकि प्रारंभिक दौर में नेहरू, इत्यादि सहमत नहीं थे। वस्तुत: गांधीजी ने क्रांतिकारी कगार पर खड़े वृहत पैमाने के असंतोष का इस्तेमाल कर जन-असहयोग आधारित अहिंसात्मक आन्दोलन करना चाहा। भारत पर जापानी आक्रमण के संभावित आर्थिक, भौगोलिक तथा मानव-हानि से बचने हेतु पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति अनिवार्य है जो युद्धकाल में ऐसे आन्दोलन द्वारा अंग्रेजों पर दबाव डालकर यथासम्भव प्राप्त की जा सकती है। नेहरू, आजाद इत्यादि आन्दोलन हेतु स्थिति को अनुकूल नहीं मानते थे, जबकि गांधी इस तथ्य से सुपरिचित थे कि आन्दोलन का स्वरूप अस्थायी तथा सरकारी दमन कठोर होगा। साथ ही, लोग अपनी मर्जी किए बिना मानेंगे नहीं, तभी तो उन्होंने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया कि नेतृत्व के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति अपना नेता स्वयं ही होगा। स्पष्टत: उन्होंने इस प्रकार के आन्दोलन द्वारा लोगों के मन में दबी असंतोष की भावना को जनजागरण के रूप में प्रकट करना चाहा। किन्तु, प्रारम्भ में उन्होंने अंग्रेजों को अंतिम समय तक निर्णय करने का मौका दिया। अन्तत: धमकी का सहारा लेते हुए उन्होंने अपने प्रभाव का फायदा उठाकर अपने विचार 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का अनुमोदन 14 जुलाई, 1942 की वर्धा-बैठक द्वारा करा लिया। वैसे, कांग्रेस भी क्रिप्स, एमरी सहित सभी अंग्रेजों के झूठे व उत्तेजक भाषणों का उपयुक्त उत्तर देना चाहती थी। 7 अगस्त, 1942 को बम्बई में कांग्रेस ने इस 14 जुलाई के प्रस्ताव के आधार पर लम्बा प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसमें आन्दोलन के औचित्य, कार्यक्रम इत्यादि का स्पष्टीकरण किया गया।

भारतीयों के जन्मसिद्ध अधिकार स्वाधीनता हेतु अहिंसात्मक जनान्दोलन चलाना है, जिसकी कुछ शर्तें हैं, हिन्दू-मुस्लिम भेद का परित्याग, गैर साम्राज्यवादी अंग्रेजों के प्रति घृणा का त्याग, कपट व असत्य का परित्याग व व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अनुभूति। कांग्रेस शक्ति का हस्तांरण समस्त भारत के लिए चाहती थी, जिसके लिए करो या मरो का नारा दिया गया।

आन्दोलन की विशेषताएँ

आंदोलन के कार्यक्रम की विशेषता थी कि अधिकतम जन-समूह का योगदान प्राप्त करने हेतु स्थिति के अनुरूप अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित किए गांधी जी ने। सरकारी कर्मचारी नौकरी न छोड़ें, किन्तु कांग्रेस के प्रति अपनी निष्ठा घोषित करें, सैनिक देशवासी पर गोली न चलाएं, देशी रियासतों में नरेश जनप्रभुसत्ता स्वीकार करें तथा वहां की जनता स्वयं को भारतीय राष्ट्र का अंग स्वीकार करे, किसान उन जमींदारों को रकम न दें, जो सरकार का साथ देंगे इत्यादि। कार्यक्रम का दूसरा अहम पहलू-इसकी हिदायतें थीं-किसी निश्चित दिन हड़ताल-24 घण्टे का उपवास व प्रार्थना, बलात् दुकानें बन्द न हों-गांवों में सभाएं व जुलूस निकाले जाएं-समय आने पर ही सरकारी प्रतिष्ठानों के व्यक्ति आन्दोलन में भाग लें।

क्रिप्स योजना (1942)

22 जून, 1942 को हिटलर द्वारा सोवियत संघ पर आक्रमण और चर्चिल द्वारा ब्रिटेन-सोवियत मैत्री की घोषणा ने युद्ध का स्वरूप परिवर्तित कर दिया। युद्ध के चरित्र में बदलाव को भारत के राष्ट्रीय नेता भी महसूस कर रहे थे। अगस्त 1941 में अटलांटिक घोषणा हुई जिसे ब्रिटेन और अमरीका ने संयुक्त रूप से जारी किया था। इसमें कहा गया था कि वे सब कौमों के शासन के रूप, जिसके मातहत वे रहेंगे स्वयं चुनने के अधिकार का आदर करते हैं, और वे देखना चाहते हैं कि उन लोगों का सार्वभौम अधिकार और स्वराज पुनः दिया जाये जिनसे बलपूर्वक उन्हें छीन लिया गया है। इस घोषणा के बाद भारतीय नेताओं को आशा बंधी लेकिन 9 सितम्बर, 1941 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री की एक अन्य घोषणा ने भारतीयों की आशा पर पानी फेर दिया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने कहा था कि यह घोषणा (अटलांटिक चार्टर) भारत, बर्मा जैसे एशियाई उपनिवेशों पर लागू नहीं होती है। इसके बावजूद दिसम्बर 1941 में कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने अपने बारदोली प्रस्ताव में कहा कि यदि सरकार द्वारा भारत में एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की जाती है तो कांग्रेस युद्ध का समर्थन करेगी। इस बीच ब्रिटेन पर चीन, अमेरिका जैसे देशों का दबाव पड़ रहा था कि अटलांटिक चार्टर को भारत में भी लागू किया जाये। रूजवेल्ट ने इसे सभी पर लागू होने की बात की, परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने भारतीय समस्या के समाधान के लिए 11 मार्च, 1942 को एक मिशन भेजने की घोषणा की। इसके अध्यक्ष स्टेफोर्ड क्रिप्स थे, इस कारण इसे 'क्रिप्स मिशन' भी कहा जाता है। इसमें अन्य दो सदस्य थे-ए.वी. अलेक्जेण्डर तथा लार्ड पैथिक लारेंस। यह मिशन 22 मार्च, 1942 को एक समझौते का मसविदा लेकर भारत आया जिससे भारतीयों से कोई समझौता हो सके। क्रिप्स मिशन ने भारत में अपने 29 दिन के प्रवास के दौरान विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं विचार-विमर्श करके एक प्रस्ताव पेश किया जिसके प्रावधान इस प्रकार हैं-

1. युद्धोपरांत प्रावधान, और 2. युद्धकालीन प्रावधान

युद्धोपरांत प्रावधान

- इसमें यह प्रावधान था कि युद्ध के बाद एक नये भारतीय संघ की व्यवस्था की जायेगी, जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रांत तथा विभिन्न देशी रियासतों के प्रतिनिधियों को शामिल किया जायेगा। इस संघ को स्वशासित उपनिवेश का पूर्ण दर्जा प्रदान किया जायेगा। इस संघ को आन्तरिक तथा बाहरी नीति के विषय में पूर्ण स्वतंत्रता होगी और यदि वह चाहेगा तो ब्रिटिश सरकार से संबंध विच्छेद भी कर सकेगा।
- युद्ध समाप्त होने के तुरन्त बाद भारत का संविधान निर्मित करने के लिए ब्रिटिश भारत के प्रांतों और देशी रियासतों के प्रतिनिधियों की एक संविधान सभा का गठन किया जायेगा।
- इस प्रस्ताव में यह प्रावधान भी था कि युद्ध की समाप्ति से पूर्व यदि किसी भारतीय सम्प्रदाय के नेता, किसी अन्य व्यवस्था पर असहमत हों तो संविधान सभा के कुछ सदस्यों का चुनाव प्रांतीय विधान सभायें करेंगी तथा कुछ का समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होगा।
- इस संविधान द्वारा बनाये गये संविधान को ब्रिटिश सरकार तभी स्वीकार करेगी जब निम्नलिखित शर्तें पूरी होंगी-

  क. यदि कोई प्रांत या रियासत नये संविधान को स्वीकार नहीं करती है तो उन्हें यह अधिकार होगा कि वे अपने संवैधानिक स्थिति को बनाये रखें। लेकिन वे यदि बाद में इस संघ में शामिल होना चाहेंगे तो शामिल हो सकेंगे। यदि कोई प्रांत या रियासत चाहे तो वह अपना अलग संविधान भी बना सकेगी।

  ख. इसके अलावा एक शर्त यह भी थी कि संविधान की स्वीकृति के बाद संविधान सभा और ब्रिटिश सरकार के बीच एक संधि होगी जिसमें पूर्ण सत्ता हस्तांतरण के उत्पन्न होने वाली समस्याओं का हल होगा। इसके अलावा संधि में जाति और धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की रक्षार्थ अलग से व्यवस्था की जायेगी।

युद्धकालीन प्रावधान

युद्ध चलने तक यह प्रस्ताव रखा गया कि सत्ता ब्रिटेन के हाथ में रहेगी और भारतीय प्रतिनिधियों का सहयोग सलाहकार होगा। कांग्रेस ने क्रिप्स प्रस्तावों को ठुकरा दिया। महात्मा गांधी ने इन्हें दिवालिया बैंक के नाम भविष्य की तिथि में भुनने वाला चेक (Post dated cheque on a failing bank) कहा। डॉ. पट्टाभि सीतारमैय्या ने अगस्त प्रस्ताव को परिवर्धित संस्करण मात्र कहा था।

कांग्रेस के द्वारा प्रस्ताव की अस्वीकृति के कई कारण थे-

- इस प्रस्ताव में औपनिवेशिक स्वराज की बात तो थी, लेकिन उनकी कोई समय सीमा नहीं निर्धारित थी।
- कांग्रेस देशी रियासतों के शासकों द्वारा संविधान सभा में प्रतिनिधियों के भेजने के खिलाफ थी, वह चाहती थी कि वहां की जनता ही इनको चुने।
- कांग्रेस इस प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार की भारतीय क्षेत्र को तोड़ने की रणनीति को भली-भांति समझ चुकी थी।

- इसके अलावा कांग्रेस वायससय की नई कौंसिल के गठन में भारतीयों को कोई अधिकार न दिये जाने तथा सम्पूर्ण अधिकार वायसराय और ब्रिटिश सरकार में ही निहित होने के प्रावधान का भी विरोध कर रही थी।

मुस्लिम लीग ने इन प्रस्तावों को इसलिए अस्वीकृत कर दिया क्योंकि इसमें पाकिस्तान की मांग स्वीकार नहीं की गयी थी। साथ ही लीग मुसलमानों के लिए एक अलग संविधान सभा का निर्माण चाहती थी।

राजाजी फार्मूला (1944)

गांधी जी को मई 1944 को जेल से छोड़ दिया गया तथा बाद में सभी कांग्रेसी नेता भी छोड़ दिये गये। इस समय तक देश में साम्प्रदायिक वैमनस्य अपने चरम पर पहुंच चुका था। गांधी जी ने जेल से छूटने के बाद कांग्रेस और लीग के बीच एकता तथा सम्प्रदायिक सद्भाव बनाने के उद्देश्य से अपना प्रयास शुरू किया। इसी बीच सी.आर. राजगोपालाचारी ने एक योजना तैयार की जिसे 'सी.आर. योजना' के नाम से जाना जाता है। इसमें मुसलमानों की पाकिस्तान की मांग स्वीकार कर ली गयी थी। इस योजना के प्रमुख बिंदु इस प्रकार थे-

- युद्ध के दौरान लीग को स्वाधीनता की मांग का समर्थन करना चाहिए और संक्रमण काल के दौरान अस्थायी सरकार बनाने में कांग्रेस का सहयोग करना चाहिए।
- युद्ध के बाद बहुमत के क्षेत्रों का निर्धारण एक आयोग द्वारा होगा जहां बाद मे जनमत द्वारा यह निर्णय लिया जायेगा कि वे अलग राज्य चाहते हैं कि नहीं।
- इस जनमत संग्रह के पहल सभी दलों को अपने विचारों पर समर्थन हासिल करने का अधिकार होगा।
- जनसंख्या को कोई भी स्थानांतरण ऐच्छिक आधार पर ही होगा।
- उपर्युक्त बातें तभी लागू होंगी जब इंग्लैण्ड सारी सत्ता भारत को सौंप देगा।

गांधी जी ने इसी फार्मूलें के आधार पर जिन्ना से 4 सितम्बर से 17 सितम्बर, 1944 तक वार्ता की जिसमें कोई समझौता नहीं हो सका। जिन्ना का कहना था कि किसी भी जनमत संग्रह के पूर्व ही और अंग्रेजी राज के रहते ही कांग्रेस, पाकिस्तान की मांग स्वीकार कर ले जिसमें-पूरा पंजाब, सिंध, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, बलूचिस्तान, बंगाल और असम शामिल हों।

इस असफलता के बाद लीग और कांग्रेस के बीच समझौता करने का नया प्रयास शुरू हुआ। मई 1945 में कांग्रेस के भूला भाई देसाई और मुस्लिम लीग के अली के बीच केन्द्र में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बनाने के लिए समझौता हुआ, जिसके अनुसार सरकार में 40 प्रतिशत कांग्रेस के 40 प्रतिशत लीग के और 20 प्रतिशत अन्य गुटों के प्रतिनिधि होंगे। यह प्रस्ताव वायसराय के सामने प्रस्तुत किया गया तो वायसराय यह प्रस्ताव लेकर इंग्लैण्ड गये। बाद मे अंग्रेज समझौते के लिए तैयार तो हुए लेकिन लीग और कांग्रेस के सदस्यों की संख्या और हिन्दू और मुसलमान सदस्यों के भी बराबर होने की बात कही लेकिन यह योजना असफल रही।

वेवेल योजना (1945)

अक्टूबर 1943 में लॉर्ड लिनलिथिगो की जगह लॉर्ड वेवेल नये वायसराय बने। लार्ड वेवेल 21 मार्च, 1945 को भारतीय समस्या को हल करने के लिए इंग्लैण्ड गये तथा 14 जून, 1945 को वे भारत लौटे और उन्होंने एक योजना प्रस्तुत की जो 'वेवेल योजना' के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना को प्रस्तुत करने के कई कारण थे : पहली प्रमुख बात थी कि जापान को पराजित करने के लिए इंग्लैण्ड को भारतीय सहयोग की आवश्यकता महसूस हो रही थी। दूसरी तरफ अमेरिका भी यह समझता था कि जापानियों को पराजित करने के लिए भारतीयों का सहयोग अमूल्य है इसलिए उसने भी ब्रिटेन पर भारतीय समस्या को हल करने का दबाव बनाया था और लॉर्ड वेवेल जो कि स्वयं एक योग्य सेनापति रह चुका था, वो इन परिस्थितियों में सहयोग की आवश्यकता का महत्व समझता था। एक अहम बात थी कि ब्रिटेन में आम-चुनाव भी होने वाले थे इसलिए कंजरवेटिव दल के नेता चर्चिल को मजदूर दल को हराने और इस निमित्त जनमत को प्रभावित करने के लिए भी ऐसी योजना की जरूरत थी। इस योजना के मुख्य प्रावधान इस प्रकार थे--

- इस योजना में यह बात कही गयी कि ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य भारत की राजनीतिक समस्या का समाधान तथा उसे स्वशासन की ओर ले जाना है। इस कारण वायसराय की कार्यकारिणी का पुनर्गठन किया जायेगा जिसमें वायसराय तथा प्रधान सेनापति को छोड़कर सभी सदस्य भारतीय होंगे।
- वैदेशिक मामले, केवल सीमांत और कबीलाई क्षेत्रों को छोड़कर भारतीयों के हाथ में रहेंगे।
- गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् मे सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर होगी।
- यह कार्यकारिणी परिषद् एक अस्थायी सरकार की भांति रहेगी और वायसराय अपने वीटो का प्रयोग अकारण कभी नहीं करेंगे।
- भारत मंत्री का भारतीय शासन पर नियंत्रण तो रहेगा लेकिन यह भारतीय हित में ही कार्य करेगा।
- युद्ध की समाप्ति पर भारतीय स्वयं अपना संविधान बनायेंगे।
- उपर्युक्त प्रस्तावों पर विचारार्थ शिमला में एक सम्मेलन बुलाया जायेगा।

❖❖❖❖❖

भारत स्वतंत्रता की ओर
(1943-1947)

भारत छोड़ो आंदोलन तात्कालिक रूप से असफल अवश्य रहा, क्योंकि इससे भारत को शीघ्र स्वतंत्र नहीं कराया जा सका। परंतु जनचेतना जगाने में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा। इस आंदोलन ने विश्व के कई देशों को भारतीय जनमानस के साथ खड़ा कर दिया। चीन के तत्कालीन मार्शल च्यांग-काई-शेक ने 25 जुलाई, 1942 ई. को अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट को पत्र में लिखा कि "अंग्रेजों के लिए श्रेष्ठ नीति यह है कि वे भारत को पूर्ण स्वतंत्रता दे दें।" अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी इसका समर्थन किया। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के बाद जब कांग्रेस के बड़े नेता जेल से रिहा हुये, उन्हें इस बात की अपेक्षा थी कि ब्रिटिश दमन ने भारतीय जनता का मनोबल तोड़ दिया होगा। परन्तु आगामी तीन प्रमुख घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि जनता की जुझारू शक्ति पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा बढ़ी है और इसके साथ ही यह स्पष्ट हो गया कि जनता पूर्ण स्वतंत्रता से नीचे कुछ भी स्वीकार नहीं करेगी, ये तीन घटनाएं थीं-

1. आजाद हिन्द फौज का मुकदमा
2. राशिद अली के खिलाफ मुकदमा
3. रायल इण्डियन नेवी के नाविकों की हड़ताल

आजाद हिन्द फौज का मुकदमा

ब्रिटिश साम्राज्य को उखाड़ फेंकने के लिए सुभाष चन्द्र बोस ने सिंगापुर में सितम्बर 1942 में आजाद हिन्द फौज की स्थापना की। इस संगठन ने द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान द्वारा बंदी बनाये गये भारतीय सैन्य अधिकारियों और सैनिकों को संगठित करके एक सशस्त्र अभियान द्वारा अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने के लिए अंतिम संघर्ष की योजना बनाई। सुभाष ने द्वितीय विश्वयुद्ध को अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्ष का उपर्युक्त अवसर मानते हुए जापानी सैनिकों के सहयोग से अंग्रेजों के विरूद्ध एक आक्रामक अभियान छेड़ा। इस संगठन को अपने उद्देश्य में कुछ हद तक सफलता अवश्य मिली, पर द्वितीय विश्व युद्ध में जापान के पराजित होने के साथ ही आजाद हिन्द फौज को भी आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसके बाद आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों एवं सैनिकों को गिरफ्तार कर उनपर भारत में मुकदमा चलाने का निर्णय लिया गया। आजाद हिन्द के अधिकारियों में कर्नल प्रेम सहगल, मेजर शाहनवाज और कर्नल गुरूदयाल

सिंह ढिल्लो थे जिन्हें बन्दी बनाकर ब्रिटिश सरकार उनके खिलाफ क्रूरता एवं बर्बरता का मुकदमा चला रही थी। इसमें अधिकतम सजा के रूप में तीनों को फांसी होती। आजाद हिन्द फौज के सिपाहियों से जनता की गहरी भावनाएं जुड़ी हुयी थीं। सरकार के प्रति जनता में रोष विभिन्न माध्यमों से हो रहा था। बहिष्कार, प्रदर्शन, जनसभा आदि तो आम बात थी। कलकत्ता में गुरूद्वारों का प्रयोग आजाद हिन्द फौज के फौजियों के पक्ष में प्रचार के केन्द्र के रूप में किया गया। छात्रों ने इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। कांग्रेस ने आजाद हिंद फौज बचाव समिति का गठन किया; और रिहा किये गये फौजियों को आर्थिक सहायता देने तथा उनके लिये रोजगार की व्यवस्था करने के लिये 'आजाद हिन्द फौज राहत तथा जांच समिति बनाई' गई। इस कार्य के लिये देश भर के लोगों ने अपना योगदान किया। फौजियों की ओर से मुकदमा भूलाभाई देसाई के नेतृत्व में सप्रू, काटजू और आसफ अली की एक टीम लड़ रही थी। इस मुकदमे की सबसे विशेष बात यह रही ब्रिटिश राज का परंपरागत समर्थक माने जाने वाला सरकारी कर्मचारी वर्ग और सशस्त्र सेना वर्ग खुले आम आजाद हिंद फौज के सेनानियों के समर्थन में खड़ा हो गया। मुस्लिम लीग, कम्युनिस्ट पार्टी, यूनियनवादी, अकाली दल, जस्टिस पार्टी, हिन्दू महासभा आदि ने भी अपना पूर्ण समर्थन दिया।

राशिद अली का केस

1946 में आजाद हिन्द फौज के कैप्टन राशिद अली को सात-साल की कैद की सजा दी गयी। मुस्लिम लीग के नेतृत्व में छात्रों ने कलकत्ता में एक बड़ा जुलूस निकाला जिसमें हर वर्ग, जाति धर्म के छात्रों ने हिस्सेदारी की। अंततः पुलिस ने इन पर गोलीबारी एवं लाठीचार्ज किया। हालाँकि राशिद अली के खिलाफ चलने वाले मुकदमों पर बना विद्रोही माहौल कुछ शहरी इलाकों तक ही केन्द्रित रहा। किन्तु आजाद हिन्द को लेकर चलने वाला नागरिक संघर्ष गांवों और कस्बों तक फैल गया था।

रायल इण्डियन नेवी का विद्रोह

फरवरी 1946 में बम्बई में एच.एम.आई.एस. तलवार के 1100 नाविकों ने नस्लवादी भेदभाव और अखाद्य भोजन के विरोध में हड़ताल कर दिया। साथ ही उन्होंने मांग की कि नाविक बी.सी. दत्त, जिन्हें जहाज की दीवारों पर 'भारत छोड़ो' लिखने के आरोप में गिरफ्तार किया गया था, रिहा किया जाए। अगले दिन यह अफवाह फैल गयी कि तलवार के नाविकों पर गोली चली है, परिणामतः फोर्ट बैरक एवं कैसल के सैनिक भी नौसेना के साथ शामिल हो गये और विरोध मुम्बई की सड़कों तक पहुंच गया। शीघ्र ही स्थानीय नागरिकों ने भी व्यापक रूप से अपनी भागीदारी देना आरम्भ कर दिया। बम्बई की खबर करांची पहुंचते ही वहां पर भी नौसेना ने हड़ताल कर दी और शीघ्र ही मद्रास, विशाखापत्तनम, कलकत्ता, दिल्ली, कोचीन, जामनगर, अंडमान, बहरीन तक यह सिलसिला फैल गया। इसे दबाने के लिये सरकार ने अत्यंत कठोरता से काम लिया।

इन तीनों ही घटनाओं से कुछ सामान्य निष्कर्ष सामने आये। पहला तो भारतीय मामलों में भारतीय अब विदेशी ताकतों के निर्णय को मानने के लिये कतई तैयार नहीं थे। दूसरे सरकारी सेवक, सैनिकों ने भी अन्तर्मन से यह स्वीकार

कर लिया था कि ब्रिटिश सत्ता अब शीघ्र ही समाप्त होने वाली है। यही कारण है कि अब वह खुलकर ब्रिटिश विरोध में शामिल होने लगे थे। तीसरे जनता एक सामान्य मुद्दे पर भी पूरी एकजुटता एवं ताकत के साथ ब्रिटिश विरोध के लिये तत्पर होने लगी थी। इन सब घटनाओं ने एवं अन्तर्राष्ट्रीय दबाव ने ब्रिटिश सत्ता को मजबूर कर दिया कि वह यथा शीघ्र भारत छोड़कर जाने का निर्णय कर लें।

कैबिनेट योजना (1946)

1946 के चुनावों के बाद कांग्रेस और लीग की मजबूत स्थिति के कारण यह समस्या उठी कि भारत के दो भागों में तालमेल किस प्रकार किया जाये। क्योंकि प्रत्येक भाग स्वायत्तता और स्वाधीनता की मांग कर रहा था। 1 जनवरी, 1946 को भारत सचिव पैथिक लारेंस ने घोषणा की कि ब्रिटिश जनता तथा वहां की सरकार चाहती है कि भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में पूर्ण और स्वतंत्र तथा बराबरी का पद शीघ्रता से प्राप्त कर ले।

इसके बाद ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने 19 फरवरी, 1946 के घोषणा की कि भारतीय राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए ब्रिटिश कैबिनेट मंत्रियों का एक मिशन भारत जा रहा है। इस मिशन में भारत सचिव लार्ड पैथिक लारेंस, बोर्ड ऑफ ट्रेड के अध्यक्ष स्टेफर्ड क्रिप्स और फर्स्ट लार्ड ऑफ एडमिरल्टी ए.वी. अलेक्जेण्डर थे।

चूँकि ब्रिटिश संसद के कैबिनेट सदस्यों से मिलकर इसका गठन हुआ था, इसलिए इसे 'कैबिनेट मिशन' का नाम दिया गया था। यह मिशन 23 मार्च को भारत पहुंचा। मिशन का मुख्य उद्देश्य था कि ऐसी व्यवस्था स्थापित की जाये जिसके द्वारा भारत के लोग ही स्वतंत्र भारत की स्थिति का निश्चय करें और अंतरिम व्यवस्था भी करें। मिशन ने 5 सप्ताह तक प्रांतीय गवर्नरों, वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों विभिन्न दलों के नेताओं, अल्पमत वाले समुदायों और विशेष हितों के प्रतिनिधियों, प्रांतों के मुख्य मंत्रियों और प्रसिद्ध व्यक्तियों से तथा भारतीय रजवाड़ों के प्रतिनिधियों से बातचीत की। लीग और कांग्रेस के नेताओं से भी वार्ताओं का दौर चला, लेकिन कोई सर्वसम्मत हल नहीं निकला तो मिशन ने शिमला में एक त्रिदलीय सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें कांग्रेस की तरफ से अबुल कलाम आजाद, जवाहर लाल नेहरू तथा सरदार पटेल, लीग की तरफ से मुहम्मद अली जिन्ना, लियाकत अली खां तथा नवाब इस्माइल खां तथा सरकार की ओर से वायसराय तथा मिशन के तीनों सदस्यों नें भाग लिया था। यह सम्मेलन 5 मई से 11 मई तक चला, लेकिन कोई निष्कर्ष नहीं निकला क्योंकि लीग पाकिस्तान की मांग छोड़ने को तैयार नहीं थी। परिणामस्वरूप मिशन ने अपनी तरफ से ही 16 मई, 1946 को एक योजना रखी जिसके प्रमुख प्रावधान थे-

- इसके अनुसार ब्रिटिश भारत और देशी रजवाड़ों का एक संघ बनाना चाहिए। इस संघ के हाथ में विदेशी रक्षा और यातायात के मामले होंगे।
- संघ की एक कार्यकारिणी होगी तथा भारत और रजवाड़ों की एक विधानसभा भी होगी। इस सभा में कोई भी साम्प्रदायिक मसला सभी की सहमति और बहुमत से ही हल होगा।

- संघीय विषयों के अतिरिक्त सभी विषय प्रांतों के अधीन होंगे।
- रियासतें, संघ को सौंपे गये अधिकारों के अलावा सभी विषयों को अपने अधीन रखेंगी।
- प्रांतों को अपनी कार्यकारिणी और विधानसभाएं बनाने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।
- संघ और प्रांतों के संविधानों में यह व्यवस्था होनी चाहिए कि कोई भी प्रांत अपनी विधान सभा के बहुमत से दस-दस साल पर संविधान पर पुनर्विचार करने को कह सकता है।
- कैबिनेट मिशन ने संविधान सभा में कुल 389 सदस्यों के चुनाव की बात की, जिसमें 292 सदस्य, ब्रिटिश भारत के 93 सदस्य देशी रियासतों के तथा 4 कमिश्नरी क्षेत्र के प्रतिनिधि होंगे।
- प्रांतों को तीन हिस्सों मे विभाजित किया गया –
  1. हिन्दू बहुमत वाले प्रांतीय गुट जिसमें मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा होंगे।
  2. मुस्लिम बहुमत के पश्चिमोत्तर प्रांतीय गुट जिसमें पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेश, सिंध और बलूचिस्तान।
  3. तीसरे गुट में बंगाल तथा आसाम को रखा गया।

  इन गुटों के प्रतिनिधि प्रत्येक प्रांतों का संविधान बनाने के लिए अलग-अलग सभा करेंगे। प्रांतों को अपने गुटों से अलग हो जाने का अधिकार, नये संविधान के पूरी तरह बन जाने और इसके आधार पर पहला चुनाव होने के बाद होगा।
- छोटे अल्पसंख्यक वर्गों के लिए सलाहकार कमेटी बनेगी।
- संघीय संविधान सभा संघ के संविधान को तैयार करेगी। साम्प्रदायिक मुद्दों पर यह आवश्यक होगा कि प्रत्येक वर्गों के बहुमत से ही निर्णय हों।
- एक ऐसी अंतरिम सरकार कायम की जाये जिसको लगभग सभी राजनीतिक दलों की मान्यता प्राप्त हो।

संविधान सभा का चुनाव और अंतरिम सरकार का गठन

बहुत अनिच्छा के साथ कांग्रेस और लीग ने मंत्रिमंडलीय शिष्ट मंडल की योजना स्वीकार कर ली। (कांग्रेस प्रांतों के गुट बनाने पर अप्रसन्न थी और लीग पाकिस्तान के न मानने पर)। शिष्ट मण्डल ने लौटने से पूर्व एक घोषणा कि उन्हें सन्तोष है कि संविधान बनाने का कार्य प्रमुख राजनैतिक दलों के सहयोग से चलता रहेगा, परन्तु उन्हें दुःख था कि कुछ बाधाओं के कारण बहुदलीय अंतरिम सरकार नहीं बन सकी। उन्होंने आशा व्यक्त की कि सम्भवतः ऐसा संविधान सभा के चुनावों के पश्चात् हो सकेगा।

संविधान सभा के चुनावों में कांग्रेस ने 214 सामान्य स्थानों में से 205 स्थान प्राप्त कर लिए। उन्हें 4 सिक्ख सदस्यों का भी समर्थन प्राप्त था। मुस्लिम लीग को 78 मुस्लिम स्थानों में से 73 स्थान मिले और इस प्रकार जिन्ना ने अनुभव किया कि 296 सदस्यीय संविधान सभा में उनके पास तो केवल 73 स्थान होंगे जो कि 25 प्रतिशत से भी कम थे और इस प्रकार वह पूर्णतया आच्छादित हो जायेगा। इसीलिए इसके विरोध में लीग ने 16 अगस्त, 1946 को 'सीधी कार्यवाही दिवस' मनाने का निश्चय किया। इसे 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' के नाम से भी जाना जाता है।

वायसराय ने पं. जवाहर लाल नेहरू को अंतरिम सरकार बनाने का निमंत्रण दिया। आरम्भ में जिन्ना ने इसमें सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया, पर अंततः कुछ शर्तों के साथ वह सरकार में सम्मिलित हो गये। फिर भी उन्होंने संविधान सभा में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया। संविधान सभा की बैठक 9 दिसंबर, 1946 को दिल्ली में आरम्भ हुई। दो दिन पश्चात् राजेन्द्र प्रसाद को सभा का स्थायी अध्यक्ष चुना गया। 13 दिसम्बर को पंडित नेहरू ने सुप्रसिद्ध उद्देश्य प्रस्ताव रखा जिसमें भारत को एक स्वतंत्र प्रभुसत्तापूर्ण गणतंत्र बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया।

एटली की घोषणा (20 फरवरी, 1947)

20 फरवरी, 1947 की अपनी घोषणा में ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री एटली ने जून 1948 तक प्रभुसत्ता भारतीयों के हाथ में सौंपे जाने की घोषणा की। इसके साथ ही कैबिनेट मिशन द्वारा अस्वीकार किये गये भारत के विभाजन को इस योजना में स्वीकार कर लिया गया। इस घोषणा के होते ही लीग ने भारत विभाजन के लिये एक खूनी संघर्ष आरंभ कर दिया। भारत में कलकत्ता, आसाम, पंजाब, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत में भीषण साम्प्रदायिक दंगे आरंभ हो गये। इस घृणा और आंतक के वातावरण में भारत की एकता बनाए रखना संभव नहीं लग रहा था। शायद यही कारण था कि कांग्रेस विभाजन की बात को स्वीकार करने के लिए बाध्य हुई।

माउंटबेटेन योजना (3 जून, 1947)

कांग्रेस और लीग दोनों ने ही एटली की घोषणा का स्वागत किया। माउंटबेटेन ने 24 मार्च, 1947 को गवर्नर का पद ग्रहण किया। लम्बे विचार-विमर्श के बाद अन्ततः माउंटबेटेन इस नतीजे पर पहुंचे कि अब भारत का विभाजन ही सभी समस्याओं का हल है। माउंटबेटेन ने कांग्रेस के प्रमुख नेताओं को भारत विभाजन के लिए तैयार कर लिया। गांधी जी और अबुल कलाम आजाद, भारत विभाजन के सख्त खिलाफ थे। लेकिन बाद में गांधी जी भी तैयार हो गये, वैसे गांधीजी ने माउंटबेटन के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि देश को विभाजन से बचाने के लिए जिन्ना को प्रधानमंत्री बना दिया जाये और मंत्रिमण्डल चुनने का अधिकार दे दिया जाये। गांधी जी के इस प्रस्ताव का जवाहर लाल नेहरू और सरदार पटेल ने तीव्र विरोध किया था।

कांग्रेस और लीग नेताओं से बात करके माउंटबेटेन अपनी योजना की स्वीकृति के लिए लंदन गये और 31 मई को पुनः वापस आये। इसके बाद कांग्रेस और लीग ने इस योजना पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी तथा ब्रिटिश सरकार ने 3 जून, 1947 को विभाजन की योजना प्रकाशित की, जिसे '3 जून की योजना' या 'माउंटबेटेन योजना' भी कहा जाता है। इसके मुख्य प्रावधान इस प्रकार थे-

- हिन्दुस्तान को दो भागों अर्थात् भारतीय संघ और पाकिस्तान में बांट दिया जायेगा।
- इन दोनों की सीमा निर्धारित करने के पहले पश्चिमोत्तर सीमांत प्रांत, असम के सिलहट जिले तथा सिंध में जनमत संग्रह द्वारा यह पता किया जायेगा कि वे किसमें शामिल होना चाहते हैं।

- हिन्दुस्तान के बंटवारे के पूर्व पंजाब और बंगाल के सीमा निर्धारण का फैसला होगा। इसके लिए इन प्रांतों की विधानसभा को दो वर्गों में बांटा जायेगा। (अ) मुस्लिम बहुसंख्यक जिलों का वर्ग और (ब) हिन्दू बहुसंख्यक जिलों का वर्ग। ये वर्ग इस बात का निर्णय करेंगे कि ये किसमें शामिल होंगे। अगर एक वर्ग विभाजन नहीं चाहेगा और दूसरा चाहेगा तब भी विभाजन कर दिया जायेगा।
- इन कार्यों को करने के लिए हिन्दुस्तान की संविधान सभा को दो भागों में बांटा गया-भारतीय संघ की संविधान सभा तथा पाकिस्तान की संविधान सभा। इन दोनों राज्यों को डोमीनियन स्टेट्स दिया जायेगा।
- देशी रियासतों को इस बात की पूरी छूट होगी कि वह किस डोमीनियन में शामिल होंगी। यदि कोई रियासत किसी में शामिल नहीं होना चाहेंगी तो ब्रिटेन के साथ उसके संबंध पहले जैसे ही रहेंगे।

कांग्रेस ने इस योजना को तीन जून को ही स्वीकार कर लिया जिसकी 14 जून को कांग्रेस महासमिति ने पुष्टि कर दी। इस प्रस्ताव को गोविन्द बल्लभ पंत ने प्रस्तुत किया था। इस बैठक में कुल 218 सदस्य थे जिनमें से 61 ने इस प्रस्ताव के विपक्ष में वोट दिया था या निरपेक्ष थे। प्रस्ताव के प्रमुख विरोधी थे-चौथेराम गिडवानी, डॉ. किचलू, पुरुषोत्तम दास टण्डन, मौलाना हफीजुर्रमान इत्यादि।

10 जून, 1947 को दिल्ली में मुस्लिम लीग ने अपनी बैठक में इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था। 4 जुलाई, 1947 को ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वाधीनता विधेयक प्रस्तुत किया गया। 15 जुलाई को वह बिना किसी संशोधन के 'हाउस ऑफ कामन्स' से तथा 16 जुलाई को 'हाउस आफ लार्ड्स' से पास हो गया। इसके बाद 18 जुलाई 1947 को इंग्लैण्ड के सम्राट् ने उस पर हस्ताक्षर किये थे।

भारत का विभाजन और स्वतंत्रता की प्राप्ति

माउंटबेटेन योजना के अनुसार 14 अगस्त, 1947 को देश का विभाजन करके पाकिस्तान की स्थापना की गई, जिन्ना जिसके प्रथम गवर्नर जनरल तथा लियाकत अली प्रथम प्रधानमंत्री बने। 15 अगस्त, 1947 को भारत को स्वतंत्रता प्रदान की गई। लॉर्ड माउंटबेटन स्वतंत्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल तथा जवाहर लाल नेहरू प्रथम प्रधानमंत्री बने। स्वतंत्र भारत के अंतिम गवर्नर जनरल सी. राजगोपालाचारी थे। स्वाधीनता के साथ भारतीय जनता के इतिहास का एक नया युग आरंभ हुआ, जिसने नए एवं समृद्ध भारत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया।

नेहरू एवं जिन्ना

❖❖❖❖❖

अन्य प्रमुख आंदोलन

वामपंथी आन्दोलन

फ्रांस की क्रान्ति के दौरान फ्रांस की नेशनल असेम्बली में तीन दल अस्तित्व में थे। कंजरवेटिव दल, लिबरल दल तथा रेडिकल दल। इनमें कंजरवेटिव दल असेम्बली में अध्यक्ष के दायीं ओर बैठते थे, ये राजा और कुलीन वर्ग को समर्थन देते थे। इन्हें दक्षिणपंथी के नाम से भी जाना गया। लिबरल दल असेम्बली के बीच में बैठते थे। ये सरकार में कुछ सीमित सुधार चाहते थे। रेडिकल दल जो अध्यक्ष के बांयी ओर बैठते थे। राजा की शक्तियों की सीमाबन्दी करके, संविधान ग्रहण करके सरकारी व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। ये 'वामपंथी' कहलाए।

राजनीति की शब्दावली में 'वाम' शब्द का प्रयोग ऐसे दल तथा आन्दोलन के लिए होता है जो सरकार और समाज से वंचित तथा पीड़ित वर्गों के हितों को ध्यान में रखते हुए सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में मूलभूत सुधारों के लिए संघर्ष करने की बात करते हैं।

भारत में वामपंथ का उदय

20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में वामपंथ ने सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया। इसने पूंजीवाद को सशक्त चुनौती देते हुए रूसी क्रान्ति के माध्यम से सोवियत संघ की स्थापना की जिससे सम्पूर्ण विश्व के दलित, अति शोषित जनता में एक नई चेतना का संचार हुआ। वामपंथ साम्राज्यवादी देशों के लिए तो अभिशाप बना, परन्तु भारत जैसे औपनिवेशक देशों के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में वामपंथी आन्दोलन के उदय का प्रमुख कारण स्पष्ट है। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान भारत में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया तीव्र हो चुकी थी तथा 1850 के दशक से प्रारम्भ उद्योग 20वीं सदी तक आते आते अपनी मांगों को यूनियनों के माध्यम से रखना शुरू कर चुके थे। ये यूनियनें वैधानिक तो नहीं थी, परन्तु इनके माध्यम से मजदूरों में सशक्त लामबन्दी हो रही थी। ऐसी अवस्था के प्रथम विश्व युद्ध के बाद उपजी राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों ने इन मजदूरों को वामपंथ की ओर प्रेरित किया। राजनैतिक स्तर पर रूसी क्रान्ति के कारण उत्पन्न वैचारिक मनोभावों ने इनको प्रेरित किया। वहीं युद्ध के बाद तीव्र मुद्रास्फीति, मुनाफे में कमी की वजह से पूंजीपतियों द्वारा

की जा रही छंटनी, बेरोजगारी एवम् उत्पन्न गरीबी एवम् नास्कीय जीवन ने इन मजदूरों को ब्रिटिश सरकार विरोधी बना दिया। इन मजदूरों के साथ-साथ औपनिवेशिक शोषण से उपजे असंतोष का महत्वपूर्ण शिकार कृषक भी था, हालांकि इन पर वामपंथी प्रभाव अशिक्षा व आंचलिकता के कारण काफी देर से फैला।

इन शोषित वर्ग के अलावा खिलाफत के मुद्दे पर हिजरत करके मध्य एशिया गए मुस्लिम युवाओं में भी सोवियत संघ की क्रान्ति के कारण तथा असहयोग आन्दोलन से मोह भंग युवा वर्ग पर भी इन विचारों का प्रभाव तेजी से बढ़ा।

इन सभी वर्गों ने मिलकर तात्कालिक भारतीय समाज पर वामपंथी लहर का फैलाव किया। चूंकि ब्रिटिश सरकार वामपंथी समाजवादी प्रसार रोकने के लिए दृढ़ संकल्प थी, इसलिए इन वामपंथियों का कांग्रेस से जुड़ कर चलना अनिवार्य हो गया। लेकिन शीघ्र ही ये वामपंथी विचारधाराओं में भिन्नता के कारण दो भागों में विभाजित हो गए।

(क) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (C.P.I.)

(ख) कांग्रेस समाजवादी पार्टी (C.S.P.)

चूंकि इनके उद्देश्य तो समान थे, परन्तु वैचारिक आधार तथा उद्देश्य प्राप्ति के साधन में भिन्नता थी। इन वामपंथियों की नजर में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ऐसे विश्वव्यापी तत्व का मूर्तरूप था जो पूंजीवाद का प्रत्यक्ष प्रतिफल था। अत: ये वामपंथी पूंजीवाद/साम्राज्यवाद को उन्मूलित कर समाजवाद पर आधारित समाज की रचना करना चाहते थे।

प्रमुख उद्देश्य

वामपंथियों का प्रमुख उद्देश्य समतावादी समाज की स्थापना करना, भारतीय जनता को राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक स्वतंत्रता दिलाना, स्वतंत्रता के लिए आधार विकसित करना, किसानों मजदूरों को समाहित करना, वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को स्वीकार करना, फासीवाद और साम्राज्यवाद का सभी अर्थों में विरोध करना। हालांकि उद्देश्य तो वामपंथ के दोनों धाराओं के समान थे, परन्तु साधनों के स्तर पर दोनों ही धाराओं में वैचारिक भिन्नता स्पष्ट थी।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (C.P.I.)

एम. एन. रॉय

लेनिन के नेतृत्व में मार्क्सवादी विचारधारा की सहायता से (7 नवम्बर, 1917) रूस में बोल्शेविक क्रान्ति के फलस्वरूप जारशाही के अंत और प्रथम समाजवादी राज्य की स्थापना तथा 1919 में तीसरे कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की स्थापना ने भारत तथा विदेशों में काम कर रहे क्रान्तिकारियों व बुद्धिजीवियों को भारत में भी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के लिए प्रेरित किया।

एम. एन. रॉय (मानवेन्द्र नाथ राय) ऐसे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने अक्टूबर, 1920 में अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी संगठन के अधीन 6 साथियों के साथ मिलकर भारत के बाहर ताशकन्द में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की।

एम.एन. राय जिनका वास्तविक नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था। आरम्भिक जीवन में एक क्रान्तिकारी आतंकवादी तथा 'युगांतर' नामक क्रांतिकारी संस्था के सदस्य रह चुके थे। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान वे जर्मन हथियारों के माध्यम से भारत में सशस्त्र क्रान्ति लाना चाहते थे, अपने क्रान्तिकारी दौर में वे अनेक देशों में घुमें और 1916 में सेन फ्रांसिस्को पहुंचे जहां साम्यवादी साहित्य के माध्यम से राष्ट्रवादी से अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी बन गये, वहां से वे मैक्सिको गए जहां माइकेल बोरोडिन के सम्पर्क से पक्के साम्यवादी बन गए तथा मैक्सिको के साम्यवादी दल के संस्थापकों में शामिल हो गए। 1920 में लेनिन के बुलावे पर कोमिण्टर्न के दूसरे अधिवेशन में शामिल होने के लिए मास्को पहुँचे।

एम.एन. रॉय-लेनिन विवाद

जुलाई-अगस्त 1920 को मास्को में चल रहे कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की नीतियों का निर्धारण किया जाना था जहाँ लेनिन तथा एम.एन. रॉय के विचारों में मतभेद उत्पन्न हुआ। परन्तु रॉय के जोर देने पर लेनिन के विचारों में कुछ संशोधन किया गया तथा ये निर्णय लिया गया कि "कम्युनिस्टों को जहां एक ओर साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में क्रान्तिकारी राष्ट्रीय बुर्जुआ को समर्थन देना चाहिए, वहीं उन्हें मजदूरों एवं किसानों के बीच सहयोग के द्वारा अपने संघर्ष को स्वतंत्र रूप से आगे बढ़ाना चाहिए।

अक्टूबर 1920 में एम.एन. रॉय ताशकन्द आए यहां इन्होंने सैनिक स्कूल तथा कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की और इस कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल को संबोधित किया। भारतीय फ्रन्टियर जनजाति के लोगों तथा मुहाजिर मुसलमान (जो तुर्की के खलीफा के प्रति अंग्रेज सरकार के रूख से तंग आकर ताशकन्द गये थे) को सैनिक प्रशिक्षण दिया। इन मुहाजिरों पर भारत वापसी के बाद 'पेशावर षडयंत्र केस' चलाया गया, जिनमें मोहम्मद अकबरशाह तथा गौर गौहर प्रमुख थे।

इसी बीच भारत के बाहर काम कर रहे कुछ क्रान्तिकारी, वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, भूपेन्द्र नाथ दत्त, बरकतउल्लाह भी मार्क्सवादी हो गए तथा इस दौरान भारत में भी कुछ कम्युनिस्ट समुहों का आविर्भाव हुआ। महात्मा गाँधी द्वारा असहयोग आन्दोलन स्थगित करने के बाद इसके कुछ समर्थक भी मार्क्सवाद की ओर मुड़ गए जिनमें श्रीपद अमृत डाँगे प्रमुख थे जिन्होंने बम्बई में एक कम्युनिस्ट ग्रुप संगठित किया। ये चाहते थे कि कम्युनिस्ट एक ग्रुप के रूप में कांग्रेस के अन्दर ही काम करे।

सिंगारवेलु चेट्टियार ने मद्रास में 'लेबर किसान पार्टी' बनाने की घोषणा की। वह असहयोग आन्दोलन के स्थगन से दुखी थे तथा इनका मानना था असहयोग आन्दोलन को मजदूरों के राष्ट्रीय हड़ताल से मिलाना चाहिए था। बंगाल में मुजफ्फर अहमद ने भी लेबर स्वराज पार्टी बनाई।

इन कम्युनिस्टों को अंग्रेजी विद्वेष के कारण एक अखिल भारतीय संगठन बना पाना मुश्किल लग रहा था इनमें से चार प्रमुख कम्युनिस्टों को पकड़कर सरकार ने इन पर 'कानपुर षडयंत्र केस' चलाया तथा इन पर भारत में ब्रिटिश प्रभुसत्ता को समाप्त करने का आरोप लगाया गया।

इस प्रकार के वामपंथी और कम्युनिस्ट दल जो 1920 के बाद भारत में अस्तित्व में आये थे। दिसम्बर 1925 में इनमें से अधिकांश समूह कानपुर में आपस में मिले और इन्होंने एक अखिल भारतीय स्तर का संगठन कायम किया जिसका नाम 'कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया' रखा गया। इस ने अपने सभी सदस्यों से कांग्रेस का सदस्य बनने के लिए कहा तथा उनसे ये भी कहा गया कि उसके सभी मंचों पर वे एक सशक्त वामपंथ बनाएं। इन्होंने अपना अंतरिम संविधान भी बनाया तथा अपना उद्देश्य भी निर्धारित किया जो था, भारत के समस्त समुदायों के हितों में उत्पादन के साधनों तथा धनसम्पत्ति के बंटवारे में समान मालिकाना हक तथा नियंत्रण के आधार पर भारत को पूर्ण स्वाधीनता तथा समाज का पुनर्गठन।

कानपुर कान्फ्रेंस से भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की औपचारिक शुरूआत हुई। अब इन्हें ब्रिटिश कम्युनिस्टों का भी सहयोग प्राप्त होने लगा तथा ये कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार करने के लिए गुप्त बैठकें आयोजित करने लगे। इस समय इस नवजात कम्युनिस्ट आन्दोलन के सामने कुछ समस्याएं भी थीं जैसे धन का अभाव, कार्यकताओं का अभाव, क्रान्तिकारी चरित्र तथा कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से सम्बद्धता के कारण सरकार का विद्वेषपूर्ण रवैया तथा भारतीय समाज के सुविधा प्राप्त वर्ग का असहयोग।

परन्तु इन रुकावटों के बावजूद कम्युनिस्ट आन्दोलन लोकप्रिय हुआ। इन्होंने बम्बई तथा पंजाब में मजदूर व किसान पार्टियां बनाकर अखबारों के माध्यम से अपने विचारों और कार्यक्रमों को प्रचारित प्रसारित किया।

मजदूर किसान पार्टियों की स्थापना

19वीं सदी के औद्योगिकीरण में श्रमिक वर्ग को जन्म दिया, चूंकि पूंजीपति एवम् श्रमिकों के हितों में मौलिक विरोधाभास था। इसलिए श्रमिक असन्तोष अवश्यम्भावी था। श्रमिकों के शोषण में ब्रिटिश पूंजीपतियों के साथ भारतीय पूंजीपति भी पीछे नहीं थे, हालांकि सरकार द्वारा श्रमिकों के हित में फैक्ट्री एक्ट लाए गए थे, परन्तु उनका क्रियान्वयन सही ढंग से नहीं किया गया। प्रारम्भ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इन श्रमिकों की समस्याओं को नजरअन्दाज करती थी, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का संयुक्त मोर्चा विघटित हो। 19वीं सदी के अन्तिम दशकों में बुजुर्आ वर्ग के नेतृत्व में श्रमिक संगठन बनाए जाने लगे, परन्तु इनका नेतृत्व भी सीमित था और मांगे भी। ये अपनी मांगों में आर्थिक मांगों के साथ साम्प्रदायिक मांगों को भी जोड़ देते थे जैसे कि 1896-97 के कलकत्ता मजदूर असन्तोष ने साम्प्रदायिक दंगे का रूप ले लिया। इनके प्रारंभिक आन्दोलन एक विस्फोट का रूप लेकर पुनः शान्त हो जाते थे। फिर धीरे-धीरे इनके संगठन तथा नेतृत्व दोनों में ही परिवर्तन हुआ तथा इनकी मांगों में भी परिवर्तित हुआ। अब इनकी आर्थिक मांगों में राजनीतिक मांगे भी जुड़ने लगी। स्वदेशी आन्दोलन के माध्यम से उत्तर भारत के साथ-साथ दक्षिण भारत में भी श्रमिक आन्दोलन तेज हो गया परन्तु 1908 तक स्वदेशी आन्दोलन के अवसान के उपरान्त श्रमिक आन्दोलन भी मन्द पड़ने लगा। अब तक वर्गीय चेतना स्पष्ट नहीं हो पाई थी क्योंकि अभी तक बाबु-दादाओं के माध्यम से ही श्रमिकों को संगठित किया जाता था।

1920 के दशक में राष्ट्रवादियों में श्रमिक नीतियों के संबंध में कुछ परिवर्तन आने लगे। उन्हें भी ये लगने लगा कि औद्योगिकीरण और औद्योगिक विकास का सम्पूर्ण भार श्रमिक वर्ग पर न डालकर उद्योगपतियों द्वारा भी इसकी

कीमत चुकाने की बात की जानी चाहिए। परिणामस्वरूप 1920 में 'आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना हुई। अब बहुत से औद्योगिक श्रमिक राष्ट्रीय आन्दोलन से जुडने लगे। किन्तु इस चरण में भी श्रमिक आन्दोलन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ और कोई मूल परिवर्तनवादी दृष्टि भी नहीं विकसित हुई। कांग्रेस नेता संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा के आदर्श से ही जुड़े रहे और वे श्रमिक असन्तोष को एक सीमा से आगे बढ़े नहीं देखना चाहते थे।

इस समय बम्बई के श्रमिक आन्दोलन में एक दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति देखी गई और वह थी, निचले स्तर के श्रमिक आन्दोलन का उग्र रूप। 1923 के बाद उनमें जूझारू रूप विकसित हो रहा था, साम्यवादियों ने इसी आधार पर आगे का आन्दोलन निश्चित किया।

1927 में सभी साम्यवादी दलों ने मिलकर श्रमिक एवं किसान पार्टी की स्थापना की। आगे चलकर कृषि कामगार यूनियन की भी स्थापना हुई। अक्टूबर 1928 में भी मेरठ में एक किसान और मजदूर पार्टी बनी। इसमें ब्रिटिश कम्युनिस्ट फिलीप स्प्रेट ने भी हिस्सा लिया। इनकी प्रमुख मांगें थीं - राजशाही व्यवस्था की समाप्ति, राष्ट्रीय स्वाधीनता, मजदूरों के ट्रेड यूनियन बनाने के अधिकार, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, भूमिहीन किसानों के लिए भूमि, कृषि बैंकों की स्थापना, दिन में अधिकतम काम के आठ घन्टे, औद्योगिक मजदूरों के लिए न्यूनतम वेतन।

इनके बाद कलकत्ता में दिसम्बर 1920 में हुए अखिल भारतीय कान्फ्रेरेन्स में एक नेशनल एक्जीक्यूटीव काउंसिल की स्थापना की गई जिसमें कम्युनिस्टों को भी शामिल किया गया तथा इन्हें आन्दोलन को कांग्रेसी बुर्जुआ वर्ग से अलग स्वतंत्र रूप से आगे बढ़ने और कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल से संबंध कायम करने के लिए निर्देशित किया गया।

ट्रेड यूनियनों पर कम्युनिस्टों का प्रभाव

इस बीच कम्युनिस्टों ने मजदूरों को हड़ताल का नेतृत्व करके ट्रेड यूनियन संगठनों पर अपना प्रभुत्व बढ़ा लिया। उदाहरण के लिए खड़गड़ा रेलवे वर्कशाप, बम्बई के टेक्सटाइल मिल के मजदूरों पर। अप्रैल से अक्टूबर 1928 तक बम्बई के टेक्सटाइल मजदूरों ने वेतन में कटौती के खिलाफ भारी हड़ताल की। इन हड़तालों में कम्युनिस्ट गिरनी कामगार यूनियनों ने सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सरकार ने उद्योगों में अशांति का जिम्मेदार कम्युनिस्टों को बनाया तथा उनकी गतिविधियों को रोकने का उपाय खोजने लगे। 13 अप्रैल, 1929 को वायसराय ने ट्रेड डिस्प्यूट एक्ट पारित किया। इस कानून से मजदूरों की समस्याओं को सुलझाने के लिए ट्राइब्यूनलों की स्थापना हुई पर व्यवहार में इसके द्वारा हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और 1929 में ही मेरठ षडयंत्र केस में 31 कम्युनिस्टों को गिरफ्तार कर लिया गया। इस प्रकार सरकार ने वामपंथी दलों का दमन करने का पूरा प्रयास किया पर इस केस से कम्युनिस्ट आन्दोलन को धक्का पहुंचने के बजाय इसने कम्युनिस्टों में अधिक बलिदान व शहादत की भावना जगाई। अदालत के समक्ष बचाव में अभियुक्त कम्युनिस्टों ने जो बयान दिए उन्होंने देश में ब्रिटिश विरोधी भावनाएं जगाई और कम्युनिस्ट आन्दोलन की प्रतिष्ठा को बढ़ाया।

इस प्रकार सरकार की मंशा न केवल असफल रही बल्कि इसके एकदम उल्टे परिणाम निकले लेकिन एक अन्य मामले में सरकार को कामयाबी नहीं मिली, आगे बढ़ता हुआ मजदूरों का आन्दोलन नेतृत्वविहीन हो गया। लेकिन इसके साथ ही कम्युनिस्टों ने अपने ऊपर एक घातक प्रहार किया। इन्होंने कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के छठा कांग्रेस से निर्देशित

होकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से नाता तोड़ लिया तथा इसे पूंजीपति वर्ग की पार्टी घोषित कर दिया। अब कम्युनिस्टों का काम था सशक्त संघर्ष को आगे बढ़ाना। इसका नतीजा ये हुआ कि ये उस समय अलग-थलग पड़ गया जब ये सबसे बड़े जनसंपर्क की ओर जा रहा था।

सरकार ने इस स्थिति का फायदा उठाकर 1934 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। परन्तु कई कम्युनिस्टों द्वारा खुद को सविनय अवज्ञा आन्दोलन से जोड़े रखने के कारण सी.पी.आई. महाविनाश से बच गया।

1935 में परिस्थितियों में पुनः बदलाव आया तथा कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के नए रूख के कारण कम्युनिस्ट कार्यकताओं को राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे आन्दोलनों से खुद को पुनः जोड़ना पड़ा। उसके बाद से अनेकों कम्युनिस्टों ने इण्डियन नेशनल कांग्रेस तथा नई गठित समाजवादी कांग्रेस पार्टी के अन्दर से अपनी गतिविधियां जारी रखी। इस प्रकार मार्क्सवादी विचारों वाली साम्यवादी पार्टी 1934 से 1943 तक प्रतिबन्धित रही पर इन्होंने अपने भूमिगत कार्य जारी रखें।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी

जैसा कि हम सभी जानते हैं कम्युनिस्ट पार्टियाँ अपने आंदोलन इण्डियन नेशनल कांग्रेस से कमोबेश अलग होकर चलाने में ज्यादा विश्वास करती थी, कई बार तो इन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन की सीमाओं का अतिक्रमण भी किया, उदारहरण के तौर पर समय-समय पर कांग्रेस की आलोचना करना, उसे बुर्जुओं की पार्टी बताना, गांधी जी को बुर्जुवाओं का दलाल कहने जैसी विचारधारा रखने के कारण ये राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा से नहीं जुड़ पाए।

जे. पी नारायण

परन्तु कांग्रेस के भीतर भी एक अच्छी खासी तादाद समाजवादी विचारधारा की ओर आकृष्ट थी। और इन्होंने कांग्रेस के भीतर ही एक समाजवादी कार्यक्रम बनाने का प्रयास किया, ये भी कम्युनिस्टों की तरह मार्क्सवाद से प्रभावित थे पर इनके विचार कम्युनिस्टों से कुछ भिन्न थे –

ये अपने आप को इन्डियन नेशनल कांग्रेस से जोड़ते थे, जबकि कम्युनिस्ट खुद को कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल से। ये राष्ट्रवादी थे जबकि कम्युनिस्ट अर्न्तराष्ट्रीय साम्यवादी।

समाजवादी कांग्रेसी, मजदूरों तथा किसानों को कांग्रेस से जोड़कर एक विस्तृत जनाधर तैयार करना चाहते थे। ये स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए मजदूरों के हड़ताल तथा किसानों के संघर्ष को एक प्रभावशाली हथियार मानते थे।

ऐसे समाजवादियों में जवाहर लाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, अच्युत पटवर्धन, राममनोहर लोहिया आदि प्रमुख थे।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना

1934 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन के स्थान के बाद, कांग्रेसियों का एक हिस्सा विधायिका में प्रवेश करने के लिए प्रेरित हुआ, जिससे वो सरकार के भीतर रहकर कांग्रेस के हितों के लिए कार्य कर सके इन्हें संविधानवादी कहा गया तथा गांधीजी ने इनका समर्थन किया परन्तु इसी समय कांग्रेस के ही एक वर्ग ने इनके विधायिका में घुसने से कांग्रेस के क्रान्तिकारी चरित्र को नष्ट होने से बचाने के लिए कांग्रेस के भीतर ही समाजवादी पार्टी बनाना चाहा।

समाजवादी कांग्रेसियों का विश्वास वर्ग संघर्ष में था, ये पूंजीवाद, जमींदारी और रजवाड़ों को समाप्त कर, कामगार जनता को ऊपर उठाने के लिए कांग्रेस पार्टी के कार्यक्रम में मूलभूत परिवर्तनकारी सामाजिक और आर्थिक उपायों को शामिल करना चाहते थे।

इस प्रकार तीसरे दशक के प्रारम्भ में इन कांग्रेसियों द्वारा बिहार, यू.पी., बम्बई तथा पंजाब जैसे प्रान्तों में समाजवादी दल बना लिए गए थे।

1933 में नासिक जेल में जयप्रकाश नारायण तथा, अच्युत पटवर्धन एम.आर. असानी, एन.जी. गोरे, अशोक मेहता, एन.एम. जोशी तथा एम.एल. दंतवाला जैसे कुछ नौजवानों ने कांग्रेस के भीतर ही समाजवादी पार्टी बनाने की बात सोची तथा पूंजीपति व उच्च वर्गीय बुर्जुवा के प्रभाव को कम करने के लिए एक अखिल भारतीय समाजवादी पार्टी बनाने की भी आवश्यकता महसूस की। ये लोग पाश्चात्य मध्यम वर्ग से आए थे तथा मार्क्स, गांधी तथा पश्चिम के सामाजिक जनतन्त्र के विचारों से प्रभावित थे।

समाजवादी कांग्रेस के अग्रणी नेता जयप्रकाश नारायण असहयोग आन्दोलन के स्थगन के बाद अमेरिका अपनी शिक्षा के लिए गए जहां कम्युनिस्टों के सम्पर्क में आकर मार्क्सवादी बन गए। ये रूस की बोल्शेविक क्रान्ति तथा कम्युनिज्म की सफलता के प्रशंसक थे, परन्तु भारत आने पर इन्हें ये लगा कि भारतीय कम्युनिस्ट मास्को के कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल से आदेश ले रहे हैं और इन्हें ये पसन्द नहीं आया। 1929 में भारत आने पर ये कांग्रेस पार्टी में शामिल हो गए तथा Why socialism नामक पुस्तक द्वारा भारत में समाजवाद की प्रासंगिकता पर जोर दिया। इन्होंने पटना में बिहार समाजवादी पार्टी की सहायता से प्रथम अखिल भारतीय समाजवादी कांग्रेस कान्फ्रेंस का आयोजन किया। इसमें उन कांग्रेसियों की आलोचना की गई जो कांग्रेस के क्रान्तिकारी चरित्र के विरुद्ध विधायिका में घुसना चाहते थे। इस कान्फ्रेंस में समाजवादियों को इस बात के लिए भी प्रेरित किया गया कि वे अपने कार्यक्रम कांग्रेस द्वारा अपनाए जाने के प्रयास को जारी रखें तथा एक प्रस्ताव पारित कर कांग्रेस को ऐसा कार्यक्रम अपनाने के लिए कहा गया जो कार्य व लक्ष्य की दृष्टि से समाजवादी हो।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के कार्यक्रम

अखिल भारतीय सोशलिस्ट पार्टी का पहला वार्षिक अधिवेशन बम्बई में हुआ जिसमें समाजवादी कांग्रेस पार्टी ने एक संविधान अपनाया जिसमें निम्न लिखित कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये –

- समाजवादी कांग्रेस पार्टी के कार्यक्रम को इंडियन नेशनल कांग्रेस द्वारा स्वीकार करना।

- मजदूरों व किसानों को उनकी आर्थिक उन्नति, स्वाधीनता तथा समाजवाद की प्राप्ति के लिए संगठित करना।
- यूथ लीगों, महिला सगठनों, स्वयंसेवी संगठनों को संगठित कर उनका समर्थन प्राप्त करना।
- अंग्रेज सरकार के भारत को साम्राज्यवादी युद्धों में शामिल करने के प्रयास का विरोध तथा ऐसे किसी भी संकट का प्रयोग स्वतन्त्रता संघर्ष को तेज करने के लिए करना।
- संवैधानिक मामलें में अंग्रेज सरकार के साथ किसी भी प्रकार के समझौते का विरोध करना।

इसके अलावा इस सम्मेलन में भारत में समाजवादी समाज का खाका भी तैयार किया गया तथा मजदूरों व किसानों की उन्नति के लिए एक अलग कार्यक्रम अपनाया गया। इसमें मजदूरों के लिए ट्रेड यूनियन बनाने की स्वतन्त्रता, हड़ताल पर जाने का अधिकार, जीवन यापन योग्य वेतन, सप्ताह में अधिकाधिक 40 घण्टे काम बेरोजगारी, बीमारी, दुर्घटना, बुढ़ापे के लिए बीमे की व्यवस्था जैसी मांगें रखी गई। जबकि किसानों के लिए जमींदारी प्रथा की समाप्ति, सहकारी कृषि को बढ़ावा, लाभ न देने वाली भूमि पर लगान तथा टैक्स की माफी, भूमि लगान कम करना और सामन्ती करों की समाप्ति जैसी मागें रखी गई।

समाजवादी कांग्रेस पार्टी के दो ही लक्ष्य प्रमुख थे—स्वतन्त्रता तथा समाजवाद। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए इन्होंने एक सच्चे साम्राज्यवाद विरोधी संगठन बनाने के उद्देश्य से कांग्रेस के भीतर के साम्राज्यवाद विरोधी गैर समाजवादी ताकतों के साथ मिलकर काम करने का निर्णय लिया तथा ये भी निर्णय लिया कि ये ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिसे सच्चे राष्ट्रवादी तत्व इनके आन्दोलन के खिलाफ होकर समझौतावादी दक्षिणपंथियों के साथ मिल जाए।

समाजवाद की प्राप्ति के लिए इन्होंने राष्ट्रवादी आन्दोलन को समाजवाद की दिशा में ले जाने का निर्णय लिया तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा अपने कार्यक्रम स्वीकार करवाने के लिए भी जुटे रहे।

राष्ट्रीय राजनीति पर कांग्रेसी सोशलिस्टों का प्रभाव

गांधी जी रजवाड़ों, जमींदारी तथा पूंजीवाद को समाप्त करने की आवश्यकता में विश्वास नहीं करते थे उनका मानना था कि इन रजवाड़ों, जमींदारों तथा पूंजीपतियों का हृदय परिवर्तन करना चाहिए जिससे ये अपने आप को राज्यों, जमींदारियों तथा फैक्ट्रियों का मालिक समझने के बजाय प्रजा, पट्टेदारों तथा मजदूरों के ट्रस्टी माने इसलिए दक्षिणपंथी कांग्रेसियों के साथ इन्होंने भी समाजवादी कांग्रेस की सम्पत्ति जब्त करने व वर्ग संघर्ष की बातों को अस्वीकार कर दिया।

जवाहर लाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस जैसे वामपन्थी कांग्रेसियों ने समाजवादी कांग्रेस पार्टी के गठन का स्वागत तो किया, परन्तु दोनों ही इस पार्टी में शामिल नहीं हुए। जवाहरलाल नेहरू ने राजनीति की शिक्षा चितरंजनदास से ली थी जो उच्च वर्गों के बजाए जनसामान्य के लिए स्वराज्य के समर्थक थे, अत: दलित-दमित शोषित जनों तथा श्रमजीवी वर्गों के उत्थान एवं सरंक्षण का ध्येय लेकर चलने वाली समाजवादी विचारधारा की ओर उनका आकर्षित होना स्वाभाविक था। ब्रुसेल्स सम्मेलन में इन्हें साम्राज्यवाद के विकास में पूंजीवाद की भूमिका का स्पष्ट बोध हुआ तब इन्हें उन अन्दरूनी शोषणकर्ताओं, दमनकर्ताओं से संघर्ष अनिवार्य लगने लगा जो विदेशी शासकों के देशी सहयोगी थे। उनका ये समाजवादी

उद्भव भारत के भावी विकास में अत्यन्त उपयोगी साबित हुआ, तथा कांग्रेस की सोच एवम् गतिविधियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा।

औपनिवेशिक स्वराज के बजाए पूर्ण स्वाधीनता हासिल करने के पश्चात् लोकतन्त्रात्मक, धर्मनिरपेक्ष समाजवादी गणतन्त्र की स्थापना के उद्देश्य से जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस ने 1928 में 'भारतीय स्वाधीनता संघ' का गठन किया जिसका उद्देश्य पूर्ण स्वाधीनता के लिए संघर्ष करना तथा स्वाधीन भारत में आर्थिक संरचना को समाजवाद की दिशा में मोड़ना था। धीरे-धीरे नए विचारों का प्रचार प्रसार युवकों-छात्रों, किसानों-मजदूरों, आदि में जारी रहा, नेहरू बोस तथा अन्य वामपंथी झुकाव वाले समर्थकों के प्रयास से गठित युवा संघों, हिन्दुस्तानी सेवा दल, नवजवान भारत सभा, स्वयं सेवक आन्दोलन, छात्र संगठनों, अखिल भारतीय श्रमिक संघ का इसमें विशेष योगदान था। जवाहर लाल नेहरू गांधीजी की पद्धति संघर्ष-समझौता-सघर्ष के बजाए सतत् संघर्ष जब तक विजय न प्राप्त हो, की पद्धति के समर्थक थे। परन्तु गांधीजी के कतिपय विचारों (शोषक-शोषित के बीच समन्वय, हृदय परिवर्तन, वर्ग संघर्ष की अमान्यता, ट्रस्टीशिप आदि) से असहमत होते हुए भी जवाहर लाल, गांधी और दक्षिणपंथी कांग्रेस नेतृत्व से अलग होने को तैयार नहीं थे क्योंकि कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले आन्दोलन को जनआन्दोलन बनाने और जनचेतना के विकास में गांधी जी की महत्वपूर्ण भूमिका उनकी दृष्टि में स्पष्ट थी। अतः पृथक समाजवादी दल गठित करने के बजाए वे कांग्रेस में किसानों, मजदूरों की भागीदारी बढ़ाने के पक्षधर थे।

कांग्रेस के हरीपुरा तथा त्रिपुरी अधिवेशन में अध्ययन सुभाषचन्द्र बोस ने भारत के उद्योगीकरण तथा सोवियत नमूने पर नियोजित आर्थिक विकास पर जोर दिया, राष्ट्रीय योजना आयोग के प्रेरक बने। 1936 में नेहरू ने सुभाष चन्द्र बोस के अलावा तीन समाजवादी कांग्रेसियों नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण तथा अच्युत पटर्वधन को कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति में शामिल किया तथा कृषि सम्बन्धी एक विशेष कार्यक्रम बनाया जिसमें लगान में कमी, सामन्ती करों तथा वसूलियों की समाप्ति, सहकारी कृषि का प्रारम्भ, कृषि मजदूरों के लिए जीवन यापन योग्य मजदूरी तथा किसान यूनियनों के गठन सम्बन्धी मुद्दे शामिल थे।

समाजवादी कांग्रेसियों ने किसान आन्दोलन में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। प्रो. एन.जी. रंगा, इन्दुलाल याग्निक, तथा स्वामी सहजानन्द के प्रयासों से अखिल भारतीय किसान सभा संगठित हुई। किसान सभाओं ने जमींदारी प्रथा की समाप्ति, भूमिकरों में कमी तथा कांग्रेस के साथ किसान सभा को पूरे तौर पर जोड़े जाने की मांग की। समाजवादी कांग्रेसियों ने भारतीय रियासतों के विषय में भी कांग्रेस की नीति को प्रभावित किया, कांग्रेस पहले अलगाव की नीति अपना रही थी पर समाजवादियों के प्रभाव के कारण कांग्रेस भारतीय रियासतों के मामलों में भी गहरी रूचि लेने लगी। समाजवादी कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं ने भारतीय रियासतों की जनता के निरंकुश शासकों के खिलाफ जनतान्त्रिक आन्दोलन में भी हिस्सा लिया तथा जन अधिकारों तथा उत्तरदायी सरकार के लिए संघर्ष किया।

कम्युनिस्ट पार्टी तथा कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में अन्तर

उद्देश्य की दृष्टि से वामपंथ की दोनों धाराएं समान थी, परन्तु इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के साधनों के स्तर पर दोनों धाराओं में वैचारिक मतभेद था–

- साम्यवादी दल मार्क्स के सिद्धान्तों यथा हिंसा, सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति में विश्वास करते थे, वहीं कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्य लोकतान्त्रिक मूल्यों तथा निष्पक्ष चुनाव, आपसी संवाद आदि माध्यमों को सहारा लेना चाहते थे।
- साम्यवादी दल अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संगठन 'कोमिन्टर्न' (सोवियत रूस) को अपना संगठन केन्द्र मानता था जबकि कांग्रेस समाजवादी दल लोकतान्त्रिक समाजवादी विचारधारा में विश्वास करता था।
- साम्यवादी दलों ने मुख्यत: मजदूरों के साथ मिलकर आन्दोलन को आगे बढ़ाने का प्रयास किया जबकि समाजवादी दल ने किसानों के साथ मिलकर आन्दोलन को गति देने का प्रयास किया।

इन वामपंथी दलों में वैचारिक मतभेद होते हुए भी सहयोग के विभिन्न चरण देखे गए, इन्होंने साम्राज्यवाद के विरोध को अपना प्राथमिक लक्ष्य निर्धारित किया, विभिन्न परिस्थितियों से उपजे असंतोष के कारण मजदूर और कृषक जनता को एकजुट किया जिसका चरम किसान और मजदूर पार्टी में देखने को मिलता है।

वामपंथी आंदोलन का मूल्यांकन

वामपंथियों के प्रभाव में राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कर रही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को अपनी सामाजिक, आर्थिक नीतियों को किसान मजदूर आधारित बनाना पड़ा। प्रारम्भ में कांग्रेसी नीतियों में बुर्जुवाई प्रवृत्ति विद्यमान थी पर अब इनसे सम्बन्धित हड़तालों के आयोजन, विभिन्न काश्तकारी नियमों को पारित करवाने, सामाजिक बुराइयों यथा मद्यनिषेध, शोषणकारी कानूनों के उन्मूलन आदि मुद्दों पर सहयोग देने का दबाव पड़ा। अत: अब ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ पूर्ण स्वतन्त्रता का लक्ष्य स्पष्टत: सामने आया। इन वामपंथी कार्यक्रमों को कांग्रेसी नेतृत्व के कारण ALL INDIA TRADE UNION CONGRESS का जनाधार विस्तृत हुआ। 1931 के करांची अधिवेशन में जनता के मौलिक अधिकारों की घोषणा हुई। 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा का गठन हुआ जो कृषकों के प्रत्यक्ष समर्थन का द्योतक था।

हालांकि कांग्रेसी नेतृत्व ने कभी भी खुलकर इन समानान्तर वामपंथी दलों का समर्थन नहीं किया क्योंकि कांग्रेस स्वयं को सम्पूर्ण भारतीय जनता का प्रतिनिधि मानती थी, जिसका लक्ष्य अहिंसा द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति था जबकि इन वामपंथी (मुख्यत: साम्यवादी) दलों द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति का साधन उग्र एवम् हिंसात्मक था जिस पर ब्रिटिश दमनात्मक कार्यवाही एक स्वाभाविक परिणति थी। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं जहाँ एक तरफ साम्यवादी दल शोषित व दमित जनता को आर्थिक सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक संगठन के रूप में परिवर्तित कर रहे थे, वहीं दूसरी तरफ कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी अपने विचारों से कांग्रेस के दक्षिणपंथी तत्वों को प्रभावित कर रहे थे। इस प्रकार इन दोनों वामपन्थियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को स्फूर्ति एवम् तीव्रता प्रदान की। इन्होंने युवा वर्ग को नई वैचारिक पद्धति का आभास कराया तथा उन्हें धर्मनिरपेक्ष, साम्प्रदायिकता से मुक्त, संकीर्ण राजनीतिक लाभों से मुक्त समाज के निर्माण की ओर अपनी ऊर्जा को प्रवाहित करने के लिए निर्देशित किया। जिससे प्रभावित होकर क्रान्तिकारी हिंसात्मक गतिविधियों की जगह समाजवाद का प्रसार हुआ और कालान्तर में युवा क्रान्तिकारी बड़े-बड़े साम्यवादी बने। कांग्रेस द्वारा आर्थिक क्षेत्र में लिए जा रहे पुनर्निर्माण के निर्णयों को नियोजन के माध्यम से पूरा करने का मार्ग वामपंथी दबावों का ही परिणाम था।

वामपंथी आन्दोलन की सीमाएं

वामपन्थी आन्दोलन में अच्छाइयों के साथ-साथ सीमाएं भी थी जो राष्ट्रीय आन्दोलन के अनुकूल नहीं थी, जैसे-कोई भी विचारधारा तभी फलीभूत होती है जब जनता उसे पूर्णरूपेण ग्रहण करे परन्तु वामपन्थी विचारों को जनता ने पूर्णरूपेण ग्रहण नहीं किया क्योंकि इन्होंने जनता की कठिनाइयों को दूर करने के बजाए केवल उसे मुद्दा बनाया, कोई वास्तविक समाधान नहीं प्रस्तुत किया। इनका नेतृत्व भी ऐसे मध्यमवर्गीय लोगों के हाथ में था, जिन्होंने इन समस्याओं को कभी झेला ही नहीं था। वामपंथी दलों ने गांधीवादी रणनीति को भी ठीक से नहीं समझा जो पिछले 40 वर्षों से भारतीय जनता की मनोदशाओं में सुधार लाने के लिए क्रमिक सुधार के लिए प्रयासरत थी, पर इन्होंने शीघ्रतापूर्वक आमूल चूल परिवर्तन का प्रयास किया, इसलिए वामपंथी प्रवृत्ति में राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान व्यापक उतार-चढ़ाव दिखाई दिया, जैसे-1920 में कांग्रेस सहयोग, 1930 में पृथक पहचान निर्माण, 1940 के बाद सत्ता प्राप्ति का प्रयास। शायद इस कारण भी ये जनता का विश्वास जीतने में असफल रहे। इनका उद्देश्य तो भारत की स्वतन्त्रता थी, पर संगठन केन्द्र रूस था जिससे साम्यवादी दल भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की आवश्यकताओं के अनुसार अन्य साम्यवादी दलों को संगठित करने में असफल रहे। और इस एकजुटता के अभाव के कारण वामपंथियों ने संसाधनों व जनाधार की दृष्टि से आंचलिक स्तर पर भिन्न-भिन्न नीतियां अपनाईं। उदाहरण के लिए बाद के दशकों में जहां वे केन्द्र में ब्रिटिश समर्थक बने वहां बंगाल में एक साथ आन्दोलन तथा आन्ध्र में तेलंगाना आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया गया और भारत सरकार के विरुद्ध संगठित किया गया।

परन्तु इन सीमाओं के बावजूद वामपंथ का उदय भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य घटना थी। मार्क्सवादी एवम् वैज्ञानिक समाजवाद के प्रभाव में कांग्रेस ने सम्पूर्ण भारतीय जनता के हितों के अनुरूप आर्थिक सामाजिक मूल्यों पर बल देना शुरू किया। वामपंथियों ने ही प्रथम बार पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग रखी। वामपंथियों के प्रभाव में कांग्रेस के मंच से समस्त भारतीय जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए योजनागत नीतियों का सूत्रपात हुआ। इन्होंने वर्ग चेतना उत्पन्न करने तथा वर्गीय हितों की रक्षा का महत्वपूर्ण कार्य किया।

यद्यपि इनके कार्यों की कुछ सीमाएं रहीं किन्तु आज भी वामपन्थी मुख्यत: शोषित व जनसाधारण को लक्ष्य कर ऐसे समाज के निर्माण के लिए प्रयत्नशील हैं जहां मानव का जीवन गरिमामय हो।

भारतीय पूंजीपति और राष्ट्रीय आन्दोलन

पूंजीवाद का विकास

औपनिवेशिक काल में, विशेषत: 20 वीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास दूसरे औपनिवेशिक देशों से भिन्न था। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के तुरन्त बाद ही भारतीय अर्थव्यवस्था में तेजी से आपात प्रतिस्थापन की प्रक्रिया शुरू हो गई। दोनों विश्वयुद्धों तथा 1930 के विश्व व्यापारी आर्थिक मन्दी के दौरान भारत पर साम्राज्यवाद की पकड़ ढीली हुई जिससे भारतीय उद्योगों का तेजी से विकास हुआ। परिणामत: विदेशी आयातित वस्तुएं देशी वस्तुओं

द्वारा प्रतिस्थापित होने लगी। भारतीय पूंजीपति विदेशी पूंजीपतियों के छोटे भागीदार के रूप में नहीं बल्कि स्वतन्त्र पूंजी के आधार पर आगे बढ़ रहे थे। इस प्रकार देशी उद्योगों के विकास से विदेशी व्यापार की औपनिवेशिक व्यवस्था उल्टी हो रही थी, 1914 तक उपनिवेश तैयार माल का आयात और कृषि सम्बन्धी कच्चे माल का निर्यात करते थे लेकिन 1914 से 1945 के दौरान ये ढांचा उलट गया। घरेलू उद्योगों में विदेशी पूंजी का अधिक महत्व नहीं था, इस अवधि में और भी कम होने लगा। भारतीय पूंजीपतियों का ये विकास तभी सम्भव हुआ जब उन्होंने लगातार राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष किया तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा उत्पन्न किए गए संकट का, दो विश्व युद्धों और व्यापक मन्दी के दौरान पूरा लाभ उठाया।

भारतीय पूंजीपतियों ने सूती वस्त्र तथा इस्पात उद्योग के क्षेत्र में आयात प्रतिस्थापन प्रारम्भ किया फिर धीरे-धीरे बैंकिंग, जूट, विदेशी व्यापार, कोयला और चाय जैसे क्षेत्रों को अधिग्रहीत किया और 1920 के दशक में उन्होंने शक्कर, सीमेन्ट, कागज, रसायन, लोहा और इस्पात के क्षेत्र में भी निवेश प्रारम्भ किया। इस प्रकार स्वतन्त्रता के समय भारतीय बाजार के 72% हिस्से पर भारतीय उद्योगों का अधिकार हो चुका था। वित्तीय क्षेत्र में भी भारतीय पूंजी ने व्यापक स्तर पर काम किया जिससे 1914 के 30% की अपेक्षा 1947 में भारतीय बैंकों का कुल जमा राशि में हिस्सा 80% हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीय पूंजीपति वर्ग का काफी ठोस आर्थिक विकास हुआ और इनके विकास की प्रक्रिया अन्य औपनिवेशिक देशों की तुलना में भिन्न थी, भारतीय पूंजीपति वर्ग का विकास साम्राज्यवाद से स्वतन्त्र और उसके विरुद्ध हुआ था इसलिए इन्होंने अपने वर्गीय हितों को साम्राज्यवाद से जोड़कर नहीं देखा। 1914 से 1947 के दौरान भारतीय पूंजीवाद के स्वतन्त्र एवम् द्रुतगामी विकास की वजह से पूंजीपतियों में साम्राज्यवाद विरोधी दृष्टिकोण अपनाने की दृढ़ता आयी। सबसे महत्वपूर्ण बात कि लोकप्रिय वामपन्थी आंदोलन से भयभीत होकर पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद से संघर्ष या समझौता नहीं किया। पूंजीपति वर्ग को ये नहीं सोचना था कि साम्राज्यवाद का विरोध करें या ना करे बल्कि ये सोचना था कि साम्राज्यवाद से विरोध का रास्ता ऐसा हो जिससे पूंजीवाद को ही खतरा न हो जाए। हालांकि विकास के प्रारंभिक स्तर पर भारतीय पूंजीपतियों के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे औपनिवेशिक राज्य से खुला संघर्ष कर सकें, इसलिए 1905-1908 के स्वदेशी आन्दोलन से वे बाहर ही रहे, असहयोग आन्दोलन (1920-22) के समय यद्यपि बहुत से व्यवसायी आन्दोलन में शामिल हुए लेकिन पुरुषोत्तम दास टन्डन जैसे कई बड़े पूंजीपतियों ने इस आन्दोलन का वास्तव में विरोध ही किया। इसके बाद के काल में पूंजीपतियों की स्थिति में परिवर्तन आया और पूंजीपतियों के बड़े वर्ग ने स्वतन्त्रता संग्राम को अपना समर्थन दिया।

वर्ग संगठन का उदय

उस समय भारत में यूरोपीय हितों का प्रतिनिधित्व काफी संगठित ढंग से हो रहा था, अतः भारतीय पूंजीपति भी 1920 के प्रारम्भ से ही भारतीय व्यवसायियों व पूंजीपतियों का राष्ट्रीय स्तर पर एक ऐसा संगठन बनाने का प्रयास करने लगे जो औपनिवेशिक सत्ता के सामने अपनी मांगों को सफलता पूर्वक रख सके। 1927 में भारतीय पूंजीपति सफल रहे और "भारतीय वाणिज्य उद्योग महामंडल" FICCI का गठन हुआ। इसे जल्द ही पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में मान्यता मिल गई। FICCI का लक्ष्य "व्यापार, वाणिज्य और उद्योग का राष्ट्रीय अभिभावक" बनना था।

ने एक राष्ट्रवादी संगठन की तरह साम्राज्यवाद की उसकी समग्रता में एक आर्थिक समीक्षा प्रस्तुत की और साम्राज्यवाद के शोषण को उजागर किया। अब पूंजीपति वर्ग के नेताओं ने राजनीति में प्रभावपूर्ण हस्तक्षेप की आवश्यकता को महसूस किया, इस प्रकार पूंजीपतियों के राजनीति में सक्रिय होने का अर्थ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ना था। FICCI के नेताओं ने 1928 में राष्ट्रवादी आन्दोलन के विकास में ही FICCI के विकास तथा राष्ट्रवादी आन्दोलन की शक्ति में ही FICCI की शक्ति को माना। इस प्रकार अब पुरुषोत्तम दास टंडन के व्यक्तित्व में भी बदलाव आया जबकि इसके पहले असहयोग आन्दोलन का उन्होंने विरोध किया था। धीरे-धीरे भारतीय पूंजीपतियों ने अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र में साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध करना शुरू कर दिया।

साम्राज्यवाद विरोध का स्वरूप

संवैधानिक मार्ग

पूंजीपति वर्ग संवैधानिक संघर्ष तथा बातचीत के रास्ते को पूरी तरह न छोड़ने का पक्षधर था ये किसी आन्दोलन या सविनय अवज्ञा के पक्ष में नहीं थे, पूंजीपतियों का यह दृष्टिकोण शुरू से ही था कि ब्रिटिश सरकार से बातचीत का रास्ता हमेशा खुला रखा जाए।

पूंजीपतियों के इस प्रकार के रवैयों के कई कारण थे –

- पूंजीपतियों को भय था कि व्यापक सविनय अवज्ञा यदि लम्बा खिचेंगा तो जनता में उग्र सुधारात्मक चेतना फैल जाएगी जो साम्राज्यवाद के साथ पूंजीवाद के लिए भी खतरा बन जाएगी। साम्राज्यवादी-विरोधी आन्दोलन को पूंजीवाद-विरोधी आन्दोलन में पारवर्तित न होने देने के इरादे से उन्होंने हमेशा राष्ट्रीय आन्दोलन को संवैधानिक विरोध के रास्ते पर लाने का प्रयास किया।

  चूंकि इन्हें अपने सामान्य दैनादिन व्यापार में शासन के न्यूनतम सहयोग की आवश्यकता पड़ती थी, इसलिए भी ये औपनिवेशिक शासन का लम्बे समय तक और सर्वव्यापी विरोध नहीं कर सकते थे।

- पूंजीपतियों को लगता था कि यदि राष्ट्रवादी शक्तियों ने संवैधानिक मंचों का पूर्ण बहिष्कार कर दिया तो सरकार ऐसी नीतियाँ आसानी से पारित करवा लेगी जो भारत के आर्थिक विकास को गम्भीर नुकसान पहुंचाएगी। इसलिए उसने औपनिवेशिक शासन द्वारा बनाए मंचों का समर्थन किया, साथ ही हिस्सेदारी भी की। हालांकि कुछ मामलों में उन्होंने बिना शर्त भागीदारी का समर्थन नहीं किया। उन्होंने ये निर्णय लिया कि "आधारभूत मामलों पर बिना कोई समझौता किए केवल अपनी शर्तों पर ही हिस्सा लेगें, उदाहरणस्वरूप 1934 में संयुक्त संसदीय समिति द्वारा प्रस्तुत संवैधानिक सुधारों के मसौदे को फिक्की ने प्रतिक्रियावादी कहकर अस्वीकृत कर दिया।

पूंजीपतियों ने सामान्यतया राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख संगठनों की सहभागिता या स्वीकृति के बिना अंग्रेज सरकार से संवैधानिक या आर्थिक सवालों पर बातचीत करने से मना कर दिया। इसलिए कई प्रमुख पूंजीपतियों ने प्रथम गोलमेज

कान्फ्रेंस का बहिष्कार किया, लेकिन गांधी जी के साथ दूसरी कान्फ्रेंस में भाग लिया। पूंजीपतियों को अच्छी तरह मालूम हो गया था कि उनके हितों की सुरक्षा का आश्वासन उस समय तक नहीं मिल सकता, जब तक उसके पीछे कांग्रेस का समर्थन नहीं है। इस प्रकार पूंजीपतियों द्वारा संवैधानिक पद्धति और प्रणाली के पक्षधर होने के प्रमुख कारण थे :-

- वे दक्षिणपंथ को मजबूत करके वामपंथ को प्रभावहीन कर सकते थे।
- वे ब्रिटिश शासन को आश्वस्त कर सकते थे कि वे उनकी सत्ता के बने रहने में कोई बाधा नहीं डाल रहे हैं। पुरुषोत्तम दास ने 1942 में घोषित किया कि, "वाणिज्यिक समुदाय की तमाम मांगों का न तो उद्देश्य ही है और न ही उनके लिए यह सम्भव है कि वे ब्रिटिश शासन का समाप्त कर सकें।

हालांकि पूजीपतियों ने कभी-कभी जनआन्दोलनों का समर्थन भी किया था, उदाहरणस्वरूप 1931 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन का समर्थन। क्योंकि उन्हें यह आभास था कि इन्हें जो भी प्राप्त हुआ है वह गांधी जी की वजह से तथा आगे भी इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए गांधी जी का सहयोग आवश्यक होगा। इसलिए इन्होंने 1931 के असहयोग आन्दोलन को कमजोर न होने देने का निर्णय लिया। इसके बावजूद इन्होंने जन आदोलन के वापस लिए जाने के लिए वे समझौते की कोशिश करते थे तथा शासन व कांग्रेस के बीच मध्यस्थता के लिए अपनी सेवाएं प्रस्तुत करते थे। उदाहरणस्वरूप 1931 के गांधी इर्विन समझौते के पहले की वार्ता। हालांकि पूंजीपतियों ने हमेशा शान्ति या समझौते का ही प्रयास किया, लेकिन उन्होंने इसके लिए बुनियादी राष्ट्रीय मांगों में कटौती नहीं की और कुल मिलाकर राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर नहीं आया, जबकि राष्ट्रीय आंदोलन अपनी असंवैधानिकता के शिखर पर था।

निष्कर्ष

जन आन्दोलन के उग्रवादी हो जाने के भय से या दैनान्दिनी व्यापार में नुकसान होने के डर से पूंजीपति वर्ग ने औपनिवेशिक शासन के दमन का समर्थन नहीं किया, न तो आन्दोलन की निन्दा की, न ही खुद को उससे अलग किया क्योंकि संविधानवाद पूंजीपति वर्ग का लक्ष्य नहीं था, और ना ही वे थोड़ा-थोड़ा करके लक्ष्य की प्राप्ति के समर्थक थे। यदि ऐसा होता तो वे कांग्रेस के बजाए उदारवादियों का साथ देते क्योंकि कांग्रेस तो बार-बार संघर्ष के गैर संवैधानिक तरीके अपना रही थी। ये वर्ग संवैधानिक साझेदारी को महज लक्ष्य की ओर एक कदम मानता था, जबकि लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अन्य कदम भी जरूरी हो सकते थे।

हालांकि इस मुद्दे पर शुरू में पूंजीपति वर्ग का रूख कुछ और था पर समय के साथ इसमें परिवर्तन आया। स्वदेशी आन्दोलन के दौरान यह वर्ग इसका कट्टर विरोधी था, 1921 में असहयोग आन्दोलन का भी पूंजीपति वर्ग के एक तबके ने विरोध किया। पुरुषोत्तम दास तथा अन्य पूंजीपतियों ने अपने को असहयोग आन्दोलन का दुश्मन घोषित किया था। लेकिन चौथे दशक में छिड़े सविनय अवज्ञा आन्दोलन का अधिसंख्यक पूंजीपतियों ने समर्थन किया।

भारत छोड़ो आन्दोलन शुरू होने के चार दिन पहले, 5 अगस्त, 1942 को पुरूषोत्तम दास, जे.आर.डी. टाटा और घनश्याम दास बिड़ला ने वायसराय को लिखा, "वर्तमान संकट से उबरने और एक नए सविनय अवज्ञा आन्दोलन से बचने का एक मात्र तरीका यह है कि भारत को राजनीतिक स्वाधीनता प्रदान की जाए।"

कांग्रेस और पूंजीपति सम्बन्ध

कांग्रेस और पूंजीपति के सम्बन्धों को दो दृष्टिकोणों से विश्लेषित किया जा सकता है पहला ये कि, कांग्रेस पूंजीपतियों से अत्यधिक प्रभावित थी जो कि इसका प्रयोग अपने वर्गीय स्वार्थों के लिए करते थे तथा दूसरा ये कि कांग्रेस पर पूंजीपतियों का कोई प्रभाव नहीं था, बल्कि कांग्रेस ने पूंजीपतियों को अपनी शर्त पर काम करने के लिए विवश किया।

प्रथम दृष्टिकोण इस विचार पर आधारित है कि पूंजीपतियों ने अपने कोष के प्रयोग से कांग्रेस को कुछ भागों पर लड़ने के लिए विवश किया जैसे रूपए-स्टर्लिंग के अनुपात में कमी, भारतीय उद्योगों को शुल्क संरक्षण और तटवर्ती परिवहन का भारतीय जहाजरानी के लिए आरक्षण। इसके अलावा कांग्रेस के कुछ राजनीतिक चुनाव में कांग्रेस प्रत्याशियों का चयन, 1930 के दशक के अन्त में श्रमिक आन्दोलन का दमन आदि भी पूंजीपति वर्ग से प्रभावित रहे। चूंकि इन्हें गांधी जी पर पूरा भरोसा था, इसलिए वे गांधीजी को समर्थन देते थे और गांधीजी भी पूंजीपतियों के समर्थक थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कांग्रेस अपने प्रकृति में एक पूंजीवादी संगठन था।

परन्तु दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार साम्राज्यवाद के विरुद्ध वित्तीय और मौद्रिक स्वायत्तता तथा संरक्षण इत्यादि मांगें स्वतन्त्र आर्थिक विकास के लिए आवश्यक मांगें थीं और किसी भी साम्राज्य विरोधी संघर्ष में इन मांगों का शामिल होना आवश्यक था इसमें पूंजीपतियों के साथ साम्यवादी और समाजवादी भी शामिल हुए थे दूसरी बात—आर्थिक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त भारत में प्रारम्भिक राष्ट्रवादियों ने बनाया था जबकि उस समय पूंजीपति वर्ग का अस्तित्व लगभग था ही नहीं और जहां तक नीतिनिर्धारण का मामला है, आर्थिक सहायता के लिए कांग्रेस पूंजीपतियों पर इस हद तक निर्भर नहीं थी कि उनका निर्णय प्रभावी होता। कांग्रेसियों की भारी संख्या आर्थिक मामलों में आत्मनिर्भर थी और इनके संघर्ष का सामान्य खर्च आम आदमी के सहयोग और स्वैच्छिक योगदान, सहायता शुल्क तथा छोटे चन्दों से चलता था। क्योंकि गांधीवादी अंध-विश्वास और कांग्रेसी मन्त्रियों के जबरदस्त असर के कारण कांग्रेस के स्थानीय संगठन जनता से इतना समर्थन हासिल कर सकते थे कि वे अधिक पैसा खर्च किए बिना चुनाव लड़ सकते थे।

इसका मतलब ये नहीं है कि कांग्रेस ने अपने संवैधानिक चरणों में पूंजीपतियों के सहयोग को स्वीकार नहीं किया, फिर भी इस धन के सहारे पूंजीपति वर्ग कांग्रेस को अपने इशारों पर नहीं चला सकता था।

गांधी जी मिल मालिकों और व्यापारियों के सहयोग का स्वागत करते थे तथा 1922 में तो, उन्होंने स्वतन्त्रता जल्द से जल्द प्राप्त करने के लिए पूंजीपतियों को सहयोग करने के लिए प्रेरित भी किया था। परन्तु साथ ही उन्हें ये भी बताया कि पूंजीपति और व्यापारी समर्थन और सहयोग दे या न दे आजादी के लिये जनान्दोलन अपने लक्ष्य की तरफ बढ़ता ही रहेगा, यदि इसमें उनका सहयोग प्राप्त हो जाए तो लक्ष्य जल्दी प्राप्त किया जा सकेगा।

इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पूंजीपति कांग्रेस का सहयोग करे या न करे, कांग्रेस दूसरे वर्गों के सहयोग से अपने कार्य कर सकती थी, परन्तु बहुत से मौकों पर इन्होंने पूंजीपतियों से वित्तीय सहयोग प्राप्त किया था यथा डालमिया ने 1937 के चुनाव कोष में पर्याप्त योगदान किया और बिड़ला ने रचनात्मक कार्य में हमेशा वित्तीय सहयोग दिया।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पूंजीपति वर्ग ने कभी भी कांग्रेस को अपने वर्ग की पार्टी नहीं समझा, वे कांग्रेस को जनान्दोलन की रहनुमाई करने वाला एक खुला संगठन मानते थे। भारतीय व्यापार मंडल के सचिव जे. के. मेहता ने इस बारे में कहा था कि कांग्रेस एक ऐसा संगठन है जिसमें किसी भी राजनीतिक-आर्थिक विचारधारा वाले व्यक्ति को स्थान मिल सकता है अतः इसे दक्षिण या वाम किसी भी दिशा में मोड़ा जा सकता है।

वामपंथियों के प्रति पूंजीपतियों की चिन्ता

चौथे दशक में कांग्रेस के भीतर नये सोशलिस्टों तथा कम्युनिस्टों के नेतृत्व में वामपंथ का प्रभाव बढ़ने लगा जो पूंजीपति वर्ग के लिये चिन्ता का विषय था, लेकिन इस विषय परिस्थिति में अन्य औपनिवेशिक देशों की तरह पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद का हाथ नहीं थामा। बल्कि वामपंथ के प्रभाव को कम करने के लिए बहुमुखी रणनीति अपनाई। यथा 1929 में कुछ पूंजीपतियों ने कम्युनिस्टों के विरुद्ध भारतीय व यूरोपीय पूंजीपतियों की एक पार्टी बनाने की कोशिश की तो अधिसंख्य पूंजीपतियों ने यह कहकर इसका विरोध किया कि साम्राज्वाद समर्थक यूरोपीय आर्थिक हितों से सांठ-गांठ करके पूंजीपतियों का भला नहीं हो सकता, पूंजीपति वर्ग का भला इसी में है कि वे संवैधानिक तरीकों से आजादी के लिए संघर्ष करने वालों का हाथ मजबूत करें। इसी तरह पूंजीपतियों ने कम्युनिस्टों के दमन के 'पब्लिक सेफ्टी बिल-1928' का भी विरोध किया था।

समय के साथ भारतीय पूंजीपतियों को ये महसूस हुआ कि बड़े पैमाने पर सामाजिक-आर्थिक उथल-पुथल को रोकने के लिए निरन्तर सुधार कार्यक्रम लाने चाहिए, इसी उद्देश्य ने इन्होंने 1942 में आर्थिक विकास समिति का गठन किया जिसने मशहूर ''बाम्बे प्लान'' तैयार किया इसका उद्देश्य समाजवाद के उन मांगों को स्वीकार करना था जो पूंजीवाद के अस्तित्व के लिए खतरा न हो। बाम्बे प्लान में त्वरित आर्थिक प्रगति और न्यायपूर्ण वितरण के सवाल को काफी गम्भीरता से लिया गया था तथा इस बात का संकेत भी दे दिया था कि कोई राष्ट्रीय सरकार ही इन योजनाओं का वास्तविक रूप दे सकती थी।

मूल्यांकन

पूंजीपतियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को पूंजीवादी सीमा में रोके रखने के लिए साम्राज्यवाद से कोई समझौता नहीं किया। वे साम्राज्यवाद विरोधी ही बने रहें, उनका उद्देश्य ऐसी नीति बनाना था जिसमें साम्राज्यवाद के समापन के साथ ही पूंजीवादी व्यवस्था के बने रहने का भी आश्वासन हो। इसे कांग्रेस की ताकत तथा विभिन्न वर्गों के साथ उसके सम्बन्धों का भी पूरा एहसास था, इसने अपने हितों को आम जनता के हितों के साथ जोड़कर देखा तथा उसके बारे में आवाज उठाई। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण आजादी के समय तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर बुर्जुवा दर्शन का वर्चस्व कायम रहा जबकि आन्दोलन के भीतर अनेक प्रभावशाली समाज दर्शन जैसे समाजवाद इसके खिलाफ संघर्ष कर रहे थे।

जनजातीय आन्दोलन

उदय के कारण

भारत में जनजातिय आन्दोलन औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। जनजातीय लोग भी भारतीय जीवन का ही एक हिस्सा थे केवल इनके रीति-रिवाज एवम् परम्पराएं थोड़ी अलग थी। उनका जीवन स्वच्छन्द था तथा खेती के उनके अपने तरीके थे वे जगह बदल-बदल कर झूम व पुडु विधियों से खेती करते थे। विस्तार और औपनिवेशीकरण की नीति में ब्रिटिश शासक को जनजातिय क्षेत्रों में आने के लिए प्रोत्साहित किया। विस्तार के साथ ही अंग्रेजों ने उन्हें अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत लाना चाहा ब्रिटिश राज ने आदिवासी कबीलों के सरदारों को जमींदारों का दरजा दिया और लगान की नई प्रणाली लागू की। इस प्रकार विस्तार के साथ शोषण के नए अभिकरण भी विकसित हो गए। नई भूमि व्यवस्था के साथ महाजन, ठेकेदार एवम् व्यापारी जैसे परजीवी, जो इस व्यवस्था से जुड़े हुए थे जनजातीय क्षेत्रों में सक्रिय हो गए। अब आदिवासियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर नए तरह के कर भी लगाए गए। जंगलों पर जनजातियों के परम्परागत अधिकारों पर अंकुश लगाया गया। 1867 के बाद झूम की खेती पर पाबन्दी लगा दी गई। इस प्रकार औपनिवेशिक राज की घुसपैठ ने इनकी पूरी सामाजिक व्यवस्था को ही उलट-पलट दिया। क्योंकि बाहरी बिचौलिए जैसे: महाजन, व्यापारी, लगान वसुलने वाले, ये धीरे-धीरे आदिवासियों की जमीन पर कब्जा जमाते गए और उन्होंने आदिवासियों को कर्ज के जटिल जाल में उलझा दिया। परिणामत: ये किसान धीरे-धीरे खेत मजदूर बनते चले गए।

अनुबन्धित मजदूरों को भी ब्रिटिश राज व्यवस्था से गहरा असन्तोष था क्योंकि इन मजदूरों को किसी भी अस्वास्थ कर स्थान पर भेजा जा सकता था, इन मजदूरों को अपनी संस्कृति तथा सामाजिक परिवेश से उखड़ जाने का भय हमेशा बना रहता था। पुलिस एवम् अन्य छोटे अधिकारियों द्वारा भी जनजातीय लोगों पर विभिन्न तरह के अत्याचार किए जाते थे। जनजातीय लोगों पर बेठ बेगारी और अन्य प्रकार के शोषण मूलक व्यवस्था लाद दी गयी। जनजातीय क्षेत्रों में ईसाई मिशनरियों की घुसपैठ को भी ब्रिटिश राज ने बढ़ावा दिया जो शिक्षा का प्रसार करने लगीं।

मिशनरियों ने आदिवासियों को शोषकों के विरुद्ध सहायता करने का लालच भी दिया, परन्तु इनकी उपस्थिति ने एक विशेष प्रकार के तनाव की स्थिति उत्पन्न कर दी और अन्तत: एक प्रकार का सांस्कृतिक संघर्ष भी छेड़ गया।

इस प्रकार इन परिस्थितियों के कारण आदिवासियों में असन्तोष गहराता गया जो इनके विद्रोह का कारण बना। आदिवासियों ने हजारों की संख्या में एकजुट होकर काफी बड़े पैमाने पर जुझारू संघर्ष किया और असीम शौर्य व बलिदान का परिचय दिया।

जनजातीय आन्दोलन का स्वरूप

औपनिवेशिक घुसपैठ और व्यापारियों, महाजनों एवम् लगान वसुलने वालों के तिहरे शासन ने पूरे आदिवासी समाज को झकझोर कर रख दिया। इसने आम आदिवासियों के साथ कबीलाई सरदार और मुखिया को भी नहीं छोड़ा, इसलिए आम आदिवासियों के साथ उनके मुखिया और सरदार भी विदेशियों को खदेड़ने के लिए एकजुट हुए। चूंकि जनजातियों के विद्रोह में उनके जातीय हित ही बुनियादी कारण रहे। इसलिए उन्होंने वर्ग के आधार पर नहीं बल्कि जातीय आधार

और आदिवासी पहचान जैसे संथाल, कोल, मुण्डा के रूप में अपने आपको संगठित किया। इन्होंने कभी दूसरे आदिवासियों पर हमला नहीं किया। ये केवल बाहरी लोगों (दिकूओ) को दुश्मन मानते थे, लेकिन उनमें एक खास बात भी थी कि ये किसी ऐसे बाहरी पर हमला नहीं करते थे जो गरीब थे, और आदिवासी गांवों की अर्थव्यवस्था में जिनकी भूमिका सहायक थी या जिन्होंने आदिवासियों से, गहरे सामाजिक रिश्ते बना लिए थे। आदिवासियों ने काफी बड़े पैमाने पर संघर्ष किया, पूरा कबीला और आसपास के सभी गावों के आदिवासी एक साथ संगठित होकर विद्रोह करते थे।

कई बार इन आदिवासियों के बीच ओझाओं जैसे धार्मिक और चमत्कारवादी नेता भी उभरे, इन नेताओं ने लोगों में धार्मिक विश्वास को रोपने के बाद विदेशी अधिकारियों के खिलाफ सब को एकजुट होने के लिए आह्वान किया। वे अक्सर ये दावा भी करते थे कि उनके पास जादुई ताकत है जिससे वे गोलियों को बेअसर कर सकते हैं। इससे आदिवासियों में आशा व विश्वास की ऐसी लहर फैली कि वे आखिरी सासें तक अपने नेता के साथ लड़ने के लिए तैयार हो गए।

इस प्रकार ब्रिटिश सेना व आदिवासियों के दो गैर-बराबर पक्षों में संघर्ष हुआ जिसमें लाखों आदिवासी मारे गए।

जनजातीय विद्रोह

शुरूआती दौर में 1790 में जमींदारों के शोषण के विरुद्ध जनजातीय विद्रोह हुआ, जिसे जमींदारों को बदल दिया गया परन्तु इससे विद्रोह शान्त नहीं हुआ 1817-20 के बीच चेरो, मुन्डा तथा हो जनजाति ने विद्रोह किया, हालांकि सैनिकों की सहायता से इन विद्रोहों को दबा दिया गया इससे बंगाल उड़ीसा की सीमा पर रहने वाले हो जनजाति की कई प्रकार की छुटें देनी पड़ी, जैसे उन्हें मैदानी लोगों को अपने क्षेत्र में बसने की अनुमति देनी पड़ी। अपने बच्चों को बंगला, उड़िया लिखने की अनुमति देनी पड़ी। इस प्रकार इन क्षेत्रों मे ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था लागू हो गई।

छोटानागपुर के कोल आदिवासी 1822 में मादक पदार्थों के उत्पादन पर लगने वाले कर, तथा 1827 में पोस्ते के उत्पादन पर नियन्त्रण के कारण असन्तुष्ट थे अत: इन्होंने 1830-31 में विद्रोह कर दिया, 5 महीने के उग्र संघर्ष के बाद द.प. सीमान्त एजेन्सी का निर्माण हुआ यह वह क्षेत्र था जहां सरकारी कानून ठीक से लागू नहीं होते।

इसी तरह आने वाले स्वर्णयुग का स्वप्न सजोए हुए और भी कई क्षेत्रों में जनजाति विद्रोह हुए जो एक ही तरह की समस्या से ग्रस्त थे, जैसे 1870 ई. के खेरवार या सफाहार विद्रोह, गुजरात में नैकर जनजाति का विद्रोह, 1882 में कप्लार के कच्छनागां जनजाति का विद्रोह, 1900 विशाखापत्तनम का विद्रोह।

प्रमुख विद्रोह

संथाल विद्रोह

भागलपुर से राजमहल के बीच का क्षेत्र 'दामन-ए-कोह' संथाल बहुल क्षेत्र था। संथाल शोषण करने वाले दिकूओं के खिलाफ थे, शुरूआत में तो इन्होंने निकटवर्ती शोषकों के विरूद्ध किया लेकिन बाद में दूरवर्ती शेषक भी इनके

सामने आगए। ये विद्रोह 1855-56 में हुआ था भगनडीहा नामक स्थान पर 30 जून, 1855 को 600 संथाल इकट्ठा हुए और इनके नेता के रूप में दो करिश्मायी सिद्धू और कान्हू उभरे। इन्होंने अपने आप को अर्द्धदैवी व्यक्तित्व घोषित करने की कोशिश की। महाजन, जमींदार, पुलिस चौकी, रेलवे निर्माण क्षेत्र स्थलों पर सथालों के हमले शुरू हो गए। सरकार ने इस विद्रोह को निर्ममता पूर्वक दबा दिया, परन्तु उनका संघर्ष निष्फल नहीं हुआ और अन्ततोगत्वा सरकार को संथाल परगना नामक एक जिला स्थापित करना पड़ा।

रम्पा विद्रोह

मादक पदार्थों के उत्पादन पर नियन्त्रण, झूम की खेती पर नियन्त्रण तथा जंगल कानूनों के विरोध में आन्ध्र तटीय क्षेत्र में 1879 ई. में रम्पा विद्रोह हुआ। 1922-24 में यह विद्रोह अल्यूरी सीताराम राजू के नेतृत्व में हुआ था जिसे सरकार ने दबा दिया।

रामोसी विद्रोह

महाराष्ट्र के पश्चिमी घाट क्षेत्र में निवास करने वाले रामोसी आदिम जाति ने 1822 ई. में चित्तर सिंह के नेतृत्व में विद्रोह किया। परंतु अंग्रेजी सेना ने बाद में विद्रोह का दमन कर दिया।

मुन्डा विद्रोह

1899-1900 में हुए इस विद्रोह को उलूगन विद्रोह भी कहा जाता है। बिरसा मुन्डा के नेतृव में जमींदारों द्वारा खुटकट्टी अधिकारों का उल्लंघन, अनुबन्धित मजदूरों की समस्या व बेठ बेगारी के खिलाफ इस विद्रोह का जन्म हुआ। इस विद्रोह की एक खास बात है कि विद्रोह के पहले मुन्डाओं ने कष्टों के निवारण के लिए वैधानिक उपायों का सहारा लिया तथा ईसाई मिशनरियों से सहायता पाने की कोशिश की लेकिन जब उनकी उम्मीद टूट गयी तो उन्होंने विद्रोह का सहारा लिया।

बिरसा जो एक बंटाईदार का पुत्र था, 1893-94 में भी उसने वन विभाग के एक अधिकारी के विरुद्ध आन्दोलन चलाया था। प्रारम्भ में उसने मिशनरी शिक्षा पाई थी, पर बाद में वैष्णव धर्म से जुड़ गया और उसने इस आन्दोलन में राजनीतिक व सामाजिक उद्देश्य से मसीहावादी दृष्टिकोण जोड़ दिया जो कि इस विद्रोह का एक महत्वपूर्ण तत्व हो गया। "नया विश्व" तथा "महाप्रलय" की उसकी भविष्यवाणी जनजातिय लोगों के लिए प्रेरक हो गयी।

1898-99 में संगठित विद्रोह प्रारम्भ हो गया और बिरसा ने ठेकेदारों की हत्या, जागीरदारों की हत्या, राजा, हाकिमों की हत्या का आह्वान किया। बिरसा को ईश्वरीय गुणों से परिपूर्ण माना गया उसी के नेतृत्व में ईसाई से वैष्णव धर्म में धर्म परिवर्तन होने लगा।

1900 में पुलिस को भी निशाना बना लिया गया, जिसके फलस्वरूप इन क्षेत्रों में कानून व्यवस्था टूट गई। किन्तु इतने बड़े दमन का प्रतिरोध करना इन जनजातीय लोगों के लिए सम्भव नहीं था। फलतः ये विद्रोह बालात् कुचल दिया गया। 1900 में बिरसा मुन्डा गिरफ्तार हो गया। हालांकि यह आन्दोलन दबा दिया गया, परन्तु बिरसा के महान् नेतृत्व के कारण यह ऐतिहासिक बन गया।

इस विद्रोह की सफलता इस बात में थी कि इसी के परिणामस्वरूप छोटानागपुर रैयतवाड़ी कानून (1888) पारित किया गया। इसके द्वारा मुन्डा, बिहार के अन्य कृषकों से एक पीढ़ी पूर्व ही अपने परम्परागत भू-अधिकारों को पा गए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बिरसा मुंडा ने साम्राज्यवादी विरोध परम्परा कायम की जो आने वाली पीढ़ी के लिए परम्परा बन गई।

राजनीतिक चेतना का विकास

20वीं सदी में भी असन्तोष का पहले जैसा कारक मौजूद था, इसलिए विद्रोह का पहले जैसा झुकाव भी था, परन्तु 20वीं सदी के विद्रोह की एक विशेषता थी कि इसमें वृहत राजनीतिक चेतना विकसित होने लगी। कहीं-कहीं तो असहयोग व सत्याग्रह को अनुशासित राजनीति भी देखी गई जैसे 1898 के आंध्र प्रदेश के कुडप्पा व नेल्लोर जिले में चेचूं जनजाति का विद्रोह। हालांकि ये इस बात का भी द्योतक था कि ये अपनी कमजोरी व ब्रिटिश सरकार की शक्ति से परिचित हो चुके थे।

उड़ीसा की खोंड जनजाति एवम् छोटानागपुर के उराव जनजाति के विद्रोह में एक नई बात थी की इन्हें बाह्य जगत की पूरी जानकारी थी ये प्रथम विश्व युद्ध एवम् उसमें ब्रिटिश शक्ति की सम्भावित हार से परिचित थे। इसी उराव जनजाति के तानाभगत के नेतृत्व में बाद में तानाभगत आन्दोलन शुरू हुआ। इसका गांधीवादी राष्ट्रवाद से गहरा सम्बन्ध था तथा 1920 के दशक में यह गांधीवादी राष्ट्रवाद से जुड़ गया। पश्चिमी क्षेत्रों में निम्न कार्यों के लिए भेजे जाने के कारण असन्तुष्ट मयूरभंज के संथाल तथा मणिपुर में कूकी जनजाति का विद्रोह भी कुछ बातों में आधुनिक था।

जनजातीय विद्रोह की श्रृंखला में 1922-24 का रम्पा विद्रोह प्रमुख है जो अल्लूरी सीताराम राजू के नेतृत्व में हुआ था। इस विद्रोह में प्रारम्भिक विद्रोह पद्धति के साथ आधुनिक राष्ट्रवाद को जोड़ दिया गया।

चूंकि यह आन्दोलन असहयोग आन्दोलन के स्थगन के बाद शुरू हुआ था, अतः इसे असहयोग आन्दोलन की प्रतिरोध शक्ति से प्रेरणा भी मिल रही थी। साथ ही असहयोग आन्दोलन की असफलता से निराशा भी हो रही थी। इस आन्दोलन को बाह्य क्षेत्रों से नेतृत्व प्राप्त हुआ था। इस आन्दोलन की एक ओर खास बात थी कि इसमें सीताराम राजू ने असहयोग आन्दोलन को संरचनात्मक पक्ष को हिंसा से जोड़ दिया था।

1920 के दशक में मणिपुर में जेदोनांग के नेतृत्व में आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जो जेलियांग ग्राम आन्दोलन कहा गया बाद में जेदोनांग को फांसी हो जाने के कारण उसकी भतीजी रानी गिडाल्यू ने जनजाति आन्दोलन आगे बढ़ाया। यह आन्दोलन भी अहिंसक तरीके से चलाया गया, परन्तु 1932 में गिडाल्यू को गिरफ्तार कर इस आन्दोलन को दबा दिया गया।

जनजातीय आन्दोलन की सीमाएं

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले जनजातियों ने औपनिवेशिक शासन और शोषण के खिलाफ कई जुझारू संघर्ष किए और असीम शौर्य एवम् बलिदान का परिचय दिया, परन्तु ये सभी संघर्ष पूरी तरह से दो गैर-बराबर पक्षों का संघर्ष था जिसमें एक तरफ तो आधुनिक हथियारों से लैस फौज थी और दूसरी तरफ पत्थर, आरी, भाले और तीर-धनुष लिए जुझते हुए आदिवासी पुरुष और औरते जिन्हें ये अन्धविश्वास था, कि उनके नेता के पास ईश्वरीय ताकत है और इस संघर्ष में ईश्वर खुद दिकुओं से संघर्ष कर उनकी रक्षा करेंगे। हालांकि इस तरह से धार्मिक विश्वास लोगों में उत्साह व साहस तो पैदा करते हैं पर किसी भी संघर्ष में जीत के लिए और भी कई कारक सहायक होते हैं जिनका इन आदिवासियों में अभाव था।

मूल्यांकन

शुरूआती दौर के हुए आन्दोलनों में पृथकतावाद एवम् उग्र वामपंथवाद का लक्षण देखा गया, परन्तु इसमें राष्ट्रवाद या राजनीतिक चेतनावाद का पूर्ण अभाव रहा। हालांकि 20वीं शताब्दी के आन्दोलनकारियों को बाह्य जगत की भी जानकारी होने लगी थी। अत: उनमें राजनीतिक चेतना का भी विकास हुआ, परन्तु राष्ट्रवाद की भावना अविकसित ही रही। किन्तु इस बात का कोई शक नहीं कि इन आदिवासियों ने साम्राज्यवाद विरोधी भावना की परम्परा कायम की और साथ ही ये राष्ट्रवादी भावना के प्रेरक तत्व भी बने। इन आदिवासियों को संघर्ष में पूरी सफलता तो नहीं मिली पर इन्होंने पूरे देश को साम्राज्यवादी विस्तार का विरोध करने की प्रेरणा जरूर दी।

❖❖❖❖❖

भारत में विभिन्न संस्थाओं का विकास

न्यायपालिका

न्यायपालिका किसी भी देश के लिये हृदय के समान होती है। इसके स्वस्थ एवं सुचारू ढंग से कार्य करने पर नागरिकों के जीवन में खुशहाली, व्यवस्था में विश्वास तथा भविष्य के प्रति सकारात्मक सोच बनती है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पूर्व भारत की न्याय प्रणाली अस्पष्ट और असंतोषजनक थी। पूरे देश में भिन्न-भिन्न न्यायिक संरचना थी तथा न्यायिक कार्य पूर्णत: धार्मिक विधियों, परम्पराओं, रीति-रिवाजों, व्यक्तिगत मान्यताओं पर आधारित थी। प्रशासनिक व न्यायिक कार्य आपस में विभाजित नहीं थे तथा विधि के समक्ष समानता व विधि के शासन का सर्वथा अभाव था।

यह अंग्रेजों की देन है कि आज भारत में एक सुदृढ़ और आधुनिक न्याय व्यवस्था है। किन्तु अंग्रेजों का उद्देश्य भारत में न्याय प्रणाली की एक सुव्यवस्थित ढांचा स्थापित करना नहीं था। वे तो भारत में औपनिवेशिक शासन को स्थायी बनाए रखना चाहते थे और इसीलिए अन्य संस्थाओं के साथ न्यायपालिका में भी सुधार करना पड़ा। उन्होंने भारत में पहली बार विधि का शासन, लिखित कानूनी संहिता और प्रशासन व न्यायपालिका के पृथक्करण की दिशा में ठोस कार्य किया।

न्यायिक सुधार की दिशा में आरम्भिक प्रयास ***गवर्नर जनरल वारेन हेंस्टिंग्स*** द्वारा किया गया, उन्होंने प्रत्येक जिले में जिला कलेक्टर के समान ***जिला दीवानी और जिला निजामत न्यायालय*** की स्थापना की। जिला दीवानी न्यायालय कलक्टर के प्रधान नियंत्रण में तथा निजामत न्यायालय सामान्य नियंत्रण में रखा गया। इन न्यायालयों के विरूद्ध अपील क्रमश: हिन्दू एवं मुस्लिम विधियों के अनुसार होती थी तथा जिला निजामत न्यायालय मुस्लिम कानूनों के अनुसार अपनी सुनवाई करती थी जिसकी सहायता काजी एवं मुफ्ती करते थे। इस प्रकार प्रारम्भ में स्थापित न्याय प्रणाली में भारतीय प्रभाव अधिक था तथा प्रशासन एवं न्यायपालिका का पृथक्करण भी पूर्णतया स्पष्ट नहीं था।

न्यायिक विकास के क्षेत्र में रेग्युलेटिंग एक्ट 1773 का अत्यधिक महत्व है। इसने बंगाल में एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की। इसका अधिकार क्षेत्र कलकत्ता रहा था। तथा भारतीय और यूरोपीयन सभी के मुकदमों की सुनवायी करता था। यदि दोनों पक्ष सहमत हों तो यह कलकत्ता के बाहर के मुकदमों की सुनवाई कर सकता था। यह न्यायालय अंग्रेजी विधि के अधीन मामले को सुनता था और इसकी भाषा भी अंग्रेजी होती थी।

लॉर्ड कार्नवालिस ने वारेन हेस्टिंग्स द्वारा स्थापित न्यायपालिका के ढांचे को अत्यधिक व्यवस्थित करके भारत में एक सुदृढ़ न्याय प्रणाली की नींव डाली तथा न्यायालय व प्रशासन का पृथक्करण करने का ठोस प्रयास किया। कार्नवालिस ने न्यायपालिका को 'पद सोपानिक क्रम', में व्यवस्थित करके सम्पूर्ण ब्रिटिश शासित प्रदेश में एकरूपता स्थापित की। पद-सोपानिक क्रम में सबसे निचले स्तर पर मुंसिफ मजिस्ट्रेट को रखा। यह भारतीय न्यायाधीश होता था तथा 50 रूपये तक के मुकदमे की सुनवाई कर सकता था। इसके ऊपर रजिस्ट्रार का न्यायालय था जो 200 रूपये तक के मामले की सुनवाई करता था। इसके न्यायाधीश यूरोपीय होते थे। इन न्यायालयों के विरूद्ध अपील जिला अथवा नगर अदालतों में होती थी। जिला अदालतों से ऊपर प्रान्तीय अदालते थीं और उससे ऊपर सदर दीवानी एवं सदर निजामत अदालत होती थी जो कि कलकत्ता में स्थित था। कुछ मामलों में इसके विरूद्ध अपील इंग्लैंड स्थित प्रिवी काउंसिल में होती थी। कार्नवालिस को न्यायप्रणाली को इस प्रकार समझ सकते हैं।

प्रिवी काउंसिल

↑

सदर दीवानी व निजामत

↑

प्रान्तीय अदालतें

↑

जिला अदालतें

↑

रजिस्ट्रार

↑

मुंसिफ

कार्नवालिस ने न्यायिक संरचना के साथ ही कानूनों को भी संहितावद्ध करने कार्य किया तथा उसके द्वारा तैयार करवाये गये कानूनों को कार्नवालिस संहिता कहा जाता है। यह संहिता 'शक्ति पृथक्करण' सिद्धान्त पर आधारित थी। कार्नवालिस कलक्टरों के बढ़े हुये कार्यों से चिन्तित था तथा शक्ति पृथक्करण भी लागू करना चाहता था, अतः उसने कलक्टरों से न्यायिक व निजामत की शक्तियां ले ली और उसे जिला न्यायालयों को दे दी।

आगे चलकर कार्नवालिस द्वारा किये गये प्रयास में थोड़ा परिवर्तन करके लॉर्ड विलियम बेंटिक ने कलक्टरों को पुनः न्यायिक एवं निजामत कार्यों को वापस दे दिया। इस समय तक न्यायालयों की भाषा फारसी होती थी जिसके स्थान पर अब स्थानीय भाषाओं को अपनाया गया।

लॉर्ड बेंटिक के समय दिल्ली और आधुनिक उत्तर प्रदेश के लिये एक पृथक सदर न्यायालय की स्थापना इलाहाबाद में किया गया। इसी समय 1833 में लॉर्ड मैकाले की अध्यक्षता में एक विधि आयोग की स्थापना की गयी जिसका कार्य भारतीय न्यायालयों में मामलों के विचारण के लिये विधिक आधार प्रदान करना था। आयोग द्वारा किये गये प्रयासों के परिणाम स्वरूप कालांतर में दीवानी संहिता (1859), भारतीय दण्ड संहिता (1860) व फौजदारी संहिता (1861) तैयार किया गया जो कि आज भी कुछ संशोधनों सहित बरकरार है। 1865 में एक परिवर्तन के तहत सर्वोच्च न्यायालय के साथ ही सदर न्यायालयों का विलय कलकत्ता, मुम्बई और मद्रास स्थित उच्च न्यायालयों में कर दिया गया।

1935 के भारत शासन अधिनियम में सम्पूर्ण भारत (ब्रिटिश भारत एवं देशी रियासतों) के लिये एक संघीय न्यायालय की व्यवस्था की गयी। इस न्यायालय को आधुनिक भारत के सर्वोच्च न्यायालय के समान व्यापक शक्तियां दी गयी। जिसमें दीवानी फौजदारी मामलों की अपील, केन्द्र राज्यों के मध्य उठने वाले विवादों की प्रारम्भिक सुनवायी तथा परामर्शीय अधिकार सम्मिलित थे। हालांकि इस न्यायालय को सर्वोच्च न्यायालय की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि इसके विरूद्ध कतिपय मामलों में अपील ब्रिटेन की प्रिवी काउंसिल में हो सकती थी।

ब्रिटिश शासनकाल में स्थापित न्याय प्रणाली की एक मुख्य विशेषता यह थी कि प्रारम्भिक अवस्था में भारतीय न्यायाधीश यूरोपियनों के मुकदमों की सुनवायी नहीं कर सकते थे तथा यूरोपीय लोगों की दीवानी एवं फौजदारी मामलों में कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे, किन्तु धीरे-धीरे में विशेषाधिकार लगभग समाप्त हो गये तथा भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपियनों के मुकदमों की सुनवाई का अधिकार प्रदान कर दिया।

इस प्रकार भारत में विभिन्न गवर्नर जनरलों द्वारा किये गये सुधार तथा चार्टर एक्ट व भारत शासन अधिनियमों ने भारत में एक एकीकृत न्यायपालिका की आधुनिक व्यवस्था को जन्म दिया जो कि प्रचलित भारतीय न्याय प्रणालियों से अधिक तार्किक, वैज्ञानिक एवं सुदृढ़ थी।

ब्रिटिश कालीन न्यायपालिका के दो पहलू थे - सकारात्मक और नकारात्मक

सकारात्मक पहलू

- विधि के शासन की स्थापना की गयी।
- पूरे देश में एकीकृत न्यायिक ढांचा तैयार किया गया।
- शासकों के व्यक्तिगत एवं धार्मिक कानूनों के स्थान पर 'संहिताबद्ध' कानूनों को लागू किया गया।
- सरकारी अधिकारियों को न्यायालयों के प्रति जवाबदेह बनाया गया तथा शक्ति पृथक्करण की स्थापना की गयी।

नकारात्मक पहलू

- न्याय व्यवस्था अत्यधिक जटिल, दुरूह एवं खर्चीली बन गयी जिससे लोगों को समय पर न्याय मिलना असम्भव गया और धनवान व्यक्ति अधिक फायदे में रहें।
- आम भारतीयों के लिये यह एक नवीन व्यवस्था थी। कालांतर में अंग्रेजों ने जमींदारों-साहूकारों के साथ मिलकर किसानों का जमकर शोषण किया।
- कतिपय मामलों में यूरोपीय को विशेषाधिकार प्राप्त थे तथा भारतीय न्यायाधीश उनके मुकदमों की सुनवाई नहीं कर सकते थे।
- न्यायाधीश द्वारा भारतीय परिस्थितियों, परम्पराओं, रीति-रिवाजों से परिचित न होने के कारण कई बार न्याय अधिक औपचारिक हो जाते थे।

भारत में सिविल सेवा का विकास

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय कम्पनी द्वारा जो नियुक्तियां की गयी, वह लूट पद्धति पर आधारित था जो योग्यता आधारित प्रशासकीय सेवा के विकास में बाधा थी। जैसे-जैसे सरकार के कार्य बढ़े ये कर्मचारी अन्य गतिविधियों जैसे व्यापार करना, उपहार लेना आदि, में लिप्त होने लगे जिससे कम्पनी द्वारा स्थापित प्रशासन में भ्रष्टाचार अत्यधिक बढ़ गया। कम्पनी के बढ़े हुये कार्यों तथा प्रशासन में बढ़ रहे भ्रष्टाचार को ध्यान में रखते हुये लॉर्ड क्लाइव ने कम्पनी के अधीन सेवाओं को दो भागों में विभाजित कर दिया, कैवेण्टेड (अनुबद्ध सेवा) और मकैवेण्टेड (प्रतिज्ञाबद्ध सेवा)। उसने कम्पनी के असैनिक कर्मचारियों को बाध्य किया कि वे एक प्रतिज्ञापत्र भरें जिसमें उनकी सेवा की शर्तें, निजी व्यापार न करने, घूस या उपहार न लेने आदि नियमों का उल्लेख था। कम्पनी के असैनिक कर्मचारियों को प्रतिज्ञाबद्ध या मकैवेण्टड नागरिक सेवा नाम दिया गया।

क्लाइव के सुधारों के पश्चात भी स्थिति लगभग सोचनीय ही बनी रही। पहली बार वारेन हेस्टिंग्स ने कलेक्टर की नियुक्ति की जिसका मुख्य कार्य भू-राजस्व का एकत्रण था। इसके अलावा इन्हें कुछ प्रशासनिक उत्तराधिकार भी सौंपा गया। इसी बीच जिलाधीश के पद को सृजित किया गया। कार्नवालिस (1786-93) ने प्रशासन को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिये प्रशासनिक सेवाओं में निम्नलिखित परिवर्तन किया जिसका मुख्य उद्देश्य नागरिक सेवाओं में कुशलता लाना था :-

- कर्मचारियों के व्यापार करने पर पाबन्दी लगी दी।
- कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की गयी।
- पदोन्नति के लिये वरिष्ठता सिद्धान्त को मान्यता दी गयी।
- अधिकारियों के रिश्वत एवं उपहार लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

कार्नवालिस के बाद वेलेजली ने (1798-1806) लोक सेवाओं के प्रशिक्षण पर अधिक ध्यान दिया और उसने इसके लिये 1800 में फोर्ट विलियम में एक कॉलेज की स्थापना की जिसे 'फोर्ट विलियम कॉलेज' कहा जाता है। किन्तु बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स (ब्रिटेन) ने इसे बन्द करके 1806 में 'हेल्सवरी कॉलेज' की स्थापना की जिसमें चयनित अभ्यर्थियों को 2 वर्ष का प्रशिक्षण देने के बाद भारत भेजा जाता था।

1833 के चार्टर एक्ट में घोषणा की गयी भविष्य में सभी नियुक्ति प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर होगी और इसमें सभी लोग बिना किसी भेदभाव के बैठ सकेंगे। इसके साथ ही बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स का नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार समाप्त हो गया। 1853 में भी इसी प्रकार की घोषणा हुई। किन्तु इसे क्रियान्वित नहीं किया गया।

इस दिशा में 1854 का वर्ष महत्वपूर्ण है जबकि लॉर्ड मैकाले की अध्यक्षता में सिविल सेवा समिति का गठन किया गया। इस समिति ने भारतीय नागरिक सेवा के लिये जो सिफारिशें की वह आज भी भारतीय प्रशासनिक सेवा की आधारशिला है। 1858 में ब्रिटिश सामग्री ने अपने घोषणा पत्र में 1833 व 1853 के प्रावधानों को भी दोहराया तथा इसके पश्चात डिप्टी कलेक्टर का पद सृजित किया गया।

सिविल सेवाओं में परीक्षा में बैठने की आयु प्रारम्भ में 23 वर्ष थी, जिसे 1860 व 1866 व 1878 में क्रमशः 22, 21 व 19 वर्ष कर दिया गया। **(इसके पीछे उद्देश्य यह था कि भारतीयों को इस सेवा में आने से रोका जाये।)**

1878-79 में लॉर्ड लिटन ने वैधानिक सिविल सेवा की योजना प्रस्तुत की। इस योजना के अनुसार प्रशासन के 1/6 अनुबद्ध पद उच्च कुल के भारतीयों से भरे जाने थे। इन पदों के लिये प्रान्तीय सरकारें सिफारिशें करेंगी तथा वायसराय एवं भारत सचिव की अनुमति के पश्चात नियुक्ति कर दी जायेगी। इनकी पदवी और वेतन संग्रलित सेवा से कम होता था। किन्तु यह व्यवस्था असफल हो गयी और 8 वर्ष पश्चात इसे समाप्त कर दिया गया।

इसी बीच जैसे-जैसे राष्ट्रीय चेतना का विस्तार होता गया वैसे-वैसे प्रारंभिक राष्ट्रवादियों द्वारा सिविल सेवा के भारतीयकरण की मांग बढ़ती गयी। भारतीयों व कांग्रेस द्वारा की जारी सेवाओं के भारतीय करण की मांग को ध्यान में रखते हुये लॉर्ड डफरिन ने **1886 में एचिसन कमेटी की नियुक्ति की।** एचिसन आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें की :-

- सेवाओं को भारतीय सिविल सेवा, 'प्रान्तीय सेवा' व 'अधीनस्थ सेवा' नामक तीन वर्गों में विभाजित किया जाये।
- भारतीय सिविल सेवा की परीक्षा इंग्लैंड में हो तथा इसमें भारतीय व यूरोपीय दोनों ही बैठ सके। शेष दोनों सेवाओं की परीक्षा भारत में हो और इसमें भारतीय ही हों।
- सिविल सेवा की आयु बढ़ाकर 23 वर्ष कर दिया जाय।

आयोग ने भारत एवं इंग्लैण्ड में एकमात्र परीक्षा आयोजित करने का विरोध किया।

1912 में लोक सेवाओं के प्रश्न पर विचार करने के लिये **इसलिंग्टन आयोग** गठित किया गया। इस आयोग ने 1917 में रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसे सरकार ने स्वीकार कर लिया और 1919 के भारत शासन अधिनियम में इसका प्रावधान

किया जो इस प्रकार है :-

- नागरिक सेवा की परीक्षा भारत एवं इंग्लैण्ड में एक साथ आयोजित किया जाए।
- भारतीय नागरिक सेवा में भारतीयों की संख्या बढ़ाने के लिये प्रारम्भ में वरिष्ठ पदों में से एक तिहाई पदों के लिये भर्ती भारत में की जाये और प्रतिवर्ष इसमें 1 प्रतिशत भारतीयों की संख्या बढ़ायी जाए।
- ICS अधिकारियों के वेतन, पेंशन और समुद्र पारिए भत्तों में वृद्धि की जाए।
- एक लोक सेवा आयोग की स्थापना की जाएगी।

उच्च लोक सेवाओं में सुधार के लिये पुन: 1924 ने लॉर्ड ली की अध्यक्षता में एक शाही आयोग का गठन किया गया इसीलिये इसे ली आयोग कहा जाता है। आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें की :

- एक लोक सेवा आयोग का गठन किया जाये, जिसके दो कार्य हों,
- लोक सेवाओं के लिये भर्ती करना तथा योग्यताओं का निर्धारण करना।
- लोक सेवाओं की सुरक्षा एवं अनुशासनात्मक नियंत्रण।
- लोक सेवाओं को तीन भागों में विभाजित किया जाये, अखिल भारतीय सेवा, हस्तान्तरित सेवा व केन्द्रीय सेवा।

1926 में लोक सेवा आयोग का गठन कर दिया गया। 1935 के भारत शासन अधिनियम ने केन्द्रीय स्तर पर एक अखिल भारतीय सेवा तथा राज्यों/प्रान्तों के लिये प्रान्तीय लोक सेवा आयोगों की स्थापना का प्रावधान किया गया। अधिनियम ने अपनी नागरिक सेवा व चिकित्सा सेवा के अतिरिक्त अन्य सेवाओं को भारत सचिव के अधिकार क्षेत्र से निकाल दिया और इन पर गवर्नर जनरल का नियंत्रण स्थापित किया।

स्वतन्त्रता के समय इन सेवाओं को बनाए रखने की गारन्टी दी गयी। किन्तु आजादी के बाद यूरोपीय अधिकारी तथा मुस्लिम अधिकारी क्रमश: यूरोप व पाकिस्तान चले गये जिसके परिणामस्वरूप भारत में अधिकारियों की कमी हो गयी। अत: रिक्त पदों पर भर्ती के लिये विशेष भर्ती मण्डल की स्थापना करके भर्तियां की गयी। 26 जनवरी, 1950 को जब संविधान लागू हुआ तो इन भर्ती मण्डलों को समाप्त कर दिया गया। आजादी के बाद भारतीय नागरिक सेवा को तो बनाए रखा गया किन्तु उसका नाम बदलकर अखिल भारतीय सेवा (IAS, IPS, IFS) कर दिया गया तथा इनके भर्ती तथा योग्यताओं के निर्धारण की लिये एक संवैधानिक संस्था संघ लोक सेवा आयोग (UPSC) का गठन किया गया।

पुलिस प्रशासन

भारत में अंग्रेजी राज्य का मुख्य उद्देश्य औपनिवेशिक शासन को सुदृढ़ करना था। इसके लिये एक मजबूत पुलिस तन्त्र की स्थापना की आवश्यकता थी। इस दिशा में सर्वप्रथम ध्यान लॉर्ड कार्नवालिस (1791) द्वारा दिया गया। उसने

कानून एवं व्यवस्था की स्थापना के लिये पुलिस बल को एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया। पुरानी पुलिस का आधुनिकीकरण करते हुये उसने जिले को 400 मील के क्षेत्र में विभाजित किया और जिले के अन्तर्गत अनेक थाने स्थापित किये। प्रत्येक थाने को एक दरोगा के अधीन रखा गया और उसकी सहायता के लिये पुलिस कर्मचारी नियुक्त किये गये। प्रत्येक ज़िले को पुलिस अधीक्षक के अधीन रखा गया जो जिले का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। ग्रामीण क्षेत्रों में जमींदारों के पुलिस सम्बन्धी अधिकार समाप्त कर दिये गये। पुलिस कर्मचारियों में तत्परता एवं ईमानदारी लाने के लिये इनके वेतन बढ़ा दिये गये और उनके लिये अतिरिक्त पुरस्कारों की व्यवस्था की गयी। 1808 में प्रत्येक डिवीजन के लिये एस.पी. की नियुक्ति की गयी। 1829 में विलियम बेंटिक ने पुलिस अधीक्षक के पद को समाप्त कर दिया तथा प्रत्येक जिले के कलेक्टर या दण्डाधिकारी (मजिस्ट्रेट) को पुलिस विभाग का प्रमुख बनाया गया और मण्डल के राजस्व आयुक्त को पुलिस अधीक्षक के पद का दायित्व दिया गया, किन्तु इससे जिले के पुलिस बल का संगठन अत्यधिक दुर्बल हो गया और कलक्टर के कार्य भी अत्यधिक बढ़ गये। परिणामस्वरूप सर्वप्रथम प्रेसीडेन्सी नगरों (बम्बई, कलकत्ता और मद्रास) में जिला दण्डाधिकारी और कलक्टरों के कार्यों को पृथक किया गया, किन्तु शेष स्थानों पर वहीं व्यवस्था लागू रही। पुलिस की संरचना, कार्यप्रणाली और कलेक्टर व जिला दण्डाधिकारी के सम्बन्धों की व्यवस्था करने के निमित्त 1860 में पुलिस आयोग की नियुक्ति की गयी। आयोग की शिफारिश पर 1861 में भारतीय पुलिस अधिनियम पारित हुआ। इसके अनुसार जिला दण्डाधिकारियों के सहयोगी के रूप में पुलिस अधीक्षक को नियुक्त किया गया। जिले से ऊपर रेन्ज बनाया गया जिसमें उपमहानिरीक्षक को पदस्थापित किया गया तथा प्रत्येक प्रान्त के पुलिस प्रमुख को 'पुलिस महानिदेशक' की संज्ञा दी गयी। 1902 में स्थापित पुलिस सुधार आयोग की अनुशंसा पर 'पुलिस अधीक्षक' का नया पद सृजित किया गया। इस प्रकार भारतीय पुलिस अधिनियम 1861 ने प्रान्तीय स्तर पर शीर्ष से नीचे स्तर पर पुलिस की एक संरचना निमित्त किया जो कि आज भी मौजूद है। इस अधिनियम ने जिला पुलिस को जिलाधिकारी के सामान्य नियंत्रण में पुलिस अधीक्षक के अधीन गठित किया। अंग्रेजी शासन के अधीन पुलिस प्रशासन की विशेषताएं निम्न थीं–

- ग्रामीण क्षेत्र से प्रान्तीय स्तर पर एकीकृत पुलिस ढांचा स्थापित किया गया, किन्तु केन्द्रीय स्तर पर ऐसा कोई संगठन स्थापित नहीं किया गया।
- पुलिस एवं सेना का अलगाव किया गया।
- पुलिस एवं सामान्य प्रशासन को अलग-अलग किया गया, किन्तु फिर भी पुलिस पर सामान्य प्रशासन का नियंत्रण स्थापित किया गया।
- पुलिस प्रशासन का प्रमुख कार्य कानून एवं व्यवस्था स्थापित करना था।

सेना

किसी भी देश की सीमाओं की सुरक्षा तथा विदेशी आक्रमण से रक्षा में सेना की प्रमुख भूमिका होती है। एक सशक्त सेना के अभाव में आन्तरिक शासन को सुचारू रूप से नहीं चलाया जा सकता। भारत में अंग्रेजों का मुख्य

उद्देश्य न केवल अपने उपनिवेश की सुरक्षा था, अपितु उसमें सदैव विस्तार करना भी था और यह सब एक व्यवस्थित तथा सुदृढ़ सैन्य व्यवस्था से ही संभव हो सकता था।

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के समय से ही भारतीयों को सेना में भर्ती दी गयी, किन्तु उन्हें ऊँचे पद नहीं दिये जाते थे। हवलदार से ऊपर का पद सदैव यूरोपियों द्वारा ही भरे जाते थे। भारतीय सैनिकों को वेतन एवं भत्ते भी यूरोपियों की अपेक्षा कम दिये जाते। खान-पान, रहन-सहन और व्यवहार में भारतीयों के साथ भेदभाव सामान्य व्यवहार में था। जबकि भारतीय सैनिकों को यूरोपीय सैनिकों की अपेक्षा कठिन काम दिये जाते, उन्हें भारत के बाहर लड़ाइयों में भी ले जाया जाता था। इस कमियों के कारण 1857 में भारतीय सैनिकों ने विद्रोह कर दिया तथा बढ़ चढ़कर उसमें भाग लिया। 10 मई, 1857 के विद्रोह ने अंग्रेजी राज्य की नींव हिला दी। सर जॉन लारेन्स ने इस विद्रोह के लिये बंगाल सैनिक सेवा में मातृत्व भाव व समांगीकरण (hemogenety) को उत्तरदायी माना। इसलिये विद्रोह के पश्चात भारतीय सेना का गठन इस प्रकार किया गया जिससे इन दोषों को दूर किया जा सके। उन्होंने इसके लिये यूरोपीय सेना को प्रतितुलन (Counterpoise) तथा भारतीय सेना का जातीय आधार पर विभाजन किया। इसी प्रकार सैनिकों में प्रादेशिक निष्ठा की भावना बढ़ाने एवं राष्ट्रभावना को हतोत्साहित करने के लिये सेना को बंगाल, गोरखा, सिख, राजपूत, मराठा, गढ़वाल, बलोच, कुमाऊ, रेजीमेंटों में पुनर्गठित किया गया। जिन-जिन प्रदेशों के लोगों ने विद्रोहों में भाग लिया था, वहां के सैनिक भर्ती बन्द कर दिये गये तथा उन प्रदेशों में विकास योजनाएं भी लागू नहीं की गयी। इसके अतिरिक्त अन्य परिवर्तन भी किये गये :-

- यूरोपीय सेना को ब्रिटिश सेना में मिला दिया गया। बंगाल, बम्बई और मद्रास के तोपखानें को शाही तोपखाना एवं शाही इन्जीनियरों में मिला दिया गया। अंग्रेजी सेना के पदाधिकारी एवं सैनिक भारत में सेवा करने एवं अनुभव प्राप्त करने के लिये नियमित रूप से भेजे जाने लगे।
- यूरोपीय सैनिकों की संख्या बढ़ा दी गयी और भारतीय सैनिकों की संख्या कम कर दी गयी। यूरोपीय एवं भारतीय सैनिकों का अनुपात बंगाल में 1:2 तथा मद्रास व बम्बई में 1:3 रखा गया।
- सामरिक दृष्टिकोण कुछ विभागों जैसे तोपखाना, सिगनल्स में भारतीयों की संख्या में अत्यधिक कमी कर दी गयी।

इस नवीन पुनर्गठन के फलस्वरूप सेना में भारतीय एवं यूरोपियों के प्रतितुलन को स्थापित किया गया और इसे आगे तक जारी रखा गया। सेना के इस पुनर्गठन से सैनिक खर्च केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों की कुल आय की 25 से 30 प्रतिशत तक हो गया जबकि उसी समय ग्रेट ब्रिटेन अपनी आय का 22 प्रतिशत खर्च करता था। इस अत्यधिक रक्षा व्यय के कारण भारत सरकार को ऋण लेना पड़ता था, जिसका भारत की अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

शिक्षा का विकास

शिक्षा अनवरत् व सतत चलने वाली प्रक्रिया है, शिक्षा हमारे जीवन से जुड़ी हुई एक सार्थक क्रिया है, यह मनुष्य को सम्मान-पूर्वक जीवन निर्वाह करने तथा आत्मनिर्भर होने को प्रेरित करती है, भारत में शिक्षा के प्रति आजादी के

पूर्व व स्वाधीनता के पश्चात् भी बहुत चिंतन किया गया है। शिक्षा के मूलभूत ढाँचे की समीक्षा करके इसे उपयोगी बनाने के लिए समय-समय पर विभिन्न आयोग गठित किये गये हैं।

मुगलों के पतन के साथ-साथ भारत में हिन्दू और मुस्लिम शिक्षा केन्द्र भी लुप्तप्राय हो गये थे। देश में व्याप्त राजनीतिक अनिश्चितता की स्थिति में शिक्षा के प्रचार-प्रसार को व्यापक क्षति पहुँचाई थी, कम्पनी के शासनकाल में शिक्षा परम्परानुसार विद्या का भार निजी हाथों में रहने दिया गया, कम्पनी की सरकार ने पूर्वी विद्या या प्राच्य विद्या (Oriental Learning) के प्रसार के लिए कुछ निरूत्साह से प्रयत्न किए। 1781 में वारेन हेस्टिंग्ज ने कलकत्ता मदरसा स्थापित किया जिसमें फारसी और अरबी के अध्ययन की सुविधा थी। 1791 ई. में श्री डंकन (बनारस के ब्रिटिश रेजिडेन्ट) के सुप्रयासों से बनारस में एक संस्कृत कॉलेज खोला गया जिसका उद्देश्य "हिन्दुओं के धर्म, साहित्य और कानून का अध्ययन और प्रसार करना था"। सन् 1800 में लॉर्ड वेलेजली ने कम्पनी के असैनिक अधिकारियों की शिक्षा के लिए फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। राजा राममोहन राय ने कलकत्ता मदरसे व बनारस संस्कृत कॉलेज खोलने के सरकार के प्रयासों की कटु आलोचना की। उनका विचार था कि संस्कृत विद्या से विद्यार्थियों को केवल आध्यात्मवाद का ज्ञान होगा, जोकि व्यावहारिक रूप में अधिक उपयोगी नहीं होगा। वे पश्चिम के आधुनिक विज्ञान एवं तर्कवाद का प्रसार करने वाली शिक्षा के हिमायती थे जो भारतीयों में वैज्ञानिक मानसिकता को जन्म देगी।

मैकाले का शिक्षा सिद्धांत, 1835

तत्कालीन लोक शिक्षा की सामान्य समिति में 10 सदस्य थे। यह समिति दो गुटों में विभाजित थी। एक गुट प्राच्य विद्या (Orientalist) समर्थक था जिसके नेता एच.टी. प्रिसेंप थे, दूसरी ओर आंग्ल गुट (Anglicist) था जो अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम के रूप में समर्थन देता था। 2 फरवरी, 1835 ई. को लॉर्ड मैकाले ने अपना पक्ष कार्यकारिणी परिषद् के सम्मुख रखा। मैकाले ने आंग्ल दलों का समर्थन किया। उसने भारतीय शिक्षा और साहित्य पर अपने विचार इन तिरस्कृत शब्दों में व्यक्त कियें- "यूरोप के एक अच्छे पुस्तकालय की एक अलमारी का एक कक्ष, भारत और अरब के समस्त साहित्य से अधिक मूल्यवान है।" अंग्रेजी भाषा की महत्ता के पुलिन्दे उसने इन शब्दों में बाँधे- "जो कोई यह भाषा जानता है उसको उस महान बौद्धिक ज्ञान जिसे संसार के सबसे बुद्धिमान राष्ट्रों ने उत्पन्न किया है और गत 90 पीढ़ियों से हस्तान्तरित किया है। उसको सुगमता से उपलब्ध करने की शक्ति पहले ही प्राप्त है।" दरअसल मैकाले का उद्देश्य पुरूषों की एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न करना था जो "रक्त और रंग से भारतीय हों", परन्तु अपनी प्रवृत्ति, विचार, नैतिक मापदण्ड और प्रज्ञा से अंग्रेज हों अर्थात् वह ब्राउन रंग के अंग्रेज बनाना चाहता था जो कम्पनी के निम्न स्तरीय कार्यभार को सँभाल सकें, वैसे भी मैकाले का उद्देश्य जनसाधारण को शिक्षित करना नहीं था। उसे ज्ञात था कि सीमित साधनों से समस्त जनता को शिक्षित करना असम्भव है। उसका विश्वास था कि अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग एक 'दुभाषिया श्रेणी' के रूप में कार्य करेंगे और इस प्रकार पाश्चात्य विज्ञान तथा साहित्य का ज्ञान जनसाधारण तक पहुंच जायेगा। इस प्रकार मैकाले के इस सिद्धांत का प्राकृतिक परिणाम भारतीय भाषाओं को अंग्रेजी भाषा के सहायक के रूप में बढावा देना था। इसके अलावा अंग्रेजी भाषी लोग अपनी मानसिकता एवं आचार व्यवहार में अंग्रेजी साम्राज्य के दूत के रूप में भी कार्य करेंगे।

वुड का डिस्पैच, 1854

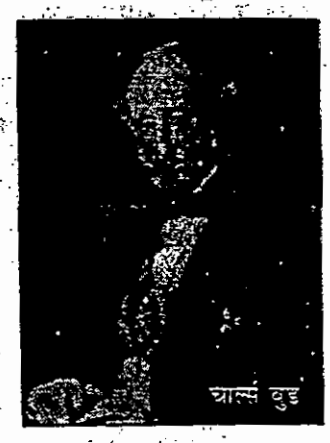

सर चार्ल्स वुड अंग्रेजी इतिहास के पामस्टर्न युग की सच्ची उपज थे। उन्होंने 1854 में भारत की भावी शिक्षा के लिए एक वृहत् योजना बनाई जिसमें अखिल भारतीय आधार पर शिक्षा की नियामक पद्धति का गठन किया गया। इसे प्रायः 'भारतीय शिक्षा का मैग्नाकार्टा' कहा जाता है। इसकी प्रमुख सिफारिशों में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार करना, उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बनाना, गाँवों में देशी भाषाई प्राथमिक शालाओं की स्थापना करना तथा महिला शिक्षा को समर्थन दिया जाना था। वुड के पत्र की सभी सिफारिशें लागू कर दी गई, पुरानी शिक्षा परिषद और लोक शिक्षा समिति की जगह 1855 में लोक शिक्षा विभाग स्थापित कर दिया गया। मुख्यतः बेथून के सुप्रयासों से कुछ महिला पाठशालाओं की स्थापना भी की गई।

हण्टर शिक्षा आयोग, 1882-83

1882 में शिक्षा की प्रगति की समीक्षा करने के लिये डब्ल्यू-डब्ल्यू हण्टर की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया गया। इसका कार्यक्षेत्र में विश्वविद्यालय नहीं था। यह प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा तक सीमित था। इस आयोग ने सभी प्रान्तों में व्यापक भ्रमण किया और प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के संदर्भ में अनेक सुझाव दिये। आयोग ने सुझाव दिया कि सरकार को प्राथमिक शिक्षा के सुधार और विकास की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। माध्यमिक शिक्षा के संदर्भ में आयोग का सुझाव था कि इसके दो खण्ड हों। एक में साहित्यिक शिक्षा जो विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा के लिये विद्यार्थी तैयार करें और दूसरी व्यावहारिक ढंग की जो विद्यार्थियों को व्यावसायिक तथा व्यापारिक जीवन के लिये तैयार करें इस आयोग के सुझावों के पश्चात् आने वाले 20 वर्षों में माध्यमिक और कॉलेज शिक्षा का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। जहाँ 1881-82 में माध्यमिक पाठशालाओं की संख्या 3,916 तथा इनमें अध्ययनरत् छात्रों की संख्या 2,14,077 थी, वहीं 1901-02 तक माध्यमिक पाठशालाओं की संख्या 5,124 तथा छात्रों की संख्या 5,90,129 हो गई।

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904

सितम्बर 1901 में कर्जन ने शिमला में समस्त भारत के उच्चतम शिक्षा और विश्वविद्यालयी अधिकारियों का एक सम्मेलन आयोजित कराया। सम्मेलन के उद्घाटन भाषण में कर्जन ने कहा "हम लोग यहां शिक्षा की एक पूर्णतया नई योजना बनाने और जनसाधारण पर इच्छा से अथवा अनिच्छा से उन पर लादने के लिये एकत्रित नहीं हुये हैं" लेकिन कालान्तर में यह स्पष्ट हो गया कि उसने जो चाहा वह किया। तत्पश्चात् एक आयोग सर टॉमस रैले की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया जिसका उद्देश्य विश्वविद्यालयी शिक्षा का अनुमान लगाना था। परिणामस्वरूप सन् 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम की विधान परिषद के अन्दर और बाहर राष्ट्रवादी तत्वों ने कटु आलोचना की। इसका कारण यह था कि इस अधिनियम द्वारा विश्वविद्यालयों पर सरकार का नियंत्रण बढ़ा

दिया गया और सरकार को सीनेट द्वारा पारित प्रस्तावों पर निषेधाधिकार दिया गया। साथ ही इस अधिनियम द्वारा अशासकीय कॉलेजों पर सरकारी नियंत्रण स्थापित कर दिया गया। सन् 1917 में नियुक्त सैडलर आयोग ने भी इस अधिनियम पर अपनी बेबाक टिप्पणी में इस तथ्य को स्वीकार किया कि 1904 के अधिनियम से भारतीय विश्वविद्यालय पूर्णतया सरकारी विश्वविद्यालय बन गये थे।

शिक्षा प्रस्ताव, 1913

बड़ौदा जैसी प्रगतिशील रियासत ने 1906 में अपने यहाँ अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आरम्भ कर दी थी। इससे प्रेरित होकर राष्ट्रवादी तत्व भी सरकार से यह अपेक्षा करने लगे कि ब्रिटिश सरकार समस्त भारत में ऐसा ही करें। सरकार ने 21 फरवरी, 1913 को एक प्रस्ताव पारित किया। इसमें सरकार द्वारा अनिवार्य शिक्षा के सिद्धांत को तो स्वीकार नहीं किया गया, अपितु निरक्षरता समाप्त करने की नीति को अवश्य स्वीकार किया गया। प्रान्तीय सरकारों को प्रेरित किया गया कि वे समाज के निर्धन तथा पिछड़े तबकों को निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा देने का प्रबन्ध करें।

सैडलर विश्वविद्यालय आयोग, 1917-1919

सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की सम्भावनाओं पर रिपोर्ट के लिये डॉक्टर एम.ई. सैडलर, जो लीड्स विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे, की अध्यक्षता में सन् 1917 में एक आयोग नियुक्त किया। इस आयोग के सदस्य दो भारतीय डॉक्टर आशुतोष मुखर्जी और डॉक्टर जियाउद्दीन अहमद भी थे, इस आयोग का यह मत था कि यदि विश्वविद्यालय की शिक्षा का सुधार करना है, तो माध्यमिक शिक्षा का सुधार आवश्यक है, आयोग ने सिफारिश की कि स्कूली शिक्षा 12 वर्ष की होनी चाहिये और विद्यार्थियों को हाईस्कूल के पश्चात् नहीं, अपितु उत्तर माध्यमिक परीक्षा के पश्चात् विश्वविद्यालय में प्रवेश होना चाहिये। महिला शिक्षा के लिये सुविधाओं का प्रसार होना चाहिये और कलकत्ता विश्वविद्यालय में महिलाओं की शिक्षा के लिये एक विशेष बोर्ड बनना चाहिए। सन् 1916 से 1921 के बीच कई नये विश्वविद्यालय मैसूर, पटना, बनारस, अलीगढ़, ढाका, लखनऊ और उस्मानिया (हैदराबाद) अस्तित्व में आये।

हर्टोग समिति, 1929

सन् 1929 में भारतीय परिनियत आयोग ने सर फिलिप हर्टोग की अध्यक्षता में एक सहायक समिति नियुक्त की, जिसे शिक्षा के विकास पर रिपोर्ट देने को कहा गया, इस समिति ने प्राथमिक शिक्षा के राष्ट्रीय महत्व पर बल दिया, परन्तु शीघ्र प्रसार अथवा अनिवार्यता की निन्दा की तथा सुधार और एकीकरण की नीति की सिफारिश की। विश्वविद्यालयी शिक्षा की दुर्बलताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया गया और विवेकहीन प्रवेशों की आलोचना की गई।

वर्धा योजना, 1937

सन् 1937 में महात्मा गांधी ने अपने पत्र 'द हरिजन' में लेखों की एक शृंखला प्रकाशित की और एक शिक्षा योजना का प्रस्ताव किया, जिसे मौलिक अथवा आधार शिक्षण अथवा 'वर्धा योजना' की संज्ञा दी गई । इसने अध्यापकों

के प्रशिक्षण, पर्यवेक्षण, परीक्षण तथा प्रशासन के सुझाव भी दिये। योजना का मूलभूत सिद्धांत 'हस्त उत्पादक कार्य' था, जिससे शिक्षकों के वेतन का भी प्रबन्ध हो जाता। द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ होने और मंत्रीमण्डलों के त्यागपत्र देने से यह योजना खटाई में पड़ गई।

सार्जेण्ट योजना, 1944

केन्द्रीय शिक्षा मंत्रणा मण्डल ने सन् 1944 में एक राष्ट्रीय शिक्षा योजना तैयार की, जिसे प्रायः 'सार्जेण्ट योजना' कहा जाता है। इस योजना के अनुसार देश में प्राथमिक विद्यालय, उच्च माध्यमिक विद्यालय स्थापित करने थे और 6 से 11 वर्ष के बच्चों के लिये व्यापक, निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा दिये जाने की योजना थी।

राधाकृष्णन् आयोग, 1948-49

नवम्बर 1948 में सरकार ने डॉक्टर राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया, जिसे विश्वविद्यालयी शिक्षा पर अपनी रिपोर्ट देनी थी। अगस्त 1949 में दी गई रिपोर्ट की मुख्य सिफारिशों में विश्वविद्यालय पूर्व 12 वर्ष का अध्ययन, विश्वविद्यालयों में परीक्षा दिनों के अतिरिक्त कम से कम 180 दिन पढ़ाई जो 11-11 सप्ताहों के तीन सत्रों में बँटी होनी चाहिए। प्रशासनिक सेवाओं के लिये विश्वविद्यालय की स्नातक उपाधि आवश्यक नहीं होनी चाहिये तथा एक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग बनाया जाए, जो देश में विश्वविद्यालय शिक्षा की देखरेख करें।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, 1953

राधाकृष्णन् आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिये सन् 1953 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग बना दिया गया, इसे संसद के अधिनियम द्वारा एक स्वायत्तापूर्ण संस्था का पद दे दिया गया। इसके लिये सरकार पर्याप्त धन व्यवस्था करती है।

कोठारी शिक्षा आयोग, 1964-66

जुलाई 1964 एक आयोग डॉ. डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया। इसने सरकार को शिक्षा के सभी पक्षों तथा प्रक्रमों के विषय में राष्ट्रीय नमूने की रूप रेखा, साधारण सिद्धांत तथा नीतियों की रूपरेखा बनाने का आदेश दिया था। आयोग ने यह स्वीकार किया कि शिक्षा तथा अनुसंधान, दोनों ही देश की समस्त आर्थिक, सांस्कृतिक तथा आत्मिक विकास तथा प्रगति के निर्णायक हैं। इसने वर्तमान पद्धति की कठोरता की आलोचना की और शिक्षा नीति में लचीलेपन की आवश्यकता पर बल दिया।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986

नव घोषित राष्ट्रीय शिक्षा नीति का उद्देश्य हमारे गतिहीन समाज को ऐसे गतिशील समाज में परिवर्तित करना है, जिसमें विकास तथा परिवर्तन के लिये वचनबद्धता हो। इस नीति के प्रमुख लक्ष्यों में सन् 2000 तक 36 प्रतिशत साक्षरता

को बढ़ाकर 56 प्रतिशत कर देना, प्राथमिक शिक्षा को सर्वव्यापी बनाना उच्चतर माध्यमिक शिक्षा को व्यावसायिक बनाना नवोदय विद्यालयों की स्थापना तथा विद्यार्थियों के मन में धर्म-निरपेक्षता, देश की एकता तथा अखण्डता के प्रति वचनबद्धता के भाव विकसित करना था।

भारत में शिक्षा का विकास त्वरित गति से हो रहा है, किन्तु अभी भी लगभग आधी जनसंख्या निरक्षरता के अंधेरे में भटक रही है। उच्च शिक्षा में गुणवत्ता की गिरावट चिन्ता का विषय है। सरकार की भूमिका में अभी पूर्ण रूप से प्रतिबद्धता नजर नहीं आती, अन्यथा प्राइमरी विद्यालयों की आज दयनीय स्थिति नहीं होती। सार्वभौमिक शिक्षा का लक्ष्य प्रारंभिक शिक्षा को अनिवार्य कर उसके क्रियान्वयन की ओर दृढ़ता के साथ कदम बढ़ाना समय की आवश्यकता है। यदि अगले 5 वर्षों में लगभग पूर्ण साक्षरता और उच्च शिक्षा की गुणवत्ता में यथेष्ट सुधार के लिये लक्ष्य प्राप्त नहीं किये गये, तो भारत विकास की दौड़ में अन्य देशों से पिछड़ जायेगा। आशा है हम इस दिशा में और अधिक प्रतिबद्धता हेतु अग्रसर होंगे।

भारत में समाचार पत्रों का इतिहास

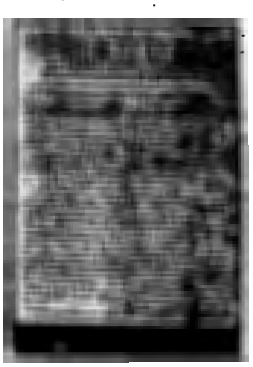

यूरोपीय लोगों के भारत में प्रवेश के साथ ही समाचारों एवं समाचार पत्रों के इतिहास की शुरूआत होती है। भारत में प्रिंटिंग प्रेस लाने का श्रेय पुर्तगालियों को दिया जाता है। 1557 में गोवा के कुछ पादरी लोगों ने भारत की पहली पुस्तक छापी। 1684 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी भारत में प्रिंटिंग प्रेस (मुद्रणालय) की स्थापना की । भारत में पहला समाचार पत्र कम्पनी के एक असंतुष्ट अधिकारी विलियम वोल्ट्स ने 1766 में निकालने का प्रयास किया, पर असफल रहा। भारत में प्रथम समाचार पत्र निकालने का श्रेय 'जेम्स ऑगस्ट्स हिक्की' को मिला। इसने 1780 में बंगाल गजट (Bengal Gazette) का प्रकाशन किया, किन्तु कम्पनी सरकार की आलोचना के कारण उसका प्रेस जब्त कर लिया गया। इस दौरान कुछ अन्य अंग्रेजी अखबारों का प्रकाशन हुआ, जैसे बंगाल से कलकत्ता कैरियर, एशियाटिक मिरर, ओरियंटल स्टार, मद्रास से मद्रास कैरियर, मद्रास गजट, बम्बई से हेराल्ड, बांबे गजट आदि। 1818 में ब्रिटिश व्यापारी जेम्स बर्किंघम ने 'कलकत्ता जनरल' का संपादन किया। बर्किंघम ही वह पहला प्रकाशक था जिसने प्रेस को जनता के प्रतिबिम्ब के स्वरूप में प्रस्तुत किया। प्रेस का आधुनिक रूप उसकी ही देन है। हिक्की तथा बर्किंघम का पत्रकारिता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इन दोनों ने तटस्थ पत्रकारिता एवं स्वतन्त्र लेखन का उदाहरण प्रस्तुत कर पत्रकारों को पत्रकारिता की ओर आकर्षित किया।

HICKY'S
BENGAL GAZETTE
Calcutta General Advertiser.

पहला भारतीय अंग्रेजी समाचार पत्र 1816 में कलकत्ता से गंगाधर भट्टाचार्य द्वारा 'बंगाल बजट' नाम से निकाला गया, जो साप्ताहिक समाचार पत्र था। 1818 में मार्शमैन के नेतृत्व में बंगाली भाषा में 'दिग्दर्शन' मासिक पत्र प्रकाशित हुआ। यह अल्पकालिक सिद्व हुआ। इसी समय मार्शमैन के संपादन में एक साप्ताहिक समाचार पत्र 'समाचार दर्पण'

प्रकाशित किया गया। 1821 में बंगाली भाषा में साप्ताहिक समाचार पत्र 'संवाद कौमुदी' का प्रकाशन हुआ। इस समाचार पत्र का प्रबन्धन राजा राममोहन राय के हाथों में था। राजा राममोहन राय ने गतिशील सामाजिक तथा धार्मिक विचारों के प्रसार हेतु स्वरूप समाचार पत्र 'चंद्रिका' का मार्च 1822 में प्रकाशन किया। इसके अतिरिक्त राय ने अप्रैल 1822 में फारसी भाषा में 'मिरातुल अखबार' एवं अंग्रेजी भाषा में 'ब्राह्मनिकल मैगजीन' का प्रकाशन किया।

समाचार पत्र पर लगने वाले प्रतिबन्ध के अन्तर्गत 1799 में वेलेजली द्वारा पत्रों का पत्रेक्षण अधिनियम (The Censorship of the Press Act), जान एडम्स द्वारा 1823 में अनुज्ञप्ति नियम (The Licensing Regulations Act of 1823) लागू किये गये। एडम्स द्वारा समाचारों पर लगाये प्रतिबन्ध के कारण राजा राममोहन राय का 'मिरातुल अखबार' बन्द हो गया।

1830 में राजा राममोहन राय, द्वारका नाथ टैगोर एवं प्रसन्न कुमार टैगोर के प्रयासों से बंगाली भाषा में 'बंगदत्त' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। बम्बई से 1831 में गुजराती भाषा में, 'जामे जमशेद' का 1851 में, 'रास्त गोफ्तार' एवं 'अखबारे सौदागर' का प्रकाशन हुआ।

लॉर्ड विलियम बेंटिक प्रथम गवर्नर जनरल था, जिसने प्रेस की स्वतन्त्रता के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया। कार्यवाहक गवर्नर जनरल 'चार्ल्स मेटकॉफ' ने 1823 के प्रतिबन्ध को हटा कर समाचार पत्रों को मुक्ति दिलायी। इसे भारतीय समाचार पत्रों को 'मुक्तिदाता' भी कहा जाता है। मैकाले ने भी प्रेस की स्वतन्त्रता का समर्थन किया।

1857-58 के विद्रोह के बाद भारत में समाचार पत्रों को भाषाई आधार के बजाय प्रजातीय आधार पर विभाजित किया गया। अंग्रेजी समाचार पत्रों एवं भारतीय समाचार पत्रों के दृष्टिकोण में अंतर होता था। जहाँ अंग्रेजी समाचार पत्रों को भारतीय समाचार पत्रों की अपेक्षा ढेर सारी सुविधायें उपलब्ध थी, वहीं भारतीय समाचार पत्रों पर बहुत सी शर्तें आरोपित की जाती थीं।

उन्नीसवी सदी के अन्तिम चरण में अंग्रेजों द्वारा सम्पादित कुछ महत्वपूर्ण समाचार पत्र इस प्रकार थे -

समाचार पत्र	स्थान	वर्ष
टाइम्स ऑफ इंडिया	बम्बई	1861
स्टेटसमैन	कलकत्ता	1878
इंगलिशमैन	कलकत्ता	
फ्रैंड ऑफ इंडिया	कलकत्ता	
मद्रास मेल	मद्रास	1868
पायनियर	इलाहाबाद	1876
सिविल एण्ड मिलिटरी गजट	लाहौर	

1857 में हुए विद्रोह के परिणामस्वरूप सरकार ने 1857 का लाईसेंसिंग एक्ट लागू कर दिया। इस एक्ट के आधार पर बिना सरकारी लाइसेंस के छापाखाना स्थापित करने एवं उसके प्रयोग करने पर रोक लगा दी गई, यह मात्र एक वर्ष तक लागू रहा।

1867 के पंजीकरण (Registration) अधिनियम का उद्देश्य था छापाखानों को नियमित करना। अब हर मुद्रित पुस्तक एवं समाचार पत्र के लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि वे उस पर मुद्रक, प्रकाशक एवं मुद्रण स्थान का नाम डाले। पुस्तक के छपने के बाद निःशुल्क एक प्रति स्थानीय सरकार को देनी होती थी। वहाबी आन्दोलन से जुड़े लोगों द्वारा सरकार विरोधी लेख लिखने के कारण सरकार ने भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124 में 124-क जोड़ कर ऐसे लोगों के लिए आजीवन निर्वासन, अल्प निर्वासन व जुर्माने की व्यवस्था की।

1857 में विद्रोह के बाद भारतीय समाचार पत्रों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई और अब वे अधिक मुखर होकर सरकार के आलोचक बन गये । इसी समय बड़े भयानक अकाल से लगभग 60 लाख लोग काल के ग्रास बन गये थे, वहीं दूसरी ओर जनवरी 1877 में दिल्ली में हुए दरबार पर सरकार ने पानी की तरह पैसा बहाया। परिणामस्वरूप लिटन की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के खिलाफ भारतीय अखबारों ने आग उगलना शुरू कर दिया। लिटन ने 1878 में "देशी भाषा समाचार पत्र अधिनियम" (The Vernacular Press Act, 1878) द्वारा भारतीय समाचार पत्रों को सीधे नियंत्रण में लेना चाहा। इस अधिनियम से भारतीय समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई। 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' तत्कालीन लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी समाचार पत्रों 'सोम प्रकाश' को लक्ष्य कर लाया गया या कहा जा सकता है कि यह अधिनियम मात्र सोम प्रकाश पर ही लागू हो सका। सोम प्रकाश ने बंगाल में हुए नील आंदोलन के समय किसानों के हितों का समर्थन किया था। कालान्तर में इस अधिनियम के अन्तर्गत सोम प्रकाश, भारत मिरर, ढाका प्रकाश, सहचर आदि के खिलाफ़ मुकदमें चलाये गये। इस अधिनियम के तहत समाचार पत्रों को न्यायालय में अपील का कोई अधिकार नहीं था। 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' को मुँह बन्द करने वाला अधिनियम भी कहा गया। इस घृणित अधिनियम को लॉर्ड रिपन ने 1882 में रद्द कर दिया। लॉर्ड कर्जन के द्वारा बंगाल विभाजन के कारण देश में उत्पन्न अशान्ति तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में चरमपंथियों के बढ़ते प्रभाव के कारण अखबारों के द्वारा सरकार की आलोचना का अनुपात बढ़ने लगा, अतः सरकार ने इस स्थिति से निपटने के लिए 1908 का समाचार पत्र अधिनियम लागू किया। इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि जिस अखबार के लेख से हिंसा व हत्या को प्रेरणा मिलेगी, उसके छापाखाने व सम्पत्ति को जब्त कर लिया जायेगा। अधिनियम में दी गई नई व्यवस्था के अन्तर्गत 15 दिन के भीतर उच्च न्यायालय में अपील की सुविधा दी गई। इस अधिनियम द्वारा 9 समाचार पत्रों के विरूद्ध मुकदमें चलाये गये एवं 7 के मुद्रणालय को जब्त करने का आदेश दिया गया।

1910 के भारतीय समाचार पत्र अधिनियम में यह व्यवस्था थी कि समाचार पत्र के प्रकाशक को कम से कम 500 रूपये और अधिक से अधिक 2000 रूपया पंजीकरण जमानत के रूप में स्थानीय सरकार को देना होगा। इसके साथ ही सरकार को पंजीकरण समाप्त करने एवं जमानत जब्त करने का अधिकार होगा तथा दुबारा पंजीकरण के लिए प्रकाशक को 1000 रूपया से 10,000 रूपया तक की जमानत लेने का अधिकार था। इसके बाद भी यदि समाचार पत्र

सरकार की नजर में किसी आपत्तिजनक सामग्री को प्रकाशित करता है तो सरकार के पास उसके पंजीकरण को समाप्त करने एवं अखबार की समस्त प्रतियाँ जब्त करने का अधिकार होगा। अधिनियम के शिकार समाचार पत्र 2 महीने के अन्दर स्पेशल ट्रिब्यूनल के पास अपील कर सकता था।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय 'भारतीय सुरक्षा अधिनियम' पास कर राजनैतिक आंदोलन एवं स्वतन्त्र आलोचना पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। 1921 में सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक 'प्रेस कमेटी' नियुक्त की गई, समिति के ही सुझावों पर 1908 और 1910 के अधिनियमों को समाप्त किया गया। 1931 में 'इंडियन प्रेस इमरजेंसी एक्ट' लागू हुआ। इस अधिनियम द्वारा 1910 के प्रेस अधिनियम को पुनः लागू कर दिया गया। इस समय गाँधी जी द्वारा चलाये गये सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रचार को दबाने के लिए इस अधिनियम से सरकार को अधिक शक्ति प्राप्त हो गई। 1932 में 1931 के अधिनियम को विस्तृत कर 'क्रिमिनल अमेंडमेंट एक्ट' अथवा 'आपराधिक संशोधित अधिनियम' लागू किया गया। मार्च 1947 में भारत सरकार ने 'प्रेस इन्क्वायरी कमेटी' की स्थापना समाचार पत्रों से जुड़े हुए कानून की समीक्षा के लिए किया।

भारत में समाचार पत्रों एवं प्रेस के इतिहास के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि जहां एक ओर वेलेजली, लिटन, लॉर्ड कैनिंग तथा लॉर्ड लिटन जैसे भारतीय शासकों ने प्रेस की स्वतन्त्रता का दमन किया, वहीं दूसरी ओर लॉर्ड विलियम बेंटिक, लॉर्ड हेस्टिंग्स, चार्ल्स मेटकॉफ, मैकाले एवं लॉर्ड रिपन जैसे लोगों ने प्रेस की आजादी का समर्थन किया।

राजा राम मोहन राय को 'भारतीय पत्रकारिता का जनक' कहा जाता है तथा 'हिन्दू पैट्रियाट' के सम्पादक क्रिस्टो दास पाल 'भारतीय पत्रकारिता का राजकुमार' के रूप में जाने जाते हैं।

❖❖❖❖❖

विशेष सामग्री
(20 शब्द)

त्यौहार एवं मेला

त्यौहारों में मनुष्य की भावनात्मक अभिव्यक्ति होती है। भारतीय जनमानस एवं संस्कृति भावुकता और विविधता से सदैव परिपूर्ण रही है। यही कारण है कि हमारे देश की सांस्कृतिक-विशिष्टता संकुचित या संकीर्ण नहीं वरन् वृहद् एवं बहुआयामी है।

हमारे देश में विविध सम्प्रदाय तथा धर्म के लोग रहते हैं इसी कारण यहां तमाम तरह के त्यौहार एवं पर्वों का समय-समय पर आयोजन होता रहता है जिनमें से प्रमुख त्यौहारों एवं पर्वों का विवरण इस प्रकार है -

- **महाशिवरात्रि** - यह त्यौहार हिन्दू धर्म के विशिष्ट देवता भगवान शिव की पूजा के निमित्त मनाया जाता है। कहते हैं इसी दिन भगवान शंकर का विवाह भी हुआ था। इस दिन भगवान शंकर के भक्त उनकी पूजा-अर्चना करके भांग और ठंडई का सेवन भी करते हैं।
- **दुर्गापूजा** - आश्विन माह के शुक्ल पक्ष में दुर्गापूजा शारदीय नवरात्रि में मनायी जाती है। इस दिन मां दुर्गा की पूजा बड़े धूमधाम से की जाती है। मां के भक्त लोग नौ दिन देवी का व्रत रखते हैं और उनकी पूजा-अर्चना करते हैं। इन्हें आदिशक्ति माना जाता है। इनके नौ रूप माने जाते हैं। यह दुष्टों और पापियों का नाश करने वाली देवी हैं।
- **गणगौर** - यह त्यौहार राजस्थान में बसंतऋतु में पार्वती देवी की पूजा के निमित्त मनाया जाता है। इसमें विवाहित स्त्रियां अपने पति की दीर्घायु हेतु तथा कुवांरी युवतियां योग्य वर की प्राप्ति हेतु मनाती हैं।
- **तीज** - यह त्यौहार हिन्दू धर्म की विवाहित स्त्रियां अपने पति की रक्षा एवं लम्बी आयु के लिए मनाती हैं इसमें स्त्रियां व्रत रहती हैं तथा शंकर पार्वती की पूजा करती हैं।
- **गोवर्धन पूजा** - यह त्यौहार हिन्दू धर्म का है। इसे दीपावली के एक दिन बाद मनाया जाता है। इस दिन गाय के गोबर से विभिन्न आकृतियां बनाकर पूजा की जाती है। इसी दिन बहनें अपने भाइयों के हितार्थ पूजा-अर्चना करती है।

- **मकर संक्रांति** - यह पर्व हिन्दुओं का है, जिसे जनवरी महीने के मध्य में मनाया जाता है। यह पर्व सूर्य के उत्तरायण होने के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। इस दिन सूर्य देवता के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की जाती है। इसे कई रूपों में मनाया जाता है। उत्तर भारत में खिचड़ी, पंजाब में लोहड़ी, महाराष्ट्र में तिलगुड़, असम में बिहू और दक्षिण भारत में पोंगल के रूप में मनाया जाता है।
- **ओणम** - यह केरल का महत्वपूर्ण त्यौहार है। इसे राजा बलि के सम्मान में मनाया जाता है। यह अगस्त-सितम्बर में मनाया जाता है। केरल में इसे धूमधाम और पवित्रता से मनाया जाता है।
- **वैशाखी** - यह वैशाख के प्रथम दिन को मनाया जाता है। हिंदुओं का नया वर्ष यहीं माना जाता है। सिख धर्म के 10वें गुरू गोविन्द सिंह ने इसी दिन 1699 ई में 'खालसा पंथ' की स्थापना की थी इसलिए सिखों का एक पवित्र त्यौहार है।
- **रक्षा बंधन** - यह त्यौहार श्रावण माह के पूर्ण चन्द्रमा के दिन मनाया जाता है जो प्रायः अगस्त के महीने में पड़ता है। इस दिन बहनें अपने भाईयों की कलाइयों पर रक्षा की राखी बांधकर दीर्घायु होने की कामना करती हैं।
- **रामनवमी** - यह चैत्र नवरात्र के नौवें दिन मर्यादा पुरूषोत्तम श्री राम के जन्म दिन के मनाया जाता है। इसी दिन राजा दशरथ के पुत्र श्रीराम चन्द्र जी का जन्म हुआ था।
- **जन्माष्टमी** - यह भादों महीनें में पड़ता है। इस त्यौहार को मथुरा में भगवान श्री कृष्ण के जन्म दिन के रूप में मनाया जाता है जिसमें विदेशों से भी लोग भाग लेने आते हैं।
- **गणेश चतुर्थी** - यह हिंदू त्यौहार है जो विघ्नविनाशक गणेश भगवान के जन्म दिन के रूप में मनाया जाता है और उत्तर भारत में मनाया जाता है। यह भादों (अगस्त-सितम्बर) माह में चन्द्रमा के दिनों के चौथे दिन मनाया जाता है।
- **गुरूपर्व** - इस दिन सिख समुदाय के लोग अपने पवित्र गुरूओं का जन्म दिन मनाते हैं। सिक्ख धर्म में दस गुरू माने गये हैं जिनका जन्मोत्सव गुरू पर्व कहलाता है।
- **बुद्ध जयन्ती** - इस दिन बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था, जो कि वैशाखी पूर्णिमा (अप्रैल-मई) के दिन पड़ता है। इसी दिन बुद्ध को ज्ञान भी प्राप्त हुआ था और इसी दिन उनकी मृत्यु भी हुई।
- **महावीर जयन्ती** - जैनों के 24वें तीर्थकर महावीर स्वामी के जन्म दिवस के रूप में महावीर जयंती मनायी जाती है। यह समय मार्च-अप्रैल में पड़ता है। महावीर जैन धर्म के संस्थापक माने जाते हैं।
- **कुम्भ मेला** - यह पवित्र मेला भारत के चार स्थानों पर प्रति 12 वर्ष पर लगता है। ये स्थान हैं- प्रयाग, नासिक, उज्जैन और हरिद्वार। यह विश्वास किया जाता है कि इन स्थानों पर अमृत की बूंदें गिरी हैं। इस कारण यह पवित्र तीर्थस्थलों के रूप में विख्यात है।

- **पुष्कर मेला** - यह 'ब्रह्म' देवता का पूजा स्थल है। यह स्थान राजस्थान के अजमेर में स्थित पुष्कर झील के किनारे स्थित है जहां ब्रह्म देवता का मंदिर है। इसी झील के किनारे प्रत्येक वर्ष अक्टूबर-नवम्बर में मेले का आयोजन किया जाता है।
- **माघ मेला** - यह प्रयाग में प्रत्येक वर्ष के माघ महीने में आयोजित होने वाला मेला है। यह लगभग एक महीने चलता है। यह प्रयाग में गंगा यमुना और सरस्वती के संगम तट पर आयोजित होता है।
- **बसन्त पंचमी** - यह बसंत ऋतु के आगमन पर मनाया जाता है। इस दिन विद्या की देवी मां सरस्वती की विधि-विधान से पूजा की जाती है। विद्यार्थियों के लिये इस त्यौहार का विशेष महत्व है।
- **नाग पंचमी** - यह हिंदू धर्म का एक पवित्र पर्व है जो श्रावण (जुलाई-अगस्त) मास के पूर्ण चंद्र के पांचवें दिन मनाया जाता है। इस दिन नाग देवता की पूजा की जाती है।
- **रथयात्रा या पुरी का त्यौहार** - यह त्यौहार पुरी (उड़ीसा) में भगवान जगन्नाथ की पूजा के निमित्त बड़े धूमधाम से मनाया जाता है, इस दिन भगवान जगन्नाथ, उनके भाई बलराम और बहन सुभद्रा की मूर्तियों को बड़े रथों पर रख कर उनका जूलूस निकालते हैं।
- **विठोबा त्यौहार** - महाराष्ट्र में विठोबा की पूजा भगवान विष्णु के अवतार के रूप में की जाती है। इसे वहां के लोग व्रत रखकर मनाते हैं। यह अप्रैल, जुलाई तथा नवम्बर में मनाया जाता है।
- **पूरम** - यह केरल राज्य का पर्व है। इस दिन हाथियों की पूजा करके उनकी सवारियाँ निकाली जाती है। इस उत्सव को देखने के लिए विदेशी से भी लोग आते हैं।
- **लोहड़ी** - यह पौष महीने के अन्तिम दिन जाड़े के मौसम के अन्त के रूप में मनाया जाता है। मुख्य रूप से यह पंजाब और हरियाणा में मनाया जाता है। इस दिन आग जलाकर उसमें मिठाई, चावल इत्यादि को अर्पित किया जाता है।
- **बिहू** - यह असम में फसलों की वृद्धि और सुरक्षा के निमित्त मनाया जाने वाला पर्व है। इस अवसर पर वहां भैंसों की लड़ाई प्रसिद्ध है।
- **ईद-उल-फितर (ईद)** - यह इस्लाम धर्म का एक पवित्र त्योहार है। यह रमजान के खत्म होने पर मनाया जाता है। 30 दिन के रोजे के बाद चन्द्रमा देखकर ईद धूमधाम से मनाया जाता है।
- **शब-ए-कद्र** - यह त्यौहार पवित्र रातों के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। रमजान की पच्चीसवीं, सत्ताइसवीं और उन्नतीसवीं रात्रि में से एक रात्रि को शब-ए-कद्र के रूप में मनाया जाता है। माना जाता है कि इन रात्रियों को हजरत मोहम्मद के माध्यम से कुरान की पहली आयत प्रकट हुई थी। इसीलिए इस दिन को मुस्लिम धर्म में अत्यंत पवित्र मानकर दुआएं मांगी जाती है।
- **ईद-उल-जुहा (बकरीद)** - यह त्यौहार हज के महीने की दसवीं तारीख को मानाया जाता है। इस दिन मुस्लिम बकरे की बलि देकर उसका मांस गरीबों, मित्रों में बांटते हैं।

- **शब-ए-बारात** - यह मुसलमानों का एक पवित्र त्यौहार है जो सावन के महीने में 14वीं रात्रि को मनाया जाता है। इसे मुख्य रूप से शिया वर्ग द्वारा मनाया जाता है। इस दिन को इस्लामी वर्ष का नया वर्ष भी माना जाता है। माना जाता है कि इन रात्रियों को हजरत मोहम्मद के माध्यम से कुरान की पहली आयत प्रकट हुई थी। इसीलिए इस दिन को मुस्लिम बकरे की बलि देकर उसका मांस गरीबों, मित्रों में बांटा जाता है।
- **मुहर्रम** - इस दिन मुस्लिम मातम मनाते है। इस दिन हजरत अली और उनके पुत्र हुसैन की शहादत के रूप में मनाया जाता है। इसे मुख्य रूप से शिया वर्ग द्वारा मनाया जाता है। इस दिन को इस्लामी वर्ष का नया वर्ष भी माना जाता है।
- **क्रिसमस** - यह प्रतिवर्ष 25 दिसम्बर को पूरे विश्व के ईसाई, ईसा मसीह के जन्म दिन के रूप में मनाते हैं। इस दिन गिरजाघरों को सजाया जाता है और बच्चों तथा लोगों को तमाम तरह के उपहार बाँटे जाते हैं।
- **गुडफ्राइडे** - यह ईसाइयों द्वारा मातम के रूप में मनाया जाता है। माना जाता है कि इसी दिन ईसा मसीह को सूली पर चढ़ाया गया था।
- **ईस्टर** - यह ईसाइयों द्वारा खुशी के रूप मे मनाया जाने वाला त्यौहार है। मांना जाता है कि इस दिन ईसा मसीह पुनर्जीवित हुए थे। ईसा मसीह को शुक्रवार को सूली पर चढ़ाया गया था और वह रविवार को पुनर्जीवित हो उठे।

भारत में चित्रकला

भारतीय कलाओं में चित्रकला अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। चित्रकला केवल हमारी ऐतिहासिक विरासत ही नहीं बल्कि समसामयिक सामाजिक निर्देशक भी होते हैं। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक, भारत में चित्रकला की एक परंपरा अक्षुण्ण रही है।

- **सिन्धु घाटी की चित्रकला** - सैंधव चित्रकला के साक्ष्य, सैंधव-स्थलों के उत्खनन से प्राप्त मुहरों और मृदभाण्डों पर उत्कीर्ण मिलते हैं। सैंधव लोग मृदभाण्डों को अलंकृत करते थे। उनमें पशु-पक्षी, मानवकृतियों तथा कुछ ज्यामितीय नमूने भी बनाते थे। कुछ बर्तनों को रेखाओं, कोणों तथा वृतों से अलंकृत किया गया है।

  मुहरों पर उत्कीर्ण आकृतियां उनकी सामाजिक धार्मिक विश्वासों की ओर संकेत करती है। मुहरों पर उत्कीर्ण शिव की आकृति तथा पीपल वृक्ष उनके शैव धर्मानुयायी होने का आधार प्रस्तुत करते हैं।
- **अजंता की चित्र शैली** - महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले में स्थित अजंता प्राचीन भारतीय चित्रकला में एक महत्वपूर्ण स्थल है यहां पर विद्यमान 30 गुफाएं हैं जो कि इतिहास के विभिन्न कालों से संबंध रखती हैं। अजंता की गुफाओं में 9वीं व 10वीं गुफा सबसे प्राचीन मानी जाती है। 8वीं, 12वीं व 13वीं गुफा के चित्र अपना अस्तित्व लगभग खो चुके हैं। अजंता की गुफा में विद्यमान 17वीं गुफा में सबसे अधिक चित्र हैं। अजंता के चित्र टेम्परा स्टाइल में बनाए गए हैं। अजंता के चित्रों में जीवन के विभिन्न पहलुओं के दर्शन होते हैं। इन सभी चित्रकृतियों की पृष्ठभूमि में जीवन का धार्मिक और दार्शनिक पहलू विद्यमान है।

- **बाघ की गुफाओं के चित्र :** बाघ की गुफायें मध्य प्रदेश के ग्वालियर के पास धार जिले में विन्ध्य श्रेणी पर विद्यमान हैं। यहां कुल 9 गुफायें हैं। इनमें पहली गुफा को गृह गुफा कहा जाता है। दूसरी गुफा को पाण्डवों की गुफा कहते हैं। तीसरी गुफा को हाथीखाना कहा जाता है। इसमें बोधिसत्व के चित्र बने हैं, जिससे यह चैत्य गुण प्रतीत होता है। चौथी गुफा की प्रसिद्धि रंग महल के रूप में है। बाघ की गुफाओं में इसी गुफा में ही सर्वाधिक व सुरक्षित चित्र हैं। इनके अतिरिक्त इसके कुछ चित्र अजंता शैली से समानता रखते हैं।
- **बादामी के गुफा चित्र** - बादामी की गुफायें बम्बई में ऐहोल नामक स्थान पर स्थित हैं। यहां स्थित कुल चार गुफा मंदिर चालुक्य राजाओं द्वारा निर्मित हैं। ये गुफायें शैव धर्म से सम्बन्धित हैं। इसका निर्माण राजा कीर्ति वर्मन के समय में 578 ई. में हुआ था। इसमें एक नटराज शिव का नृत्य की मुद्रा में चित्रांकन किया गया है। दूसरे चित्र में एक विरहाकुल स्त्री का चित्र है। एक गुफा में चंवर डुलाती हुई एक सुंदर स्त्री का दृश्य है।
- **सितन्नवासल के गुफा चित्र** - सितनवासल मद्रास में तंजौर के निकट पुद्दुकोट्ट के समीप स्थित है। इन गुफाओं का निर्माण 600-650 ई. की अवधि में पल्लव नरेश महेन्द्र बर्मन और उसके पुत्र नरसिंह वर्मन ने करवाया था। ये गुफायें जैन धर्म से संबंधित हैं। इनमें एक तालाब का चित्र है जिसमें कमल खिले हुए हैं। स्तंभों पर कमल और नर्तकियां चित्रित हैं। यहां एक अर्धनारीश्वर का चित्र है जिसकी शैली अजंता व बाघ गुफाओं की शैली से मिलती-जुलती है।
- **एलोरा के गुफा चित्र** - एलोरा, महाराष्ट्र में औरंगाबाद से 30 कि.मी. तथा अजंता से लगभग 97 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। एक मील में फैले ये अद्वितीय मंदिर एक पहाड़ी को तराशकर बनाये गए हैं। इन मंदिरों का संबंध बौद्ध, ब्राह्मण और जैन तीनों धर्मों से संबंधित है। यहां का प्रसिद्ध कैलाश नाथ मंदिर राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने बनवाया था। इन मंदिरों का निर्माण काल चौथी से बारहवीं शताब्दी है।
- **एलीफैन्टा के गुफा चित्र**-एलीफैन्टा गुफा बम्बई के दक्षिण पश्चिम में एक टापू पर स्थित है। त्रिमूर्ति इस गुफा की सर्वोत्कृष्ट कृति है। यहां कुल 9 मूर्तियां हैं जो भगवान शंकर के विभिन्न रूपों तथा क्रिया-कलापों को व्यक्त करती हैं। दूसरी मूर्ति पंचमुख परमेश्वर की है, जो अद्भुत सौम्यता और शांति की प्रतीक है। तीसरी भगवान शंकर की अर्धनारीश्वर की प्रतिमा है जो कला और दर्शन के समन्वय की प्रतीक है।
- **चोल चित्रकला** - वास्तुकला तथा लक्षण कला के साथ ही चित्रकला के क्षेत्र में भी चोलों ने अभूतपूर्व योगदान दिया है। तंजौर के वृहदेश्वर मंदिर का निर्माण राजराज ने 1000 ई. में बनवाया था। एक मंदिर विजयालय चोलेश्वर की है। वृहदेश्वर मंदिर मे एक चित्र में भगवान शंकर को दो दो अप्सराओं के नृत्य को देखते हुए चित्रांकित किया गया है।
- **पाल शैली के चित्र** - 9वीं शताब्दी में पूर्वी भारत में एक नवीन शैली का आविर्भाव हुआ, जिसका केन्द्र बंगाल में था, जिसे पाल शैली कहा गया। इस शैली के संरक्षक पाल शासकों में धर्मपाल और देवपाल थे। इस शैली के प्रमुख चित्रकार धीमस और उसका पुत्र विपाल था। इस शैली का आधार महायान बौद्ध ग्रंथ प्रज्ञापारमिता आदि हैं। ये सभी चित्र ताड़-पत्र पर बनाए गए हैं। ये चित्र जातक कथाओं पर आधारित हैं।

चित्रकला की क्षेत्रीय शैलियां

- **गुजरात शैली या गुर्जर शैली**-यद्यपि इस शैली का केन्द्र गुजरात था तथापि इसका प्रसार मारवाड़, जौनपुर, अवध, पंजाब और बंगाल तक हुआ था। प्रकारान्तर से यह शैली अजंता, एलोरा और बाघ के भित्ति चित्रों की ही लघु चित्रों के रूप में प्रस्तुति थी। इसका विषय जैन धर्म से संबंधित था। चंपावती-विरहा, गीत गोविंद, लौर चंदा आदि के चित्र इस शैली के विशिष्ट नमूने हैं।
- **राजस्थानी अथवा राजपूत शैली**-राजपूत शैली के नाम से अभिहित राजस्थानी शैली का पूर्ण विकास 15वीं शताब्दी के आसपास हिन्दू परंपरा के आधार पर हुआ। इसका केन्द्र राजस्थान होने के बावजूद इसका प्रसार कन्नौज, बुंदेलखंड, काठियावाड़ तथा मगध में भी था। इस शैली में जहां एक ओर आश्रयदाता राजाओं की अभिरुचि का समावेश होता था वहीं इसमें स्थानीय प्रभाव भी कम नहीं रहा। इस शैली का मुख्य विषय रागमाला है। इस शैली के चित्रों का विषय कृष्ण लीला, नायिका भेद और बारहमासा भी रहा है।

  राजपूत शैली ने कई उपशैलियों को भी जन्म दिया जो आगे चलकर स्वतंत्र रूप से विकसित हुई। प्रमुख क्षेत्रीय शैलियां निम्नलिखित हैं।

  - **आमेर शैली**-चित्रकाला की आमेर शैली का जन्म राजा मानसिंह (1589-1614) के काल में हुआ। राजपूत शैली की पुरानी विशेषतायें इस शैली में दृष्टिगोचर होती हैं। आमेर के शाहपुर द्वार के पास कुछ छतरियों और बैराट के मानसिंह उद्यान में इस शैली का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। राधा-कृष्ण की प्रेम-गाथा, चटकीले रंगों का प्रयोग, वास्तुकला, छायांकन का अभाव तथा मुगल पृष्ठभूमि इस शैली की मुख्य विशेषतायें हैं।
  - **मेवाड़ शैली**-प्राचीन राजपूत शैली और मुगल शैली से प्रभावित मेवाड़ शैली के केन्द्र उदयपुर था। रंगों का सुव्यवस्थिति एवं सुन्दर आयोजन इस शैली की अपनी विशिष्टता है। लाल, जोगिया, केसरिया आदि इसमें प्रयुक्त विशिष्ट रंग थे। गोल चेहरा, मत्स्य नयन, मुगल शैली से प्रभावित हाथी, घोड़ों-पहाड़ों व पत्थरों का चित्रण में दक्षिण भारतीय परंपरा का निर्वाह, पुरुष पोशाक में मुगल परम्परा का कढ़ाईदार पठका तथा पगड़ियाँ, स्त्री पोशाक में पारदर्शी ओढ़नी आदि इस शैली की प्रमुख विशेषतायें हैं। रसिक प्रिया, गीत-गोविंद, सूरसागर से संबंधित कई चित्र इस शैली के अन्यतम उदाहरण हैं।
  - **बीकानेर शैली** - राजस्थानी शैली की बीकानेरी शैली को बीकानेर के राजा राय सिंह ने प्रश्रय दिया। इस शैली के चित्र विषय भागवत तथा रसिक प्रिया से लिए गए हैं। इस शैली का प्रमुख चित्रकार रुक्तुद्दीन था। इस शैली का परिपक्व रूप अनूप महल, फूलमहल तथा सुजान महल को चित्र-सज्जा में प्राप्त होता है। इस शैली की चित्रकारी में स्त्री आकृतियां दुबली-पतली, बड़ी-बड़ी आंखें और पतली कमर वाली सुंदरियों की हैं।
  - **किशनगढ़ शैली** - इस शैली को किशनगढ़ रियासत के शासक किशनसिंह ने प्रश्रय दिया था। इस शैली में कृष्ण-लीला से संबंधित चित्र दास्य भाव से चित्रित किए गए हैं। स्त्रियों के भाव-प्रवण चित्रांकन में इस

शैली के चित्रकार दक्ष थे। इस शैली में स्त्रियों की कमानीदार भौहें, यौन-सदृश्य नयन, शुव-वासिका, लयात्मक उंगलियों का चित्रण श्रृंगार-भाव से ओत-प्रोत हैं। निहालचंद द्वारा बनाई गई बनी-ठणी इस शैली का प्रसिद्ध चित्र है।

- **जोधपुर शैली** - अठारहवीं सदी में जोधपुर के शासक जसवंत सिंह के आश्रय में इस शैली का पूर्ण विकास हुआ। इस शैली के अधिकांश चित्रों के विषय राजाओं के वीरता के भव्य रूप प्रदर्शन से लिए गए हैं। इस शैली में मुगल राजपूत मिश्रित शैली का विकास परिलक्षित होता है। इस शैली में गीत गोविन्द, बेला-रा-मारू, रागमाला, बारहमासा आदि साहित्यिक कृतियों संबंधी चित्रावलियों और अनेक छवि-चित्र तैयार किए गए।
- **बूंदी शैली** - यह शैली बूँदी कला में कतिपय परिवर्तनों के साथ उदित हुई। इस शैली को राजा उम्मेद सिंह द्वारा प्रश्रय मिला। इस शैली के मुख्य विषय व्यक्ति चित्र तथा आखेट दृश्य हैं। एक चित्र में हाथियों की लड़ाई दिखाई गई है जिसमें दोनों एक-दूसरों पर क्रोधावेश में जिस नाटकीयता के साथ हमला कर रहे हैं वह अद्‌भुत है।

- **मुगल चित्रकला शैली** - भारत में मुगल चित्रकला भारतीय तथा ईरानी कला तत्वों के समिश्रण का प्रतिफल थी। इस विशिष्ट कला शैली का जन्मदाता अकबर था, जिसने दो चित्रकारों मीर सैयद अली और ख्वाजा अब्दुल समद को प्रश्रय दिया। इसके अतिरिक्त अकबर ने हिन्दू चित्रकारों को भी प्रश्रय दिया जिनमें बसावन, लाल, केशव, मुकुन्द, हरवंश तथा दसवंत इत्यादि मुख्य थे। अकबरनामा, रज्मनामा, अनवारे-सुहेली आदि कृतियां अकबरकालीन चित्रों के प्रमुख उदाहरण हैं। जहांगीर चित्रकला का इतना बड़ा पारखी था कि वह कई चित्रकारों द्वारा मिलकर बनाए गए चित्रों को देखकर उनके चित्रकारों के नाम बता सकता था। शाहजहां की अभिरुचि चित्रकला की अपेक्षा स्थापत्यकला की ओर ज्यादा थी। फिर भी उसने दैवी संरक्षण में अपनी तस्वीरें बनवाया।

  औरंगजेब के शासनकाल में चित्रकला की स्थिति में पूर्ण गिरावट आयी। यह अलग बात है कि अपने लंबे शासन काल के अंतिम समय में उसने चित्रकला में थोड़ी सी रुचि दिखाई।

- **पहाड़ी शैली** - भौगोलिक दृष्टि से भारत के अन्य क्षेत्रों की ही तरह कश्मीर, पंजाब-हिमांचल तथा उत्तरप्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में प्राचीन भारतीय चित्रकला परम्परा का संशोधित रूप विकसित होता रहा। इस शैली में राजस्थानी, मुगल तथा स्थानीय लोक तत्व का समावेश दिखाई पड़ता है। इस शैली की कई उपशैलियां हैं, जिनमें प्रमुख हैं:
  - **बूंदी शैली** - यह शैली बूँदी कला में कतिपय परिवर्तनों के साथ उदित हुई। इस शैली को राजा उम्मेद सिंह द्वारा
  - **बसौली शैली** - बसौली शैली का सबसे प्राचीन प्रमाण राजा कृपाल सिंह (17वीं सदी) के समय का प्राप्त होता है। इस शैली में सामाजिक और धार्मिक दोनों प्रकार का चित्रांकन हुआ है। धार्मिक चित्रों में भागवत पुराण, गीतगोविंद, रस मंजरी आदि ग्रंथों को आधार बनाया गया है। कई चित्र रागमालाओं पर आधारित है। भाव प्रवण कमल सदृश नयन इस शैली की एक अनूठी विशेषता है।

- **गुलेर शैली** - इस शैली का प्रादुर्भाव 18वीं सदी के प्रारम्भ में हुआ। बसौली शैली से इसकी साम्यता का प्रमाण भवन और पेड़-पौधे हैं राजा दिलीप सिंह ने इसे शैली को संरक्षण प्रदान किया था। इस शैली को नया रूप देने का श्रेय नैनसुख नाम चित्रकार को जाता है। इस शैली में स्त्री के चित्रों में भाव-प्रवणता, लावण्य तथा सौन्दर्य का संगल दृष्टिगत होता है।
- **कांगड़ा शैली** - अठारहवीं सदी में इस शैली का उद्‌भव हुआ। राजा संसार चंद्र ने इस शैली को प्रश्रय दिया। इस शैली में मुगल राजस्थान तथा कुछ अंशों मे गुलेर शैली का प्राभाव रहा है। इस शैली का मुख्य विषय प्रेम रहा है। नायक-नायिका के चित्रांकन के साथ ही इस शैली में व्यक्ति चित्रों का भी आकर्षण दिखाई देता है। इस शैली के स्त्री चित्र अधिक आकर्षक हैं। सम्पूर्ण पहाड़ी शैली में कांगड़ा शैली सर्वाधिक परिपूर्ण है।
- **जम्मू शैली** - गुलेर शैली से समानता रखने वाली जम्मू शैली को राजा बलवंत सिंह ने प्रश्रय दिया। इस शैली के अधिकांश चित्र राजाओं के व्यक्ति चित्र हैं कुछ चित्र रामायण, दशावतार और कृष्ण लीलाओं से भी संबंधित है। राजा बलवंत सिंह के घोड़ों का निरीक्षण तथा कत्थक नर्तकी इस शैली के उत्कृष्ण चित्र हैं।
- **चम्बा शैली** - बसौली तथा गुलेर शैली से प्रभावित इस शैली को राजा राज सिंह का संरक्षण मिला। इस शैली के विषय धार्मिक तथा नायिका भेद से संबंधित हैं। बार्डर में बेलबूटों से सजावट की गई है।

चित्रकला की अन्य शैलियां

- **दक्कन शैली** - इस शैली को बीजापुर के अली आदिल शाह और उनके उत्तराधिकारी इब्राहीम शाह का संरक्षण मिला। रागमाला के चित्रों का चित्रांकन इस शैली मे विशेष रूप से किया गया है। इसके प्रारम्भिक चित्रों पर फारसी चित्रकला का प्रभाव एवं वेशभूषा पर उत्तर भारतीय शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है।
- **सिक्ख शैली** - इस शैली का विकास लाहौर में महाराजा रणजीत के शासनकाल में हुआ। इस शैली के विषय पौराणिक महाकाव्यों से लिए गए हैं, जबकि इसका स्वरूप पूर्णतः भारतीय है। इस शैली में भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं से संबंधित रागमाला के चित्रों की प्रधानता है।
- **गढ़वाल शैली** - इस शैली का प्रसार मध्यकालीन गढ़वाल राज्य में हुआ। गढ़वाल राज्य के नरेश पृथ्वीपाल शाह के राजदरबार में रहने वाले दो चित्रकारों शामनाथ तथा हरनदास ने इस शैली का प्रवर्तन किया। इस शैली में प्राकृतिक दृश्यों, पशु-पक्षियों आदि मनोहारी चित्रांकन किया गया है।

आधुनिक भारत के प्रमुख चित्रकार

- **नन्दलाल बोस** - यह बंगाल के प्रसिद्ध चित्रकार थे। इन्हें बंगाल में चित्रकला शुरू करने का श्रेय जाता है। इन्हें अवनीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित ओरिएन्टल आर्टस की पहली छात्रवृत्ति मिली थी। उमा की तपस्या, सती, गांधी की दांडी यात्र उनके प्रसिद्ध चित्र हैं।

- **राजा रवि वर्मा** – इन्हें आधुनिक भारतीय चित्रकला के पिता कहा जाता है। यह केरल के राजा थे। इन्होंने अपने चित्रों में तैल रंगों का प्रयोग किया था।
- **अवनीन्द्रनाथ टैगोर** – ये कलकत्ता के ठाकुर परिवार और रवींद्रनाथ टैगोर के भतीजे थे। इन्होंने 'इंडियन सोसाइटी ऑफ ओरियंटल आर्ट्स' की स्थापना की, इन्होंने राजपूत और मुगल शैली का गंभीर अध्ययन किया और अपनी स्वतंत्र चित्रशैली विकसित की। इनके प्रसद्धि चित्रों में है–भारत माता, बुद्ध जन्म, गणेश जननी, तिष्यरक्षिता, ताजमहल इत्यादि।
- **रवींद्रनाथ टैगोर** – रवींद्रनाथ टैगोर भारतीय पुनर्जागरण और राष्ट्रीय आंदोलन को वैचारिक चेतना प्रदान करने वालों में से एक थे। इन्होंने 'शांति निकेतन' की स्थापना की जिसे विश्व भारती के नाम से जाना जाता है। इन्होंने 'गीतांजली' की रचना की, जिसके अंग्रेजी अनुवाद को 1913 में नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया। यह एक चित्रकार होने के साथ-साथ कवि और द्रष्टा भी थे।
- **अमृता शेरगिल** – अमृता शेरगिल ने भारतीय चित्रकला के स्तंभ के रूप में जाने जाते हैं जिन्होंने चित्रकला को आधुनिकता की ओर मोड़ दिया था। इनके गुरू प्रसिद्ध चित्रकार सीमो और गोगां थे। इन्होंने भारतीय चित्र शैलियों भित्ति चित्रों और पश्चिम की आधुनिक कला की प्रवृत्तियों का सामंजस्य करके, चित्रकला को नया आयाम दिया।
- **यामिनी राय** – यह बंगाल के प्रसिद्ध चित्रकार थे। इन्होंने संथाल आदिवासियों के चित्रण में काफी रुचि दिखाई है। इन्होंने ईसा का शीर्ष आदि प्रसिद्ध चित्र बनाये हैं।
- **शारदा चारण उकील** – इस प्रसिद्ध चित्रकार ने शारदा कला केन्द्र की स्थापना की थी। विरहिणी सीता इनकी महत्वपूर्ण कलाकृति है।
- **इसित कुमार हालदार**–इन्होंने अपने चित्रों में पौराणिक कथाओं का अंकन किया हैं। इनके चित्रों की एक प्रमुख विशेषता रही है, भावनात्मक विषयों का चित्रण भौतिकवादी पद्धति से करना।
- **जगन्नाथ मुरलीधर अहिवासी** – यह प्रसिद्ध चित्रकार रहे हैं तथा राजपूत शैली की चित्रकला से काफी प्रभावित रहे। भित्ति चित्र निर्माण में इनकी गहरी रुचि थी। प्रेम संदेश मीरा के प्रयाण इनके प्रसिद्ध चित्र हैं।
- **रवि शंकर रावल** – चित्रकला की गुजरात शैली के क्षेत्र में इन्होंने नये प्रयोग किये थे। घोड़ा और टोकरेवाली वाली स्त्री नामक इनके चित्र प्रसिद्ध हैं।
- **भवेश सान्याल** – ये विशेषज्ञ तौर पर प्राकृतिक दृश्यों के चित्रकार हैं। कश्मीर और कांगड़ा की घाटियों के प्राकृतिक चित्रण इनकी विशेषता है। इसके आलावा इनके चित्र सामाजिक समस्याओं और त्रासदियों से भी सम्बद्ध है। गोल मार्केट का भिखारी और आश्रयहीन लड़की इनके प्रसिद्ध चित्र हैं।
- **पुलिन बिहारी दत्त** – यह बंगाल के एक प्रयोगवादी चित्रकार हैं। इन्होंने नव्य बंगाल कला शैली का प्रयोग किया और अपने चित्रों में हल्मी रेखाओं तथा धुंधले रंगों का प्रयोग किया।

- **मुकुल चन्द्र डे** - इनकी चित्रकला की विशेषता यह है कि ये अपने चित्रों में एपिंग का प्रयोग करते हैं। चांदनी रात में खनिज वृक्ष इनके प्रसिद्ध चित्र हैं।
- **भूपेन खंखर** -ये विशेष तौर पर वाणिज्यिक कलाकार हैं। ये कैलेण्डर, चित्रित पोस्टकार्ड इत्यादि के चित्र, डिजाइनिंग वगैरह में ख्यातिलब्ध है।
- **तैय्यब मेहता**-तैय्यब जी ने रंगों और रेखाओं के माध्यम से अपने चित्रों में कई प्रयोग किया है। इन्होंने शिकार से संबद्ध कुछ विशिष्ट चित्र बनाये हैं।
- **जोगन चौधरी** - इन्होंने स्याही और जलरंगों का अपने चित्रों में विशेष प्रयोग किया है।
- **शोभा सिंह** - ये तैल चित्रों के विशेषज्ञ चित्रकार हैं। इन्होंने स्त्री-पुरुष संबंधों तथा ग्रामीण सौंदर्य का अपने चित्रों में उतारा है।
- **मनीषी डे** - ये एक प्रयोगवादी चित्रकार रहे हैं। इन्होंने रूढ़िवादिता की जगह स्वच्छन्दता को अपने चित्रों में प्रमुख स्थान दिया। पनघट की ओर, नारी श्रृंगार आदि इनके महत्वपूर्ण चित्र हैं।
- **मकबूल फिदा हुसैन** - जाने-माने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त आधुनिक भारतीय चित्रकार हैं। इन्होंने प्रगतिशील कलाकार संघ की स्थापना में प्रमुख भूमिका निभायी थी। इन्हें भारत सरकार ने 1966 में पद्मश्री और 1973 में पद्मभूषण पुरस्कारों से अलंकृत किया है। इनकी एक कृति 'थ्रू द आइज ऑफ ए पेंटर' को 1967 में बर्लिन में पुरस्कृत किया गया है।
- **नारायण श्रीधर बेन्द्रे** - यह आधुनिक समकालीन चित्रकारों की श्रेणी के अग्रज चित्रकार हैं। इनके चित्रों में मुख्य घटक वास्तुशिल्पीय रूप, प्रकृति सैर और लोक जीवन की आकृतियां प्रमुख हैं। इन्हें बिन्दुवादी चित्रों का चित्रकार कहा जाता है, क्योंकि इन्होंने अपने चित्रों में बिन्दुओं का बहुत प्रयोग किया हैं।
- **फ्रांसिस न्यूटन सूजा** - गोवा में जन्मे सूजा आधुनिक समकालीन प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार हैं। यह भी प्रगतिशील कलाकर संघ के जनक हैं। इन्होंने अधिकांश काम एक्रेलिक रंगों के माध्यम से किया है।
- **नागजी पटेल** - गुजरात राज्य में जन्मे पटेल जी मुख्य रूप से मूर्ति शिल्पकारी क्षेत्र के प्रतिष्ठित कलाकार हैं। इन्होंने रहस्यात्मक और ऐंटिक किस्म की कलाकृतियां विशेष तौर पर बनायी हैं।
- **विकास भट्टाचार्य** - कलकत्ता के चित्रकार विकास समकालीन अति यथार्थवादी चित्रकारों की श्रेणी के विशिष्ट व्यक्तित्व हैं। इन्होंने पोट्रेट शैली के विशिष्ट चित्रों की श्रृंखला तैयार की है। इनकी गुड़िया नामक चित्र-श्रृंखला बहुत प्रसिद्ध हुई।
- **जगदीश स्वामीनाथन** - प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार जिसने ग्रुप 1980 नामक एक संस्था की स्थापना की। इन्होंने भोपाल के भारत भवन की स्थापना में प्रमुख भूमिका निभायी थी। ये कला की विशिष्ट पत्रिका कांट्रा के संपादक रहे हैं।

नृत्य एवं लोकनृत्य

भारतीय नृत्य के दो स्वरूप माने जाते हैं -

महादेव के अनुसार तण्डु द्वारा प्रचलित तांडव नृत्य और वाणदुहिता ऊषा द्वारा प्रचलित सुकुमार कोमल एवं श्रृंगार रसोद्दीपक नृत्य। इसके अलावा दोनों के मिश्रित रूप भी प्रचलित हैं।

- **कत्थक** - कत्थक का अर्थ है कहने वाला। यह मूलत: उत्तर भारत का शास्त्रीय नृत्य है। इसे हिंदू शासकों के साथ कुछ मुस्लिम शासकों ने भी संरक्षण दिया था, इस कारण इसमें दोनों सस्कृतियों के तत्व मिलते हैं। कत्थक के अंतर्गत विभिन्न भाव मुद्राओं के अंग संचालन द्वारा कथा को प्रस्तुत किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से राधा-कृष्ण के प्रेम प्रसंगों का वर्णन होता है। कत्थक नृत्य के कुछ प्रसिद्ध कलाकार हैं - बिरजू महाराज, पं. दुर्गालाल, सितारादेवी, शोभना नारायण, रोहिणी भाटे, नीलिमा आध्ये, पुष्पा डोगरा इत्यादि।
- **भरतनाट्यम** - यह तमिलनाडु का प्रसिद्ध नृत्य है। यह नृत्य भरतमुनि के नाट्य शास्त्र पर आधारित गीति काव्यात्मक नृत्य है। भारतनाट्यम् कर्नाटक संगीत के माध्यम से अभिनीत होता है। इस नृत्य से संबद्ध प्रसिद्ध कलाकार हैं-ई. कृष्ण अय्यर, रुक्मिणी देवी, टी.बाला, यामिनी कृष्णमूर्ति, सोनल मानसिंह, पद्म सुब्रमण्यम, लीला सैम्पसन, बैजयन्ती माला इत्यादि।
- **कथकली** - यह केरल राज्य का प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्य है। यह नृत्य परम्परानुसार केरल की जनजाति नायर में प्रचलित रहा है। यह नृत्य कथा आधारित नाटकों के माध्यम से अभिनीत किया जाता है। इस नृत्य से संबद्ध प्रसिद्ध कलाकार हैं - मृणालिनी साराभाई, रुक्मिणी देवी, कृष्णन कट्टी, माधवन, शांताराव गोपी नाथ आदि।
- **ओडिसी** - उड़ीसा का प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्य है। इस नृत्य के आधारभूत ग्रंथ भरत मुनि के नाट्यशास्त्र, अभिनय चन्द्रिका, अभिनय दर्पण आदि हैं। इस नृत्य से संबद्ध कलाकार हैं - केनुचरण महापात्र, रीता देवी, प्रियवंदा मोहंती, मिनती दास, सोनल मानसिंह, माधवी मुद्गल।
- **कुचिपुड़ी** - यह नृत्य मूलत: आंध्र प्रदेश का शास्त्रीय नृत्य है। इस नृत्य में लय, ताल तथा भाव का समावेश होता है। इस नृत्य में कर्नाटक संगीत का प्रमुख योगदान रहता है। इस नृत्य से सम्बद्ध प्रसिद्ध कलाकार हैं - राजा राधा रेड्डी, चिंता कृष्णमूर्ति, पशुमूर्ति विट्ठल आदि।
- **मणिपुरी** - यद्यपि यह मणिपुर का प्राचीन जनजातीय नृत्य है लेकिन इसमें वैष्णव धर्म की विषय वस्तु का समावेश करके इसे शास्त्रीय पुट दे दिया गया है। इस नृत्य के माध्यम से रामलीला और कृष्ण की रासलीला का जीवंत अभिनय भी किया जाता है।

कुछ अन्य नृत्य

- **चायारकन्तु**-यह केरल राज्य का एक प्राचीन अर्धशास्त्रीय नृत्य है। कुन्तम्बलम नामक स्थान इसका नृत्य गृह होता है।
- **औट्टन तुल्लन**-यह केरल राज्य का विख्यात नृत्य है। इस नृत्य को मलयालम भाषा के माध्यम से वार्तालाप शैली में अभिनीत किया जाता है।

- **कूडियामट्टम**-यह एक दीर्घावधि नृत्य नाटिका है।
- **कृष्णनअट्अम**-यह कथकली की तर्ज पर होने वाला एक अर्धशास्त्रीय नृत्य है। यह लगातार आठ रातों तक श्री कृष्ण भगवान की लीलाओं को अभिनीत करता है।
- **मोहिनीअट्टम**-यह केरल राज्य का एक प्रसिद्ध अर्धशास्त्रीय नृत्य है। यह नाटकों को अभिनीत करने का माध्यम है, यह नृत्य वैष्णव भक्ति परम्परा से संबद्ध रहा है।
- **यक्षगान**-यह कर्नाटक राज्य की एक नृत्य शैली है जिसे अधिकतर ग्रामीण समुदाय के लोग करते हैं। यह नृत्य भी कथा पर आधारित रहता है।

कुछ प्रमुख लोकनृत्य

- **गरबा** - यह गुजरात राज्य का एक प्रसिद्ध लोक नृत्य है। यह नवरात्रि के अवसर पर स्त्रियों द्वारा किया जाता है। यह मां दुर्गा की पूजा के निमित्त किया जाता है।
- **बिहू** - यह नृत्य असम राज्य की कचारी और कछारी जनजाति द्वारा किया जाता है। इसका आयोजन वर्ष में तीन बार किया जाता है।
- **रउफ** - यह जम्मू-कश्मीर का प्रसिद्ध लोकनृत्य है। यह फसलों की कटाई होने की खुशी में वहां की स्त्रियों द्वारा किया जाता है।
- **भांगड़ा** - यह पंजाब राज्य का लोकनृत्य है जिसे वहां के पुरुषों द्वारा विभिन्न खुशी के अवसरों पर किया जाता है।
- **घूमर** - यह राजस्थान का प्रमुख स्त्री लोकनृत्य है। जिसे विभिन्न त्यौहारों और पूजाओं के अवसर पर किया जाता है।
- **पण्डवानी** - यह मध्य प्रदेश राज्य का एक प्रमुख लोकनृत्य है जो कि केवल एक कलाकार द्वारा तेज स्वर में गाते हुए किया जाता है। यह मूलरूप से पाण्डवों की कथा से सम्बद्ध रहता है। इसके प्रमुख कलाकार हैं तीजन बाई और ऋतु वर्मा।
- **विदेशिया** - यह उत्तर प्रदेश और बिहार राज्य का प्रमुख लोकनृत्य है। इसे नाट्य शैली नृत्य और गायन के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।
- **नौटंकी** - यह उत्तर प्रदेश का एक प्रमुख लोकनृत्य है जिसमें नृत्य को गायन और अभिनय के माध्यम से किया जाता है।
- **कालढोलिया** - यह राजस्थान का एक जनजातीय लोकनृत्य है जिसे कालबेलिया जनजाति की स्त्रियां करती हैं। गुलाबो नामक एक कलाकार ने इसे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति दिलायी है।
- **छऊ** - यह बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा का प्रमुख आदिवासी लोकनृत्य है। यह मूलतः पुरुषों द्वारा किया जाता है। यह युद्ध नृत्य होता है।
- **तमाशा** - यह महराष्ट्र राज्य की एक प्रसिद्ध नाटिका है। इसे नृत्य और अभिनय के माध्यम से किया जाता है।

ऐतिहासिक स्थल

- **अजंता** – महराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में, यहां 20 बौद्ध गुफायें हैं। इनका निर्माण 200 बी.सी. से 700 ए.डी. के मध्य हुआ था जिसमें गुप्तकालीन चित्रकला अंकित है।
- **अजमेर** – स्थापना 1200 ए.डी. में अजय राज चौहान द्वारा। चिश्ती की दरगाह, तारागढ़ का किला, पुष्कर तीर्थ स्थल, जैन रथवाला मन्दिर यहां के प्रसिद्ध दर्शनीय स्थल हैं।
- **महाबलीपुरम** – मद्रास के पास, पल्लव काल में बन्दरगाह, व्यापारिक केन्द्र के रूप में विख्यात था। रथों के आकार में बने मंदिर प्रसिद्ध हैं।
- **नवद्वीप** – पूर्वी बंगाल में भगीरथी एवं जलांगी के संगम पर स्थित है। प्राचीन काल में तर्कशास्त्र, व्याकरण आदि का प्रमुख शैक्षिक केन्द्र, सेन वंश की राजधानी, जयदेव की जन्मभूमि रही है।
- **जलियांवाला बाग** – पंजाब के अमृतसर जिले में स्थित, वहां 1919 में जनरल डायर ने हजारों निहत्थे व्यक्तियों पर गोली चलवा दी थी। इसे राष्ट्रीय आन्दोलन की क्रूरतम घटनाओं में से एक माना जाता है।
- **सारनाथ** – वाराणसी के निकट स्थित प्रसिद्ध बौद्ध तीर्थ महात्मा बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश यहीं दिया था। यहां का अभिलेख (अशोक का) प्रसिद्ध है। जिसके शीर्ष भाग की सिंह-मूर्तियों को भारत सरकार ने राजचिन्हों के रूप में स्वीकार किया है।
- **चम्पारण** – यह बिहार राज्य में है, जहां 1917 में महात्मा गांधी ने सर्वप्रथम अपने सत्याग्रह के आन्दोलन का सफल प्रयोग किया था।
- **चौरी-चौरा** – यह उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में स्थित है। यहां 5 फरवरी 1922 में उद्वेलित जनता ने पुलिस थाने को जला दिया था जिसमें 22 पुलिस वाले मारे गये थे।
- **दांडी** – यह गुजरात में स्थित वह स्थान है। 1930 में महात्मा गांधी ने अपनी 240 मील की यात्रा के बाद 6 अप्रैल को नमक कानून तोड़कर सविनय अवज्ञा आंदोलन का सूत्रपात किया था।
- **हल्दीघाटी** – यह राजस्थान का वह प्रसिद्ध स्थल है जहाँ 1574 ई. में मेवाड़ के राणा प्रताप सिंह और मुगल बादशाह अकबर के बीच प्रसिद्ध युद्ध हुआ था। इस युद्ध में अकबर ने राजा प्रताप को पराजित किया था।
- **अमृतसर** – यह सिखों के स्वर्ण मन्दिर के लिए विख्यात है। इसे सिक्ख धर्म के पवित्र स्थलों में स्थान दिया जाता है। गुरू रामदास ने इस नगर की स्थापना की थी। 1919 का इतिहास प्रसिद्ध जलियांवाला बाग हत्याकांड यहीं हुआ था।
- **मथुरा** – प्राचीन काल में शूरसेन जनपद की राजधानी रहा। यह नगर उत्तर प्रदेश में यमुना तट पर स्थित भगवान श्रीकृष्ण की जन्मस्थली तथा हिन्दुओं के तीर्थ स्थल के रूप मे विख्यात है। कुषाण काल में यह स्थापत्य एवं

मूर्ति कला के केन्द्र के रूप में विख्यात रहा। इसी नगर में कला नई शैली मथुरा कला का विकास हुआ। वर्तमान में यहां अनेक मन्दिर यथा-श्रीकृष्ण जन्म स्थान, द्वारकाधीश मंदिर, रंगेश्वर मंदिर, बिड़ला मंदिर तथा एक पुरातत्व संग्रहालय है।

- **उज्जयिनी**-मध्य प्रदेश में शिप्रानदी के तट पर स्थित उज्जयिनी प्राचीन काल में अवन्ती राज्य की राजधानी थी। विक्रमादित्य यहां के प्रसिद्ध राजा हुए। उन्होंने अपने शासन काल में नौरत्नों को आश्रय दिया परिणामस्वरूप उज्जयिनी की बहोन्मुखी उन्नति हुई। यहां महाकालेश्वर का प्रसिद्ध शिव मंदिर है, जो देश में शिव जी के 12 ज्योर्तिलिंग मंदिरों में से एक है। यहाँ जयपुर के महाराजा जयसिंह द्वारा निर्मित जन्तर-मन्तर स्थित है।
- **खजुराहो** - खजुराहो कलात्मक दृष्टि से मध्य प्रदेश का महत्वपूर्ण स्थान है। यह मध्य प्रदेश में छतरपुर जिलें में स्थित है। चंदेल राजाओं द्वारा यहां निर्मित अनेक मंदिर यथा-कन्दरिया महादेव का मंदिर, चतुर्भुज, मंदिर, पार्श्वनाथ का मंदिर, चौसठ योगिनी मंदिर, जगदम्बा मंदिर, ब्रम्हामंदिर, वामन मंदिर आदि विश्वविख्यात हैं जो हिन्दू स्थापत्य एवं कला की दृष्टि से अत्यन्त ही उत्कृष्ट हैं यहां मंदिरों की अत्यधिक संख्या होने के कारण यह नगर (मंदिरों का समूह) के रूप में जाना जाता है।
- **साँची** - मध्य प्रदेश में स्थित बौद्ध तीर्थ स्थल है। यहां तीन स्तूप हैं। सबसे बड़ा स्तूप 36.5 मीटर व्यास का, इसकी उंचाई 16.4 मीटर है, इस स्तूप के तोरण द्वार पर बुद्ध के जीवन की झलकियां उत्कीर्ण हैं।
- **चित्रकूट** - उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के मध्य स्थित है। यह धार्मिक महत्व वाला स्थान है। कहा जाता है कि ब्रम्हा, विष्णु, महेश ने यहीं अवतार लिया था। वनवास के समय मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री राम यहीं महर्षि अत्रि तथा सती अनुसुईया के अतिथि बनकर रहे थे। महाकवि तुलसीदास भी आत्मिक शांति के लिए यहां आए थे। अब्दुल रहीम खानखाना जो अकबर के नौरत्नों में से एक थे, ने जहांगीर के क्रोध के कारण यहां शरण ली थी।
- **गंगोत्री** - 4390 मीटर ऊंचा गौमुख गंगा का उद्गम स्थल है। गंगा का मंदिर तथा सूर्य, विष्णु और ब्रम्हकुण्ड आदि यहां के पवित्र स्थान है। इसे हिन्दू धर्म में श्रृद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। यहां प्रति वर्ष बड़ी संख्या में लोग आते हैं।
- **केदारनाथ** - गढ़वाल जिले में मन्दाकिनी घाटी में लगभग 3581 मीटर की उंचाई पर स्थित इस स्थल का धार्मिक एवं पर्यटन की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। ऐसा माना जाता है कि यहां स्थित केदारनाथ मंदिर का निर्माण पाण्डवों द्वारा कराया गया था। मई से लेकर अक्टूबर के मध्य लाखों लोग यहाँ प्रतिवर्ष आते हैं। शंकराचार्य का समाधिस्थल, भैरव मंदिर, मधु गंगा, क्षीर गंगा, शिव कुण्ड, अधीर कुण्ड आदि यहां के प्रमुख दर्शनीय स्थल हैं।
- **बद्रीनाथ** - बद्रीनाथ हिन्दुओं के प्रमुख चार धामों में से एक है। धार्मिक दृष्टि से इस स्थान का अत्यधिक महत्व है। महाभारत काल से पहले भी यह हिन्दुओं का तीर्थ स्थान रहा है। बाद में यहाँ बौद्ध धर्म का भी खूब प्रचार प्रसार हुआ। शंकराचार्य द्वारा यहां हिन्दू धर्म की पुनर्स्थापना की गई। ऋषि गंगा एवं अलकनन्दा नदियों के तट पर तथा नारायण पर्वत श्रृंखलाओं के मध्य स्थित इस स्थान पर प्रतिवर्ष हजारों की संख्या में विभिन्न धर्मावलम्बी लोग तथा पर्यटक आते हैं।

- **अमरनाथ** - यह हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ स्थल है जो कश्मीर में पहलगांव के समीप समुद्र तल से 12,729 फीट उंचाई पर स्थित है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि भगवान शिव और पार्वती यहां के प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रभावित होकर ठहरे थे। इसलिए हिन्दू लोग इसे पवित्र स्थान मानते हैं। यहां बर्फ से ढ़का एक पवित्र शिवलिंग है जो घटता बढ़ता रहता है।
- **कोणार्क** - यह उड़ीसा की प्राचीन राजधानी थी। किवदंती के अनुसार चक्रक्षेत्र के उत्तर पूर्वी कोण में यहां सूर्य का मंदिर स्थित होने के कारण इस स्थान को कोणार्क कहा जाता है। कोणार्क का सूर्य मंदिर वास्तुकला की महान उपलब्धि है। यह मंदिर शुद्ध नागर शैली का प्रतिनिधित्व करता है। सूर्य पौराणिक कथा में अपने सात घोड़ों वाले रथ पर आकाश में चलता है। इसकी विशेषता यह है कि मंदिर के भवनों के सभी बाह्य भाग उकेरी हुई आकृतियों से सजे हैं। इसका निर्माण नरसिंह-प्रथम ने करवाया था।
- **पुरी** - उड़ीसा प्रान्त में समुद्र तट पर स्थत पुरी हिन्दुओं का पवित्र तीर्थस्थल है। इसकी स्थापना शंकराचार्य द्वारा की गई थी। इसे चारों धामों में से एक माना जाता है। पुरी की गणना भारत की सप्त पुरियों में की जाती है। यहां का प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर कला का उत्कृष्ट नमूना है। इस मंदिर का निर्माण उड़ीसा के राजा अवन्ति वर्मन द्वारा 11वीं शताब्दी में कराया गया था।
- **पंढरपुर** - यह महाराष्ट्र के शोलापुर जिले में स्थित है। यह हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ स्थान है। यह स्थान चन्द्रगिरि तथा विन्ध्यगिरि नामक पहाड़ी पर स्थित है। यहां गंग नरेश राजमल्ल चतुर्थ के मंत्री चामुण्ड ने गोमतेश्वर की प्रसिद्ध प्रतिमा का निर्माण करवाया था।
- **काशी** - वरुणा और अस्सी के मध्य स्थित होने के कारण यह नगर वाराणसी के नाम से जाना जाता है। उत्तर वैदिक काल से वर्तमान काल तक भारत का मुख्य सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। धार्मिक तथा शैक्षिक दृष्टि से भी यह महत्पूर्ण है। यहीं पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय है।
- **आगरा**-उत्तर प्रदेश में यमुना नदी के तटपर स्थित आगरा एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर है। प्राचीन काल में इसे अग्रवन, आर्यग्रह के नाम से भी जाना जाता था। मध्यकाल में सिकन्दर लोदी ने इस नगर को बसाया। मुगल काल में इस नगर का अत्यधिक विकास हुआ। आधुनिक काल में यह क्रांतिकारी आन्दोलन का मुख्य केन्द्र रहा। वर्तमान में ताजमहल के लिए विश्वविख्यात है।
- **प्रयाग**-गंगा-यमुना के संगम तट पर स्थित यह नगर चिरकाल से भारतीय धर्म परायण जनमानस का तीर्थस्थल रहा हैं । यहां प्रत्येक छठे वर्ष अर्धकुम्भ तथा 12 वें वर्ष में महाकुम्भ मेले का आयोजन किया जाता है। मुगल काल में सम्राट् अकबर ने इस प्राचीन धार्मिक नगरी प्रयाग का नाम बदलकर इलाहाबाद कर दिया, जिसका अर्थ है ईश्वर का निवास स्थान। ब्रिटिश कालीन भारत में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान यह नगर राजनीति का प्रमुख केन्द्र रहा।
- **हरिद्वार** - गंगा के तट पर स्थित इस नगर की गणना भारत के प्रमुख तीर्थस्थलों में की जाती है। हर की पौड़ी यहां का प्रसिद्ध स्थान है। यहां महाकुम्भ तथा अर्धकुम्भ मेले का आयोजन किया जाता है। यह दून घाटी का प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र भी है। हिन्दू अपने मृतकों की अस्थियां यहां प्रवाहित करने आते हैं। यहां का लक्ष्मण झूला दर्शनीय है।

- **सिकन्दरा** - यह आगरा के निकट स्थित है। यहां अकबर का मकबरा है, जिसका निर्माण कार्य स्वयं अकबर ने आरम्भ कराया था, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद जहांगीर ने इसे पूरा करवाया। चार बाग पद्धति पर यह मकबरा बना है। यह पांच मंजिली गुम्बद रहित इमारत है जिसके चारों ओर चार मीनारें हैं।

प्रमुख सांस्कृतिक संस्थाएं

- **ललित कला अकादमी** - ललित कला अकादमी स्थापना भारत सरकार द्वारा 1954 में नई दिल्ली में की गई थी। इसका मुख्य उद्देश्य देश-विदेश में भारतीय कला के प्रति समझ बढ़ाना तथा इसका प्रचार-प्रसार करना है। इस अकादमी द्वारा प्रत्येक वर्ष एक राष्ट्रीय प्रदर्शनी तथा प्रत्येक तीसरे वर्ष त्रिवार्षिक भारत नामक एक अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी का आयोजन किया जाता है।
- **संगीत नाटक अकादमी** - संगीत नाटक अकादमी संगीत, नृत्य एवं नाटक की राष्ट्रीय संस्था है। इसकी स्थापना 1953 में की गई थी। इसका उद्देश्य राज्यों और स्वैच्छिक संस्थाओं के सहयोग से प्रदर्शन कलाओं को प्रोत्साहन देना है। इसके अतिरिक्त संगीत नाटक अकादमी प्रदर्शन कलाओं की समृद्धि के लिए विचारों तथा तकनीकी आदान-प्रदान के कार्यक्रमों का आयोजन करती है।
- **साहित्य अकादमी** - साहित्य अकादमी की स्थापना 1954 में एक स्वायत्त निकाय के रूप में नई दिल्ली में की गई है। इसका उद्देश्य प्रकाशन, अनुवाद, कार्यशालाओं, सांस्कृतिक विनिमय कार्यक्रमों तथा साहित्यिक गोष्ठियों द्वारा भारतीय साहित्य के विकास तथा भारतीय सांस्कृतिक एकता को प्रोत्साहन देना है।
- **राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय**-राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना 1959 में नई दिल्ली में की गई थी। यह रंगमंच का प्रशिक्षण देने वाली चोटी की संस्थाओं में एक है। इस संस्था का मुख्य कार्य भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आदान-प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त इसका उद्देश्य भारत में उच्च स्तर की थिएटर कला की शिक्षा की व्यवस्था करना भी निर्धारित किया है।
- **राष्ट्रीय आधुनिक कला दीर्घा** - इसकी स्थापना 1954 में दिल्ली में की गई थी। इसका मुख्य कार्य समसामयिक भारतीय कला को प्रोत्साहन देना तथा इसका विकास करना है। इस दीर्घा में करीब एक हजार भारतीय कलाकारों की लगभग 14,500 कलाकृतियां हैं। दीर्घा की महत्वपूर्ण निधि में चित्रकला, मूर्तिकला, ग्राफिक्स कला और फोटोग्राफी की कृतियां शामिल हैं।
- **एशियाटिक सोसाइटी**-एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना प्रख्यात भारतविद् सर विलियम जोंस ने 1784 में कलकत्ता में की थी। इसकी स्थापना का उद्देश्य एशिया के इतिहास, कला, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में खोज करना था। इस संस्था ने प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से देश की अधिकांश प्राचीन, वैज्ञानिक एवं साहित्यिक संस्थाओं के विकास में योगदान दिया। यह विश्व में भारत-विद्या के प्रमुख अध्ययन केन्द्रों में से एक है।

- **रामकृष्ण मिशन सांस्कृतिक संस्थान** – रामकृष्ण मिशन सांस्कृतिक संस्थान कोलकाता में स्थित है। यह एक ऐसा सांस्कृतिक संस्थान है, जो चिंतन, ज्ञान और शिक्षा को प्रोत्साहन देने के कार्य में संलग्न है। यह संस्थान राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर सांस्कृतिक गतिविधियों में संलग्न होने के साथ-साथ अनेक विद्यालयों का संचालन भी करता है।
- **राष्ट्रीय कला परिषद** – राष्ट्रीय कला परिषद की स्थापना 1983 में भारत सरकार द्वारा की गई थी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य पुरातत्व कला, मानव विज्ञान, अभिलेखागारों और संग्रहालयों से संबंधित गतिविधियों को समन्वित करना है।
- **इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र** – इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र की स्थापना 1985 में की गई थी। इस केन्द्र में बड़े-बड़े कक्षों की व्यवस्था की गई जिनमें दो संग्रहालय दो संगीत हाल तथा राष्ट्रीय नाट्यशाला की व्यवस्था की गई है।
- **सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र**–सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना भारत सरकार ने एक स्वायत्तशासी संस्था के रूप में 1979 में की थी। इस केन्द्र का प्रशासनिक नियंत्रण मानव संसाधन मंत्रालय के संस्कृति विभाग के पास है। इस केन्द्र का उद्देश्य भारत की विविधतापूर्ण क्षेत्रीय संस्कृतियों के बारे में छात्रों में जागरुकता और समझ बढ़ाकर शिक्षा से समन्वित करना है।
- **हिन्दी साहित्य सम्मेलन** – हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रयाग में की गई है। इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारत के कोने-कोने तथा विभिन्न देशों में हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार करना है।
- **भारतीय पुरात्त्व सर्वेक्षण संस्थान**–इस संस्थान की स्थापना 1861 में नई दिल्ली में की गई थी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्यों का रहस्योद्घाटन, पुरातत्व सर्वेक्षण तथा उत्खनन कार्य कराना है।
- **इण्डियन काउन्सिल ऑफ हिस्टोरीकल रिसर्च**–इस संस्था की स्थापना 1972 में नयी दिल्ली में की गयी थी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य इतिहास को वैज्ञानिक ढंग से लिखवाना तथा भारतीय इतिहास नीति का प्रारूप तैयार करना है। इस संस्था द्वारा शोध प्रबंध के प्रकाशन, पत्रिकाओं के सम्पादन तथा इतिहास के सेमिनार-आयोजन हेतु वित्तीय अनुदान प्रदान किया जाता हैं।
- **केन्द्रीय बौद्ध अध्ययन संस्थान** – केन्द्रीय बौद्ध अध्ययन संस्थान की स्थापना 1959 में जम्मू-कश्मीर राज्य के लेह जिले में की गई थी। इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य बौद्ध दर्शन, साहित्य एवं कला के क्षेत्र में अध्येताओं को प्रशिक्षण देना है।
- **दारुल मुसन्नीफीन** – दारुल मुसन्नीफीन की स्थापना 1914 में की गई थी। यह संस्था इस्लामी शिक्षा पद्धति की आधुनिक संस्था के रूप में उत्तर प्रदेश राज्य के आजमगढ़ जिले में स्थित है। इस संस्था का एक पुस्तकालय भी है, जो आधुनिक धर्म, दर्शन, शिक्षा इतिहास व राजनीति से संबंधित उच्च कोटि की पुस्तकें उपलब्ध कराता है।
- **भारतीय मानव विज्ञान सर्वेक्षण** – इस संस्थान की स्थापना 1945 में हुई थी। यह मानव संसाधन विकास मंत्रालय के संस्कृति विभाग के अंतर्गत एक वैज्ञानिक अनुसंधान संगठन है, जिसका मुख्यालय कोलकाता में स्थित है। इस

संस्था का मुख्य कार्य जनजातियों के शारीरिक, भौतिक तथा सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का सूक्ष्म अध्ययन करना तथा इन जनजातियों की सांस्कृतिक परम्पराओं को प्रकाश में लाना है।

- **राष्ट्रीय सांस्कृतिक संपदा संरक्षण अनुसंधान प्रयोगशाला, लखनऊ** – भारत सरकार के सांस्कृतिक विभाग के अधीन यह एक वैज्ञानिक संस्था है, जो सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण में संलग्न है। इस संस्था के कार्यों में अनुसंधान, कलाकृतियों की सामग्री और प्राद्योगिकी का अध्ययन, संरक्षण का प्रशिक्षण और संग्रहालयों तथा संबद्ध संस्थानों को तकनीकी सहायता देना शामिल है।
- **राष्ट्रीय संग्रहालय** – राष्ट्रीय संग्रहालय की स्थापना 1949 में नयी दिल्ली में की गई थी। इसके प्रमुख कार्य–पुरातात्विक महत्व की कलाकृतियों को प्राप्त करना, उनका प्रदर्शन व संरक्षण करना, संबंधित साहित्य प्रकाशित करना तथा पुरातात्विक शिक्षा प्रदान करना। विश्वविद्यालय के समकक्ष मान्यता प्राप्त यह संस्थान कला, इतिहास तथा कलाकृतियों के संरक्षण एवं पुनरोद्धार विषयों और संग्रहालय विज्ञान की शाखाओं में एम.ए. और पी.एच.डी. स्तर के अध्ययन और अनुसंधान की सुविधा प्रदान करता है।
- **भारतीय राष्ट्रीय पुस्तकालय** – भारतीय राष्ट्रीय पुस्तकालय कोलकाता में स्थित है। यह पुस्तकालय भारत में प्रकाशित समस्त पठन तथा सूचना–सामग्री का स्थाई भंडार है। इसमें भारतीयों द्वारा प्रकाशित और भारतीयों व विदेशियों द्वारा भारत के बारे में किसी भी भाषा में लिखित और किसी भी भाषा में छपी समस्त सामग्री उपलब्ध रहती है। इस पुस्तकालय में 30 लाख से ज्यादा पुस्तकें संग्रहित हैं।
- **राष्ट्रीय अभिलेखागार** – राष्ट्रीय अभिलेखागार की स्थापना 1891 में की गई थी। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व इसका नाम इम्पीरियल रिकॉर्ड्स डिपार्टमेंट था। इस संस्था के मुख्य कार्य–अभिलेखों का संरक्षण तथा रखरखाव संदर्भ सामग्री तैयार करना, वैज्ञानिक परीक्षण तथा इस क्षेत्र में संलग्न संस्थाओं तथा व्यक्तियों को तकनीकी सहायता उपलब्ध कराता है।
- **मौलाना अबुल कलाम आजाद एशियाई अध्ययन संस्थान, कोलकाता** – यह संस्थान संस्कृति विभाग के प्रशासनिक नियंत्रण में कार्य करता है। यह संस्थान मौलाना अबुल कलाम आजाद के जीवन और कृतियों के अध्ययन व अनुसंधान के अतिरिक्त एशिया में सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक और आर्थिक आंदोलन के अध्ययन का केन्द्र है।
- **नेशनल बुक ट्रस्ट** – इस संस्था की स्थापना 1957 में नयी दिल्ली में की गई थी। इस संस्था के द्वारा शिक्षा, विज्ञान और साहित्य की उच्च कोटि की रचनाओं का प्रकाशन किया जाता है। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य उच्च स्तरीय साहित्य के सृजन को प्रोत्साहन देना और उसे सस्ते मूल्य पर जनता को उपलब्ध कराना।
- **भारतीय पर्यटन विकास निगम** – इस निगम का गठन 1966 में किया गया था। गठन के उपरांत से ही यह निगम भारत में पर्यटन ढांचे के विकास तथा विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। भारतीय पर्यटन विकास निगम का सांस्कृतिक विभाग अपने होटलों में मनोरंजन कार्यक्रम आयोजित करने के अतिरिक्त दिल्ली के लाल किले, अहमदाबाद के साबरमती आश्रम और श्रीनगर के शालीमार उद्यान में ध्वनि और प्रकाश कार्यक्रमों का भी संचालन करता है।

ऐतिहासिक साहित्य

- **वेदांग**-वेदांग 6 हैं, वेदों के उत्तम बोध के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है। वेदांग हैं-शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष।
- **संगम साहित्य**-300 ई. पूरब से 200 ई. पूरब तक दक्षिण भारतीय इतिहास का बोध कराने वाले संगम साहित्य की रचना संगम के विद्वानों द्वारा ब्राह्मी लिपि में की गई थी।
- **उपनिषद्**-वेदों का सार कहे जाने वाले उपनिषदों में वैदिक कालीन परिषदों में आयोजित गुरु-शिष्य संवादों के निष्कर्षों का संकलन है। इनमें अध्यात्म संबंधी बातों पर विमर्श किया गया है।
- **उत्तर रामचरित**-उत्तर रामचरित महाकवि भवभूति द्वारा संस्कृत में श्री राम के उत्तर जीवन की कथा पर आधारित नाटक है। इसमें दांपत्य-प्रणय के आदर्श रूप को अंकित किया गया है।
- **वैदिक साहित्य**-वैदिक साहित्य की रचना यूरोपीय परिवार की भाषा वैदिक संस्कृत से हुई है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य चार श्रेणियों-संहिता, ब्राम्हण, अरण्यक तथा उपनिषदों में विभक्त है।
- **महाभारत**-महाभारत की रचना महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने 24 सहस्त्र श्लोकों में वैध सप्रमाण के अनुसार 320 से 200 ई. पूर्व की थी। इस ग्रंथ में पाण्डवों तथा कौरवों के मध्य हुए युद्ध का वर्णन किया गया है।
- **मृच्छकटिकम्**-मृच्छकटिकम् की रचना शूद्रक ने प्रथम सदी ई. के लगभग संस्कृत में की थी। इसमें एक सुंदर व सुबोध गणिका वसंत सेना तथा गरीब ब्राह्मण चारुदत्त का प्रेम दर्शाया गया है।
- **मेघदूतम्**-महाकवि कालिदास ने इस ग्रंथ रचना 4थी से 5वीं सदी ई. के मध्य संस्कृत में की थी। इसमें यक्ष द्वारा अपनी पत्नी को मेघ के माध्यम से संदेश भेजने का कथासूत्र है।
- **कुमारसंभव**-कुमारसंभव कालिदास द्वारा 4थी से 5वीं सदी ईसा के लगभग संस्कृत में रचित अपूर्ण महाकाव्य हैं। यह पार्वती तथा शिव के विवाह से संबंधित है।
- **रामायण**-रामायण की रचना महर्षि वाल्मीकि ने संस्कृति में की थी। इसमें कुल 7 खंड हैं, जो भगवान श्री राम के जीवन से संबंधित हैं।
- **पद्मावत**-पद्मावत की रचना मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा की गयी थी। इसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन तथा रानी पद्मावती के प्रेमगाथा का वर्णन किया गया है।
- **रामचरित मानस**-रामचरित मानस की रचना कवि तुलसीदास द्वारा संवत् 1631 में अवधी भाषा में की गई थी। यह भगवान राम के जीवन से संबंधित है।
- **मालविकाग्निमित्र**-कालिदास द्वारा संस्कृत में रचित मालविकाग्निमित्रम् प्रणय प्रधान नाटक है। इसमें विदर्भ की राजकुमारी मालविका तथा राजा अग्निमित्र का प्रेम दर्शाया गया है।

- **मुद्राराक्षस**-इस ग्रंथ की रचना विशाखदत्त द्वारा की गई थी। इसमें नंद शासकों के अंतिम शासक के मंत्री राक्षस के षड्यंत्रों को नाकाम करते हुए चाणक्य की योजनाएं दिखाई गई हैं। वीर रस से प्रभावित इस नाटक में प्रेम कथा, विदूषक, नायिका आदि का अभाव है।
- **सूत्र**-सूत्रों के अंतर्गत धर्म का प्राचीन विधि से किया गया संक्षिप्त चित्रण है। सूत्रों का वृहद उपयोग धार्मिक कर्मकाण्डों के लिए किया जाता है।
- **हर्षचरितम्**-हर्षचरितम् की रचना राजा हर्षवर्धन के दरबारी कवि बाणभट्ट ने की थी। इसमें हर्षवर्धन के राज्याधिकार-प्राप्ति तक होने वाली घटनाओं का सामान्य प्रमाण के साथ, परन्तु कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन मिलता है।
- **स्वप्नवासवदत्ता**-द्वितीय सदी ईसा पश्चात भास द्वारा रचित स्वप्नवासवदत्ता उद्यन नामक व्यक्ति तथा राजकुमारी वासवदत्ता की प्रेमगाथा पर आधारित नाटक है।
- **पुराण**-पुराण, प्राचीन कथाओं तथा आख्यानों का संग्रह है। पुराणों की ज्ञान संख्या 18 है। हिन्दुओं के अतिरिक्त जैन तथा बौद्ध धर्मों में भी पुराण नामक बृहत्काय ग्रंथ उपलब्ध है।
- **पृथ्वीराज रासो**-पृथ्वीराज रासो की रचना कवि चन्दबरदाई ने सम्भवत: 12 वीं सदी के अंत अथवा 13वीं सदी के आरम्भ में की थी। इसमें पृथ्वीराज चौहान का जीवन वृतांत है। इसमें 16306 छन्द हैं।
- **पंचतंत्र**-पंचतंत्र की रचना चौथी शताब्दी में विष्णु शर्मा ने की थी। यह नैतिक कहानियों का वृहद संग्रह है। इसमें प्रेरक कहानियां हैं जिन्हें जानवरों के माध्यम से बताया गया है।
- **कादम्बरी**-बाणभट्ट द्वारा रचित कादम्बरी एक युवक की बुजदिली तथा अवसर गवांने पर आधारित उपन्यास है। इसकी रचना 7वीं शताब्दी में हुई थी।
- **बुद्धचरितम्**-बुद्ध चरितम् महाकाव्य की रचना प्रथम शताब्दी में अश्वघोष ने की थी। इसमें संसार की नश्वरता का बौद्ध दर्शन दर्शाया गया है।
- **रत्नावली**-रत्नावली की रचना हर्षवर्धन ने की थी। इसमें राजा उद्यन तथा उसे अन्त:पुर में भेष बदलकर रहने वाली राजकुमारी रत्नावली का प्रेम दिखाया गया है।
- **रघुवंशम्**-रघुवंशम काव्य की रचना कालिदास ने चौथी से पांचवी सदी के मध्य संस्कृत में की थी। इसमें राजा राम के सदाचार, धन, संतोष तथा मोक्ष का दृष्टांत है।
- **राजतरंगिणी**-कल्हण द्वारा रचित कथा काव्य राजतरंगिणी में कश्मीर के महान इतिहास का वर्णन किया गया है। इसका रचनाकाल 1148 ई. माना जाता है।
- **नागानंद**-राजा हर्षवर्धन द्वारा कृत नाटक नागानंद एक धार्मिक रचना है। इसमें दिव्य गरुड़ को दी जाने वाली सर्पबलि रोकने के लिए शरीर समर्पित करने वाले राजकुमार जीमूतवाहन का वर्णन है।

- **कौटिल्य अर्थशास्त्र**-कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र में राज्य नियंत्रण, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संगठन तथा युग-संचालन का विस्तृत वर्णन किया गया है।
- **ब्राह्मण**-ब्राह्मण वैदिक कर्मकाण्ड के विकास की जानकारी का प्रमुख स्रोत हैं। संहिताओं की विभिन्न शाखाओं की कर्मकाण्डी व्याख्या करने के लिए पृथक्-पृथक् ब्राह्मण ग्रंथ लिखे गये हैं।
- **लीलावती**-लीलावती भास्कराचार्य द्वितीय द्वारा रचित सिद्धांत शिरोमणि नामक पुस्तक का अपनी पुत्री लीलावती को समर्पित एक भाग है। गणित विषय से संबंधित यह पुस्तक 12 वीं शताब्दी में लिखी गई थी।
- **बीजगणित**-बीजगणित भास्कराचार्य-द्वितीय रचित सिद्धांत शिरोमणि का एक भाग है। इसकी रचना 12वीं शताब्दी में हुई थी। बीजगणित में पाइथागोरस प्रमेय का वर्णन है।
- **गीत-गोविंद**-गीत-गोविंद की रचना जयदेव ने 12 वीं शताब्दी में की थी। इसमें राधा एवं गोपियों से श्रीकृष्ण का प्रेम का वर्णन किया गया है।
- **संवाद प्रभाकर**-संवाद प्रभाकर ईश्वर चन्द्र गुप्त का दैनिक समाचार-पत्र था। यह अनेक प्रसिद्ध लेखकों के लिए प्रशिक्षण-स्थल की भांति था। श्री गुप्त ने यहीं सर्वप्रथम अपनी पूर्ववर्ती कविताओं का साहित्यिक वृतांत लिखा।
- **त्रिपिटक**-बौद्ध धर्म ग्रंथों में नियमों, बुद्ध की शिक्षाओं एवं दार्शनिक विचारों को तीन पुस्तकों में संकलित किया गया है ये त्रिपिटक कहे जाते हैं। इन्हें त्रिपिटक इसलिए कहा जाता था क्योंकि ताल पत्रों की लम्बी पट्टियां, जिनमें पाठ लिखे जाते थे, मूलतः पिटकों (टोकरी) में रखी जाती थी। त्रिपिटक हैं - विनय पिटक, सूत्र पिटक तथा अभिधम्म पिटक।
- **जातक**-बौद्ध नीति शिक्षाओं के अध्ययन के लिए जातक कथाएं सर्वोपरि हैं। इन कथाओं का मूल प्रधानतः असम्प्रदायिक है तथा अधिकांशतः केवल दैनिक जीवन की चतुरता तथा सावधानी से संबंधित है।
- **तंत्र** - ब्राह्मण काल में यह विचार उत्पन्न हुआ कि देवताओं के प्रसन्न करने के स्थान पर साधना द्वारा विवश किया जाए। इस साधना की रूपरेखा का निर्धारण करने वाले ग्रंथ तंत्र तथा उत्पन्न नवीन सम्प्रदाय को तांत्रिक कहा गया।
- **भागवद्ज्झुकिया** - भगवद्ज्झुकिया बोधायान द्वारा कृत एक हास्य नाटक है। इसमें एक योग - अध्यापक द्वारा अपने एक विद्यार्थी के समक्ष अपनी शक्ति का विनाशकारी प्रदर्शन दिखाया गया है।
- **भक्ति साहित्य**-भक्तिकाल का समय संवत 1375 से 1700 तक माना जाता है। इस काल में 4 प्रकार के भक्ति साहित्य की रचना हुई। 1. संत काव्य 2. प्रेमाश्रयी 3. राम-काव्य तथा 4. कृष्णकाव्य। सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास आदि इस साहित्य के प्रमुख रचयिता हैं।
- **नील-दर्पण**-नील-दर्पण की रचना दीनबंधु मित्र ने 1860 ई. में की। इसमें उन्होंने ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में भारतीय नील उत्पादक किसानों की दुर्दशा का सजीव वर्णन किया है।

- **संहिता**–वैदिक यज्ञों में उच्चारित मंत्रों के संग्रह को संहिता कहा जाता है। इन संहिताओं को चार भागों–ऋग, साम, यर्जु तथा अथर्व में विभक्त किया गया है। संहिताओं का संबंध चारों वेदों से है।
- **सिद्धांत**–सिद्धांत सिद्धि का अंत है। यह वह धारणा है जिसे सिद्ध करने के लिए, जो कुछ हमें करना था वह हो चुका है और अब स्थित मत, अपनाने का समय आ गया है धर्म, विज्ञान, दर्शन, नीति, राजनीति आदि सभी में सिद्धांत अपेक्षित है।
- **सूरसागर**–सूरसागर सूरदास के भजनों तथा पदों का संकलन है। उनके भजनों का आधार कृष्ण, राधा व गोपियों का निःस्वार्थ नैसर्गिक प्रेम तथा कृष्ण का बाल रूप है।
- **अभिज्ञान शाकुंतलम्**–अभिज्ञान शाकुंतलम महाकवि कालिदास की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। इसमें राजा दुष्यंत व शकुंतला के प्रेम, वियोग व पुनर्मिलन का विर्णन किया गया है।
- **वेद**–'विद'–से वेद शब्द बना है जिसका अर्थ जानना होता है। वेद चार हैं–ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद–वेद का पद्य भाग, यजुर्वेद–गद्य भाग तथा सामवेद–वेद का गायन भाग है।
- **नाट्यशास्त्र**–नाट्य संबंधी नियमों की संहिता का नाम नाट्यशास्त्र है। भारतीय परम्परा के अनुसार नाट्यशास्त्र के आद्य रचयिता स्वयं प्रजापति माने गए हैं, तथा उसे नाट्यवेद कहकर नाट्यकला को विशिष्ट सम्मान प्रदान किया गया है।
- **वेतालपंचविम्सती**–वेतालपंचविम्सती विक्रमादित्य से संबंधित पौराणिक लघु कहानियों का संकलन है, परन्तु वस्तुतः यह सातवाहनों से संबंधित हैं।
- **मालती माधव**–मालती माधव भवभूति द्वारा रचित नाटक है। इसमें मालती तथा माधव की प्रेम गाथा है, जो एक बौद्ध भिक्षुणी कमनदकी की चतुराई में ही मिल पाते हैं। मालतीमाधव 10 अंकों, का एक श्रृंगाररस प्रधान नाटक है।
- **चरक–संहिता**–चरक–संहिता आयुर्वेद का सबसे प्राचीन ग्रंथ है। इसके मूल लेखक अग्निवेश थे। इस ग्रंथ में कनिष्क के राजवैद्य माने जाने वाले चरक ने नई बातें जोड़कर चरक–संहिता के नाम से प्रस्तुत किया।
- **ज्ञानेश्वरी**–ज्ञानेश्वर द्वारा रचित ज्ञानेश्वरी मराठी में भागवत् गीता पर एक टीका है। इसे भावार्थदीपिका के नाम से भी जाना जाता है।
- **आदि ग्रंथ**–सिखों के 5 वें गुरु अर्जुन देव ने अपने पूर्ववर्ती गुरुओं तथा स्वयं के उपदेशों का संकलन एक पुस्तक में किया है, जिसे आदि–ग्रंथ कहा गया जो कि वर्त्तमान में गुरु–ग्रंथ साहिब के नाम से प्रसिद्ध है।
- **गीतांजलि**–गीतांजलि रवीन्द्रनाथ टैगोर के गीतों तथा कविताओं का संकलन है। यह मूल रूप से बंगला में है। इसका प्रकाशन 1912 में हुआ तथा 1913 में इसके अंग्रेजी अनुवाद को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।
- **श्रीमद्भागवतगीता**–कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिए थे, वह श्रीमद्भागवतगीता के नाम से प्रसिद्ध है। यह महाभारत के भीष्मपर्व का अंग है। इसमें 18 अध्याय तथा 700 श्लोक हैं।

- **भागवद्-पुराण**-भागवद्-पुराण वैष्णव धर्म का प्रमुख ग्रंथ है। अनेक विद्वान इसका रचनाकाल 7वीं शताब्दी के उपरांत मानते है। भागवद् में भक्तिरस तथा अध्यात्म का सामंजस्य है तथा अद्वैतवाद के साथ भक्ति का सामंजस्य इसकी अपनी विशेषता है।
- **निकाय**-निकाय में महात्मा बुद्ध के उपदेशों का संकलन पाली भाषा में किया गया है। सूत्रपिटक में 5 निकाय - दीर्घ निकाय, मज्झिम, निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तर निकाय तथा खुद्दक निकाय हैं।
- **आर्यभट्ट**-आर्यभट्ट की रचना परमेश्वर द्वारा 1430 ई. के अंत में की गई थी। इसमें प्रथम हिन्दू गणितज्ञ आर्यभट्ट-प्रथम के गणितीय एवं खगोलीय कार्यों का वर्णन किया गया है।
- **कर्पूर मंजरी**-कर्पूर मंजरी नाटक की रचना संस्कृत के प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार राजशेखर द्वारा की गई है। इस नाटक के चार अंक हैं केवल प्राकृत भाषा में रचित होने के कारण इसे राट्टक भी कहा जाता है। यह राजशेखर की सर्वोत्कृष्ट कृति है।
- **प्रियदर्शिका**-यह नाटक महान शासक एवं नाटककार हर्षवर्द्धन द्वारा रचित है। इस नाटक में चार अंक हैं। इसमें वत्सराज उद्यन तथा महाराज दृढ़वर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका की प्रणय कथा का नाटकीय चित्रण किया गया है। हर्ष की शैली सरल एवं सुबोध है।
- **महावीर चरित**-इस नाटक की रचना भवभूति द्वारा की गई है। इसमें राम का चित्रण एक आदर्श पुरुष के रुप में किया गया है। राम विवाह, वनवास, सीताहरण तथा राज्याभिषेक पर्यन्त रामायण की घटनाओं का उत्कृष्ट अंकन करने में नाटककार को महत्वपूर्ण सफलता मिली है।
- **बाल रामायण**-यह नाटक राजशेखर द्वारा रचित है। इस नाटक में दस अंक हैं, जिसमें सीता-स्वयंवर से अयोध्या लौटने तक की राम कथा का नाटकीय वर्णन प्रस्तुत किया गया है।
- **बाल भारत**-इस नाटक के नाटककार राजशेखर हैं। इस नाटक के केवल दो ही अंक प्राप्य हैं। यह नाटक महाभारत के कथानक पर आधारित हैं। इसमें द्रोपदी स्वयंवर, कौरव-पाण्डवों की घुत-क्रीड़ा तथा द्रौपदी की चीरहरण की घटनाओं का सजीवता से वर्णन किया गया है।
- **अन्धेर नगरी**-यह नाटक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा रचित है। यह नाटक राजनैतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए लिखा गया है। इसकी रचना 1881 में की गई थी। इस नाटक में अन्धेर नगरी के राजा चौपट को फांसी दिलाकार नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश में कुशासन समाप्त होगा।
- **चन्द्रगुप्त**-यह नाटक जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित ऐतिहासिक नाटकों में एक है। प्रसाद इस नाटक के माध्यम से सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आस्था तथा राष्ट्रीय भावनाओं के प्रति प्रेरणा उत्पन्न करना चाहते है। चन्द्रगुप्त नाटक की रचना 1933 में की गई थी।

- **अजातशत्रु** – अजातशत्रु की रचना जयशंकर प्रसाद द्वारा की गई है। इस नाटक में आर्य जनपदों का पारस्परिक संघर्ष परोक्ष रूप में युगीन साम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रतिरूप है। इस प्रौढ़ कृति में प्रसाद द्वारा जातीय, क्षेत्रीय तथा वैयक्तिक भेदों को मिटा कर व्यापक राष्ट्रीयता का आह्वान किया गया है। इस नाटक की रचना 1922 में की गई थी।
- **अन्धा कुआं**–यह नाटक डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा लिखित है। इस नाटक में आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न ग्राम्य-जीवन के सामाजिक और पारिवारिक द्वंद्व का चित्रण किया गया है। इस नाटक की रचना 1955 में की गई।

भारतीय संगीत

- **हिन्दुस्तानी शैली**–शास्त्रीय संगीत की हिन्दुस्तानी शैली उत्तर भारत में प्रचलित रही है। इस शैली की विशेषता यह है कि इसमें राग की संरचना में वादी और समवादी स्वरों पर जोर दिया जाता है। इसका परिणाम यह है कि इन्हीं स्वरों में थोड़ी फेर-बदल करके अनेक राग बनाए जा सकते हैं। यह समय सिद्धांत पर आधारित है।
- **कर्नाटक शैली**–कर्नाटक शैली का प्रभाव दक्षिण भारत में रहा है। यह काफी प्राचीन शैली हैं कर्नाटक शैली में राग में ध्वनिगुण के महत्व को घटाने-बढ़ाने की परिपाटी है, जिससे संगीतज्ञ को प्रतिमान निर्माण में अधिक स्वाधीनता रहती है। कर्नाटक शैली में समय का पालन कठोरता से नहीं किया जाता।
- **ध्रुपद**–हिन्दुस्तानी संगीत में ध्रुपद प्राचीनतम संगीत रचना है। उत्तर भारत में इसका प्रचार पन्द्रहवी-सोलहवीं शताब्दी में ग्वालियर के राजा मान सिंह एवं मुगल सम्राट् अकबर के समय हुआ। स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजू-बावरा आदि प्रसिद्ध ध्रुपद गायक थे। वर्तमान में डागर बन्धु, अभय नारायण मलिक, विदुर मलिक इत्यादि प्रसिद्ध ध्रुपद गायक हैं।
- **धमार**–भगवान श्रीकृष्ण की क्रीड़ाओं एवं नाट्य लीलाओं पर आधारित एक प्राचीन गायन शैली है। इसमें अधिकतर होली का वर्णन मिलता है।
- **ख्याल**–यह एक स्वर-प्रधान गायन शैली है। ख्याल का स्रोत फारस है और इस शब्द का अर्थ है – कल्पना। प्रसिद्ध सूफी संत अमीर खुसरो को ख्याल का जनक माना जाता है। किन्तु इसका प्रचार प्रसार जौनपुर के शर्की सुल्तानों के काल में अधिक हुआ। ख्याल तीन प्रकार के होते हैं–1. विलम्बित ख्याल 2. मध्य ख्याल 3. द्रुत ख्याल।
- **गजल**–यह गायन की एक अत्यंत लोकप्रिय विधा है। इसमें विशेष रूप से उर्दू भाषा में लिखित रचना को गाया जाता है। मिर्जा गालिब को गज़लों का जनक कहा जाता है। वर्तमान में हिन्दी में भी गज़लें लिखने की परम्परा चल रही है। इसमें दादरा, कहरवा आदि प्रचलित तालों का प्रयोग होता है।
- **ठुमरी**–19 वीं शताब्दी में वाजिद अली शाह के काल में यह गायन शैली अत्यधिक लोकप्रिय हुई। यह संगीत की एक अर्द्ध-शास्त्रीय शैली है। स्वरूप की दृष्टि से ठुमरी हल्की और प्रायः विषयासक्त होती है। संभवतः इसका

संबंध राधा-कृष्ण सम्प्रदाय से रहा है। इसमें शब्दों को भाव एवं कल्पनाशीलता से गाते हैं। ठुमरी को बनारस तथा लखनऊ में अधिक गाया जाता है।

- **टप्पा**-यह एक अर्द्ध-शास्त्रीय गायन शैली है। इसकी शैली अत्यधिक क्लिष्ट है। इसका प्रचार मियां शेरी ने किया। यह पंजाबी भाषा में गाया जाता है, किन्तु वर्तमान में टप्पा गायन शैली हिन्दी में भी विकसित हो रही है।
- **गीत**-इस शैली में कवियों की उन रचनाओं को रखा जाता है, जिनकी स्वरबद्ध प्रस्तुति की जाती है। इसमें हरिवंशराय बच्चन, महादेवी वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, सोम ठाकुर आदि कवियों की रचनाओं को गाया जाता है।
- **होरी**-यह एक श्रृंगारिक रचना है, जिसका संबंध राधा-कृष्ण तथा बृजक्षेत्र से है। इसका गायन होली के त्यौहार के अवसर पर होता है। इसमें चाचर, दादरा, कहरवा आदि तालों का प्रयोग होता है।
- **दादरा**-श्रृंगारिक रचना दादरा गज़ल के समान ही होती है। इसमें श्रृंगार की संयोग-वियोग रचनाएं होती है। इसमें ठुमरी का भी पुट मिलता है।
- **भजन**-यह संत कवियों की आध्यात्मिक रचना है, जिसको स्वरबद्ध करके गाया जाता है। इसमें सूर, कबीर, तुलसी, मीरा आदि संत कवियों की रचनाएं प्रसिद्ध हैं। इसमें दादरा, रूपक, कहरवा, चाचर आदि तालों का प्रयोग किया जाता है।
- **लोकगीत**-यह लोक अंचल की भाषा में गायी जाने वाली विधा है। इसमें आंचलिक भाषाओं के गीत आते हैं। इसमें संबंधित प्रांत या क्षेत्र व संस्कृति तथा जलवायु का वर्णन किया जाता है। कजरी, वैवाहिक गीत, बन्ना, जच्चा, सोहर एवं विदाई लोकगीत इसके अंतर्गत आते हैं।

मध्यकालीन स्थापत्य कला

- **शर्की शैली**-शर्की शैली का विकास जौनपुर के शर्की शासकों के शासनकाल में हुआ। अटालादेवी मस्जिद, जामा मस्जिद, झंझरी मस्जिद, लाल दरवाजा मस्जिद, जौनपुर स्थित शर्की शैली में बनी इमारतें हैं। इन इमारतों में अटालादेवी मस्जिद शर्की शैली का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसके गुम्बद में प्रवेश द्वार इस्लामी शैली पर तथा भीतरी स्तम्भ तथा दीर्घा हिन्दू शैली पर आधारित है। जौनपुर में निर्मित इमारतों में इण्डो-इस्लामिक शैली का उत्कृष्ट समन्वय दृष्टिगोचर होता है।
- **गुजराती शैली**-सल्तनत-काल में जिस प्रांत में भारतीय शैली का सर्वाधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, वह है गुजरात। शेख फरीद का मकबरा, जामा मस्जिद, टंका मस्जिद, हिलाल खां काजी की मस्जिद, जामा मस्जिद आदि गुजरात शैली की प्रसिद्ध इमारतें हैं। इन मस्जिदों में महमूद बेगड़ा द्वारा निर्मित जामी मस्जिद स्थापत्य कला का उत्कृष्ट नमूना है।

- **मालवा शैली**-मालवा के शासकों ने मांडू को अपनी राजधानी बनाया। होशंगशाह ने मांडू में एक किला का निर्माण कराया था। मालवा के शासकों ने मांडू, धार तथा चंदेरी में अनेक भवनों का निर्माण कराया मालवा के स्थापत्य में लाल रेतीले पत्थरों का प्रयोग अधिकाधिक पाया जाता है। मांडू की अन्य महत्वपूर्ण इमारतों में हिंडोला महल, जहाज महल, होशंगशाह का मकबरा, रूपमती एवं बाज बहादुर के महल शामिल हैं।
- **कश्मीरी शैली**-कश्मीर के शासकों ने जिन उल्लेखनीय इमारतों का निर्माण करवाया, उनमें प्रमुख हैं-शाह हमदान की मस्जिद, जामा मस्जिद, जैन-उल-आबदीन की मां का मकबरा आदि। इस शैली में मुस्लिम एवं हिन्दू वास्तुकला का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कश्मीर में स्थित मदानी का मकबरा तथा उससे संलग्न मस्जिद स्थापत्य कला का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है।
- **बंगाल शैली**-सल्तनत काल में बंगाल आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था, किंतु वहां के शासकों का स्थापत्य के प्रति उदासीनता के कारण किसी उल्लेखनीय इमारत की रचना नहीं हो सकी। बंगाल के स्थापत्य में पत्थर का कम और ईंटों का अधिक प्रयोग हुआ है। इस शैली में वास्तुकला की मिश्रित शैली के दर्शन होते हैं। 400 गुम्बदों वाली अदीना मस्जिद, छोटा सोना मस्जिद, बड़ा सोना मस्जिद, कदम रसूल मस्जिद आदि बंगाली शैली की उत्कृष्ट कलाकृतियां हैं।
- **दक्कनी शैली**-दक्षिण में द्रविड़ एवं चालुक्य प्रभाव से युक्त एक नवीन शैली का उद्भव हुआ, जिसे दक्कनी शैली कहा जाता है। इस शैली का उद्भव एवं विकास बहमनी के सुल्तानों के संरक्षण में हुआ, जिसमें भारतीय, तुर्की और ईरानी शैलियों का समन्वय स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस शैली की इमारतें गुलबर्गा, अहमदाबाद, बीजापुर, हैदराबाद में निर्मित की गई हैं। जामा मस्जिद, चार मीनार, गोल गुम्बद, गगन महल इस शैली की अनुपम कलाकृतियां हैं।

प्रमुख मध्यकालीन स्थापत्य

- **हुमायूँ का मकबरा**-अकबर के शासनकाल की सबसे पहली इमारत दिल्ली में स्थित हुमायूं का मकबरा है जो हमायूं की पत्नी हाजी बेगम की देख-रेख में बनवाया गया था। यह मकबरा हिन्दुस्तानी तथा फारसी स्थापत्य कला की शैलियों का उत्कृष्ट समन्वय प्रस्तुत करता है।
- **आगरा का लाल किला**-आगरा के लाल किले का निर्माण स्वयं अकबर की देख-रेख में किया गया था। आगरा में यमुना नदी के समानांतर स्थित इस किले में दो मुख्य द्वार हैं। पश्चिमी द्वार को 'दिल्ली द्वार' कहा जाता है। अन्य दूसरा द्वार 'अमर सिंह द्वार' के नाम से विख्यात है। लाल पत्थर से निर्मित इस किले की दीवारें लगभग 70 फुट ऊंची हैं। यह किला डेढ़ मील के क्षेत्र में विस्तृत है। इस किले की सामान्य रूपरेखा राजा मान सिंह द्वारा बनवाये गये ग्वालियर के किले से मिलती-जुलती है।
- **फतेहपुर सीकरी**-इस नगर का निर्माण अकबर द्वारा आगरा से 26 मील की दूरी पर पहाड़ी पर करवाया गया। फतेहपुर सीकरी को अकबर ने 1571 ई. में राजधानी बनाकर यहां अनेक महलों और मकबरों का निर्माण करवाया। यहां की कुछ प्रमुख इमारतों में दिवाने आम, दिवाने खास और बुलंद दरवाजा शामिल हैं। इनमें लाल बलुआ पत्थर

के साथ संगमरमर का भी प्रयोग किया गया है। ये इमारतें फारसी शिल्प को दर्शाती हैं, परंतु इनमें भारतीय शिल्प सौंदर्य के भी दर्शन होते हैं।

- **शेख सलीम चिश्ती का मकबरा**-अकबर ने सूफी संत सलीम चिश्ती के मकबरे का निर्माण 1571 ई. में करवाया। इस इमारत की मुख्य विशेषता श्वेत संगमरमर के प्रयोग तथा सूक्ष्म जालियों के सौंदर्य में निहित है।
- **बीरबल का महल**-अपने नौ-रत्नों में एक बीरबल के लिए अकबर ने महल का निर्माण करवाया था। इस दो मंजिले भवन में कुल छः कमरे हैं, जिनमें से चार नीचे हैं तथा दो कमरे ऊपर की मंजिल पर बने हैं। इनकी छत पिरामिड के आकार की है।
- **जोधाबाई का महल**-इस महल का निर्माण अकबर ने करवाया था। फतेहपुर सीकरी में बने सभी भवनों में इसका आकार बड़ा है। इसकी रचना पारंपरिक रीति से की गई है।
- **पंचमहल**-यह पांच मंजिली भव्य एवं अत्यंत आकर्षक इमारत है। इस आयताकार महल का आकार नीचे से ऊपर की ओर छोटा होता गया है। इसमें प्रत्येक मंजिल पर पहुंचने के लिए सीढ़ियां निर्मित हैं। इस इमारत के सबसे नीचे वाली मंजिल में कुल 48 स्तम्भ हैं तथा सबसे ऊपरी मंजिल में चार स्तम्भ हैं। यह इमारत हिन्दू तथा मुस्लिम शिल्प शैली की अनुपम कृति है। इसकी ऊपरी मंजिल का गुम्बद अत्यंत ही आकर्षक है।
- **राजकुमारी मरियम उज्जमानी का प्रासाद**-यह इमारत फतेहपुर सीकरी में निर्मित है। इस इमारत में हिन्दू तथा मुस्लिम शिल्पकला शैली का उत्कृष्ट समन्वय दृष्टिगोचर होता है। यह इमारत 230 फीट लम्बी तथा 215 फीट चौड़ी है। इस इमारत का अलंकरण उच्च कोटि का है। इमारत के स्तंभों पर घण्टी तथा जंजीर अंकित है, जो हिन्दू कला का प्रतिनिधित्व करती है तथा इसके गुम्बद में मुगल कला की झलक मिलती है।
- **अकबर का मकबरा**-यह मकबरा सफेद संगमरमर का बना हुआ है। इसका निर्माण जहांगीर की पत्नी नूरजहां द्वारा आगरा में करवाया गया। यह इमारत जहांगीर के शासनकाल की दूसरी प्रमुख इमारत है, इस दो मंजिले मकबरे के प्रत्येक कोने पर अष्टकोणीय मीनारें बनी हुई हैं। इसका मुख्य कमरा काफी बड़ा है, जिसकी दीवारों पर पाक कुरान की आयतें उत्कीर्ण हैं। इस मकबरे में लाल पत्थरों के स्थान पर संगमरमर का प्रयोग किया गया है।
- **जहांगीर का मकबरा**-लाहौर के निकट शाहदरा में स्थित जहांगीर के मकबरे का निर्माण नूरजहां ने कराया था। यह मकबरा चारों ओर से ईंटों की ऊंची दीवारों से घिरा है। यह एक वर्गाकार इमारत है, जिसकी अनुपम साज-सज्जा, जड़ाऊ संगमरमर के प्रयोग, रंगीन खपरैलों की सजावट तथा उत्कृष्ट पच्चीकारी दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करती है।
- **दिल्ली का लाल किला**-इस किले का निर्माण शाहजहां ने करवाया था। वास्तुशिल्प की दृष्टि से यह अत्यंत ही कलात्मक है। इसका आकार समांतर चतुर्भुज के जैसा है। लालकिले में दो मुख्य दरवाजे हैं-पश्चिमी दरवाजे का नाम 'लाहौरी दरवाजा' और दक्षिणी दरवाजा का नाम 'दिल्ली दरवाजा' है। दिल्ली में स्थित यह किला बहुत विशाल है। इसकी लम्बाई 3200 फीट तथा चौड़ाई 1600 फीट है।

- **ताजमहल**-यह मुगलकाल की अद्वितीय रचना है। इस मकबरे का निर्माण बादशाह शाहजहां ने आगरा में यमुना नदी के किनारे अपनी बेगम अर्जुमंद बानू (मुमताज महल) की याद में करवाया था। इसे संगमरमर की स्वप्निल रचना कहा जाता है। इसकी योजना आयताकार है। इमारत के चारों किनारों पर आकर्षक मीनारें हैं। अपने सौंदर्य के कारण ताजमहल विश्वविख्यात है, और संसार के आठ आश्चर्यों में से एक है।
- **जामा मस्जिद**-दिल्ली स्थित इस मस्जिद का निर्माण शाहजहां ने करवाया था। इस इमारत के निर्माण में लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। ऊंचे चबूतरे पर निर्मित इस मस्जिद में तीन प्रवेश द्वार हैं, जिन पर बुर्ज निर्मित हैं। लालकिले के सामने स्थित इस मस्जिद के किनारों पर चार मीनारें हैं।
- **रबिया का मकबरा**-रबिया के मकबरे को बीबी का मकबरा के नाम से भी जाना जाता है। अपनी बीबी बेगम रबिया दुर्रानी की स्मृति में औरंगजेब ने महाराष्ट्र के औरंगाबाद में इस मकबरे का निर्माण कराया था। इस इमारत की स्थापत्य शैली में ताजमहल के असफल अनुकरण का प्रयास देखने को मिलता है।
- **बादशाही मस्जिद**-लाहौर स्थित इस मस्जिद का निर्माण औरंगजेब के शासनकाल में हुआ था। इस मस्जिद की वास्तुकला में दिल्ली की जामा मस्जिद के अनुकरण का असफल प्रयास किया गया है। इसमें रंगीन पत्थरों का भी प्रयोग किया गया है फिर भी यह कला की दृष्टि से एक सामान्य कोटि की मस्जिद है।
- **दीवाने-खास**-दिल्ली के लाल किले में स्थित यह महल शीशमहल के नाम से भी जाना जाता है। मण्डपों से युक्त इस भवन में उत्कृष्ट चित्रकारी की गई है। इसमें एक विस्तृत हाल की व्यवस्था है। इमारत की मेहराबें विभिन्न रंगों से सुसज्जित हैं, जो देखने में अत्यंत आकर्षक लगती हैं। इसका निर्माण मुगल बादशाह शाहजहां ने करवाया था।
- **दीवाने-आम**-शाहजहां ने इस इमारत का निर्माण लाल किले में करवाया था। इसकी बनावट अलंकारपूर्ण और वास्तुकला की दृष्टि से श्रेष्ठ है। यह इमारत 185 फीट लम्बी तथा 70 फीट चौड़ी है। इसमें चौड़े छज्जे वाली 9 मेहराबें हैं। इसकी छत निर्माण की तकनीक में हिन्दू शिल्प कला की झलक मिलती है। दीवाने-आम की विशेषता यह हैं कि उसके पीछे की दीवार में एक प्रकोष्ठ है, जिस पर मयूर सिंहासन रखा जाता था।
- **रंगमहल**-दिल्ली के लाल किले में स्थित विभिन्न रंगों से अंलकृत होने के कारण यह इमारत 'रंगमहल' कहलाती है। इमारत के पर्दे के रूप में संगमरमर की आकर्षक जालियां बनी हुई है। इस इमारत की लम्बाई 153 फीट तथा चौड़ाई 69 फीट है। महल में अनेक छोटे-छोटे कमरे निर्मित हैं तथा एक विस्तृत हॉल है। इसकी दीवारों पर जड़े चमकीले शीशे इसे अत्यधिक आकर्षक बना देते हैं। कला की दृष्टि से यह इमारत उच्च कोटि की है।

प्रमुख व्यक्तित्व

प्राचीन भारत के प्रमुख व्यक्तित्व

- **अश्वघोष** - अश्वघोष एक महान कवि, संगीतज्ञ, दार्शनिक, विद्वान, नाटककार एवं बौद्ध भिक्षु थे, जिन्होंने कुषाण

राजा कनिष्क को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। अश्वघोष ने गौतम बुद्ध के जीवन एवं शिक्षाओं को आधार बनाकर बुद्धचरित की रचना की। अश्वघोष ने कनिष्क के संरक्षणत्व में आयोजित चतुर्थ बौद्ध संगीति की अध्यक्षता भी की।

- **अलमसूदी** - अलमसूदी एक अरब यात्री था, जिसने बगदाद से वर्ष 915-916 में गुजरात की यात्रा की। उस समय गुजरात में प्रतिहार वंश के राजा महिपाल प्रथम का शासन था। अलमसूदी ने प्रतिहार राजाओं की बढ़ी हुई शक्ति, प्रतिष्ठा और साम्राज्य की विशालता का विस्तृत प्रमाण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त अलमसूदी ने प्रतिहार राज्य की सैन्य-व्यवस्था की भी बड़ी प्रशंसा की है।
- **आर्यभट्ट**-आर्यभट्ट पांचवी सदी के महान खगोलशास्त्री, गणितज्ञ तथा ज्योतिषविद् थे। आर्यभट्ट पाटलिपुत्र के रहने वाले थे। इन्होंने ही सर्वप्रथम पृथ्वी की परिधि का आंकलन किया तथा बताया कि पृथ्वी गोल है। 'आर्यभटीय' और 'सूर्य सिद्धांत' नामक ग्रंथों की रचना आर्यभट्ट ने ही की थी।
- **उपगुप्त**-उपगुप्त बौद्ध धर्म का अनुयायी तथा एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु था। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में उपगुप्त ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। उपगुप्त ने ही सम्राट् अशोक को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था तथा उसे बौद्ध धर्म के पवित्र स्थलों की यात्रा करायी थी।
- **कल्हण**-कल्हण बारहवीं सदी के प्रसिद्ध कवि एवं इतिहासकार थे। वह कश्मीर के महाराज हर्षदेव के महामात्य चंपक के पुत्र थे। उन्होंने प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ राजतरंगिणी की रचना की, जिसे भारतीय इतिहास का प्रथम प्रामाणिक, ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है। राजतरंगिणी में कश्मीर के राजाओं के जीवन-चरितों का संग्रह है।
- **कालिदास**-कालिदास पांचवी शताब्दी के प्रसिद्ध संस्कृत कवि एवं नाटककार थे। कालिदास को गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय का दरबारी कवि माना जाता है। इन्होंने रघुवंशम तथा कुमारसंभव नामक महाकाव्यों तथा प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान शाकुंतलम, विक्रमोवर्शीयम व मालविकाग्निमित्रम की रचना की। इनकी अन्य रचनाएं हैं-मेघदूत एवं ऋतुसंहार।
- **कौटिल्य**-कौटिल्य तक्षशिला का एक ब्राह्मण था, जिसे चाणक्य और विष्णुगुप्त के नाम से भी जाना जाता है। चाणक्य मौय साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त के प्रधानमंत्री, सलाहकार एवं गुरु थे। इन्हें राजनीति का जनक माना जाता है। इनके द्वारा रचित अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र पर लिखा गया भारत का प्रथम तथा प्रसिद्ध ग्रंथ है।
- **गौतमबुद्ध**-गौतम बुद्ध बौद्ध धर्म के प्रवर्तक थे। इनका जन्म 563 ई.पू. में (नेपाल) लुम्बिनी में हुआ था। गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार किया और जनसमुदाय को एक नवीन दिशा प्रदान की। इन्होंने गया में ज्ञान प्राप्ति के उपरांत अपना प्रथम उपदेश वाराणसी के समीप स्थित सारनाथ में दिया था। इनकी मृत्यु 483 ई.पू. में कौशाम्बी में हुई थी।
- **चरक**-चरक, कुषाण वंशीय शासक कनिष्क के शासनकाल में प्रसिद्ध वैद्य थे। कनिष्क ने चरक को संरक्षण प्रदान किया था। चरक ने आयुर्वेद चिकित्सा एवं औषधि विज्ञान पर एक प्रसिद्ध पुस्तक चरक-संहिता की रचना की थी। चरक का समय 200 ई. के आसपास निर्धारित किया जाता है।
- **नागार्जुन**-नागार्जुन एक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक था। उसे कुषाण वंश के शासक कनिष्क का

संरक्षण प्राप्त था। नागार्जुन ने दो प्रसिद्ध ग्रंथों - सुहल्लेख ओर माध्यकारिका की रचना की। नागार्जुन ने ही शून्यवाद का प्रतिपादन किया था। इन्हें भारत का आइंस्टीन कहा जाता है।

- **पतंजलि**-पतंजलि शुंगवंशीय पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। इन्होंने पाणिनि के अष्टाध्यायी पर महाभाष्य ग्रंथ की रचना की जिसे एक उत्कृष्ट रचना माना जाता है। योगसूत्र की रचना भी पतंजलि ने ही की थी। योगसूत्र ही योग दर्शन का मूल मंत्र है।
- **पाणिनि**-पाणिनि की गणना संस्कृति साहित्य के प्रकाण्ड विद्वानों में की जाती है। इन्होंने संस्कृत व्याकरण के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ अष्टाध्यायी की रचना की। इसकी रचना इन्होंने 400 ई.पू. के आस-पास की थी। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में तत्कालीन समाज, अर्थव्यवस्था तथा सांस्कृतिक दशा पर उत्कृष्ट प्रकाश डाला है।
- **फाहियान**-फाहियान एक चीनी तीर्थ-यात्री था, जो गुप्त शासक चंद्र-गुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल में भारत आया था। वह 405 से 411 ई. के मध्य 6 वर्ष तक भारत में रहा। वह तीन वर्ष पाटलिपुत्र में तथा दो वर्ष तक्षशिला में रहा। फाहियान, विनयपिटक की प्रामाणिक प्रति प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत आया था। फाहियान कुमारजीव का शिष्य था, जिसने चीन में बौद्ध धर्म की शाखा-महायान का प्रचार किया था।
- **बाणभट्ट**-बाणभट्ट संस्कृत-साहित्य के अद्वितीय विद्वान थे। वह हर्षवर्द्धन के दरबार में प्रमुख कवि थे। उन्होंने हर्षचरित एवं कादम्बरी नामक दो ग्रंथों की रचना की। बाण ने हर्षचरित 620 ई. में लिखी, जिसमें हर्ष के शासनकाल के आरंभिक वर्षो का विवरण मिलता है। कादम्बरी एक उत्कृष्ट किंतु कल्पना से प्रेरित कथा है।
- **भास**-भास, संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध नाटककार थे। भास ने तेरह नाटक लिखे जिनमें चारुदत्त और स्वप्नवासवदत्ता प्रमुख हैं। बालचरित पंचरात्र, दूतवाक्य, दूत घटोत्कच, कर्ण भार, उरूभंग आदि अन्य प्रसिद्ध नाटक हैं। भास के नाटकों का लोप हो गया था, पर केरल के गणपति शास्त्री ने बीसवीं सदी में इन रचनाओं को पुनः ढूंढ़ निकाला।
- **वर्द्धमान महावीर**-वर्द्धमान महावीर जैन धर्म के 24वें एवं अंतिम तीर्थकर थे। इनका जन्म आधुनिक बिहार राज्य के वैशाली जिले में स्थित कुण्डग्राम में 40 ई.पू. में हुआ था। इन्होंने जैन धर्म के पंच-महाव्रत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। इन्होंने समस्त भारत में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया। इनकी मृत्यु 468 ई.पू. में हुई थी।
- **मिहिर कुल**-मिहिरकुल हूणों का राजा था, जो तोरमाण का पुत्र और उत्तराधिकारी था। मिहिरकुल बड़ा अत्याचारी था, उसने बौद्धों का क्रूरतापूर्वक दमन किया। मिहिरकुल ने अपनी राजधानी पंजाब में साकल अथवा सियालकोट में स्थापित की थी। मिहिरकुल ने भारत पर लगातार और तब तक आक्रमण किये, जब तक कि 528 ई. में मगध के राजा बालादित्य और मंदसौर के राजा यशोधर्मन ने मिलकर उसे पराजित नहीं किया।
- **मोग्गलिपुत्त तिस्स**-मोग्गलिपुत्त तिस्स एक बौद्ध भिक्षु था, जो कि सिंहली जाति का था। श्रीलंका में लिखे गए बौद्ध ग्रंथ महावंश के अनुसार , मोग्गलिपुत्त तिस्स ने अशोक को बौद्ध धर्म में दीक्षित करवाया था। मोग्गलिपुत्त तिस्स ने अशोक द्वारा पाटलिपुत्र में आयोजित तृतीय बौद्ध संगीति की अध्यक्षता भी की थी।

- **राजशेखर**-राजशेखर कान्यकुब्ज के प्रतिहारवंशीय नरेश महेन्द्रपाल के उपाध्याय थे। राजशेखर का काल लगभग 880-920 ई. मान्य है। इन्होंनें 'काव्य मीमांसा' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें कवियों के लिए व्यवहारिक नियमों का वर्णन है। इसका नाम कवि रहस्य भी है। जो वस्तुत: कवि के रहस्य को प्रकट करता है। बालरामायण, कर्पूरमंजरी तथा 'विद्धशालभञ्जिका' राजशेखर द्वारा रचित प्रमुख ग्रंथों में है।
- **वाराहमिहिर**-वाराहमिहिर गुप्त शासक चंद्रगुप्त द्वितीय के नवरत्न में एक थे। वह प्राचीन भारत में खगोलशास्त्र और ज्योतिष के ख्याति लब्ध विद्वान थे। उनका समय 507 से 587 ई. के मध्य निर्धारित किया जाता है। वाराहमिहिर की सुविख्यात कृति है - वृहत्संहिता। वाराहमिहिर ने ही सर्वप्रथम बताया था कि चंद्रमा पृथ्वी का चक्कर लगाता है और पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगाती है।
- **विशाखदत्त**-विशाखदत्त संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान थे। उन्होंने 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक की रचना की जिससे मौर्य साम्राज्य की जानकारी मिलती है। सात अंकों के इस नाटक में चाणक्य की सहायता से चंद्रमुप्त द्वारा नंद राजा को पराजित कर मौर्य साम्राज्य की स्थापना का वर्णन किया गया है।
- **बिल्हण**-बिल्हण, कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य के दरबारी कवि थे। कश्मीर के एक साधारण ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न होने वाले बिल्हण संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान थे। बिल्हण का आविर्भाव काल 1088 ई. माना जाता है। इनकी विश्व प्रसिद्ध रचना 'विक्रमांकदेवचरित' है, जिसमें इन्होंने राजा विक्रमादित्य के युद्धों और आखेट यात्राओं का वर्णन किया है।
- **सुश्रुत**-सुश्रुत, गुप्तकालीन प्रसिद्ध वैद्य थे। इन्होंने आयुर्वेद के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा आयुर्वेद की धनवंतरि शाखा की स्थापना की। सुश्रुत संहिता की रचना सुश्रुत ने ही की थी, जिसमें मोतियाबिंद, पथरी तथा अन्य कई बीमारियों का शल्योपचार बताया गया है। सुश्रुत को शल्य चिकित्सा का जनक माना जाता है।

मध्यकालीन भारत के प्रमुख व्यक्तित्व

- **अब्दुर्रहीम खानखाना**-अब्दुर्रहीम खानखाना अकबर का योग्य सेनापति व बैरम खां का पुत्र था। अकबर ने उसे खानखाना की उपाधि से सम्मानित किया था। वीर योद्धा होने के साथ-साथ वह एक प्रसिद्ध कवि भी था। रहीम ने बाबर की आत्मकथा का तुर्की से फारसी में अनुवाद किया। रहीम की मुत्यु जहांगीर के शासनकाल में हुई।
- **अलबरूनी**-अबू-रिहान-मुहम्मद-बिन-अहमद-अलबरूनी ख्वारिज्मी का जन्म 970-71 ई. में हुआ था। सुल्तान महमूद द्वारा अलबरूनी को बंधक के रूप में गजनी लाया गया था। भारत में अपने 40 वर्षों के प्रवास के दौरान अलबरूनी ने तहकीकात-ए-हिन्द नामक पुस्तक की रचना की। गणित और ज्यामिति पर आधारित पुस्तक 'कानून मसूदी' की रचना भी अलबरूनी ने ही की थी।
- **अब्दुर्रज्जाक**-अब्दुर्रज्जाक ईरान के शाह का राजदूत बनकर कालीकट के जेमोरीन के पास आया था। अब्दुर्रज्जाक ने 1443 ई. में विजयनगर साम्राज्य की यात्रा की। विजयनगर के संदर्भ में उसका कहना था के पृथ्वी पर इतना

विशाल दूसरा नगर है ही नहीं। अब्दुर्रज्जाक ने विजयनगर की सुदृढ़ प्रशासन व्यवस्था और सामाजिक जीवन का भी चित्रण किया है।

- **अथनेसियस निकितिन**-निकितिन रूस का निवासी एवं घोड़ों का सौदागर था। वह व्यापार के सिलसिले में दक्षिण भारत और बहमनी साम्राज्य में कुछ वर्ष रहा। उसने लम्बें समय तक बीदर में निवास किया। उसने बहमनी राज्य की सेना ओर सामाजिक दशा का वर्णन किया। निकितिन के अनुसार दक्षिण भारत में अमीरों और गरीबों के बीच बहुत बड़ी खाई थी।
- **अबुल फजल**-अबुल-फजल, मुगल शासक अकबर के नवरत्नों में से एक था। अबुल फजल विद्वान होने के साथ-साथ सुप्रसिद्ध इतिहासकार भी था। उसने अकबर के समय का इतिहास तथा आइन-ए-अकबरी में अकबर के साम्राज्य का विस्तृत वर्णन किया है। 1602 ई. में अबुल फजल की हत्या बुंदेल राजा वीर सिंह द्वारा शहजादा सलीम के इशारों पर कर दी गई गई।
- **अब्दुल कादिर बदायूंनी**-अब्दुल कादिर बादायूंनी का जन्म 1540 ई. में टोडा में हुआ था। 1589 में अकबर ने उसको बदायूं में एक हजार बीघा जमीन दी, और अपने दरबार में नियुक्त किया। वह संगीत और ज्योतिषि विद्या में निपुण था। उसने किताबुल अहदिश, तारीख-ए-अल्फी, मुन्तखाब-उल-तवारीख, तारीख-ए-बदायूंनी आदि पुस्तकों की रचना की, जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्वपूर्ण है।
- **अफीफ**-अफीफ का पूरा नाम शम्स-ए-सिराज अफीफ था। वह फारसी का विद्वान लेखक था। उसे दिल्ली के तुगलक सुल्तान फिरोजशाह ने संरक्षण प्रदान किया था। अफीफ अपनी फारसी रचना 'तारीख-ए-फिरोजशाही' के लिए प्रसिद्ध हैं, जिसमें फिरोजशाह तुगलक के शासनकाल की ऐतिहासिक घटनाओं का यथासंभव वर्णन किया है।
- **अब्दुल हमीद लाहौरी**-अब्दुल हमीद लाहौरी मुगलकालीन प्रसिद्ध इतिहासकार था। उसने शाहजहां के शासनकाल में 'पादशाहनामा' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में शाहजहां के संबंध में बचपन से लेकर अंत तक का संपूर्ण सचित्र विवरण है। शाहजहां के समय में ही दो अन्य पादशाहनामे लिखे गए-एक मोहम्मद अमीर खान कायन्मी द्वारा तथा दूसरा मोहम्मद वारिस शाह द्वारा।
- **आईन-उल-मुल्क मुल्तानी**-आईन-उल-मुल्क मुल्तानी खिलजी दरबार में था। अलाउद्दीन खिलजी ने उसे मालवा का सूबेदार बनाया। मोहम्मद-बिन-तुगलक ने उसे मुल्तान का इक्ता दिया। उसने अपनी पुस्तक इंशा-ए-माहरू में विभिन्न महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को 133 पत्र लिखे हैं, जो कई विषयों से संबंधित हैं। इस पुस्तक में अनेक दस्तावेजों को भी संग्रहीत किया गया है। यह पुस्तक तुगलकाल के लिए महत्त्वपूर्ण है।
- **इब्नबतूता**-इब्नबतूता मोरक्को का निवासी था। वह भारत में 1334-47 ई. तक रहा। उसकी पुस्तक 'रेहला' में सुल्तान मोहम्मद-बिन-तुगलक के शासनकाल के सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक परिवेश का वर्णन मिलता है। उसने इस पुस्तक में सामाजिक परिवेश से संबंधित सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला है।
- **इनायत खां**-इनायत खां शाहजहां के दरबार में उच्चाधिकारी था। उसने 'शाहजहांनामा' नाम से शाहजहाँ की जीवनी लिखी, जिसमें उसके प्रारंभिक तेरह वर्ष के शासनकाल का वर्णन है। शाहजहांनामा के नाम से एक अन्य पुस्तक

मोहम्मद सादिक खां ने लिखी। इस पुस्तक में सादिक खां ने शाहजहां के संपूर्ण शासनकाल की घटनाओं को लिपिबद्ध किया है।

- **एकनाथ**-एकनाथ भक्ति आंदोलन के प्रसिद्ध संत और धर्मसुधारक थे, जिनका जन्म 1550 ई. के लगभग महाराष्ट्र में हुआ था। जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी एकनाथ ने जाति-भेद को अनुचित माना। महार नामक निम्न जाति के एक व्यक्ति के साथ एकनाथ के भोजन करने के प्रसंग मिलते हैं। अपनी रचनाओं तथा उपदेशों द्वारा उन्होंने मराठा शक्ति के अभ्युदय में महत्वपूर्ण योगदान दिया।
- **कबीर**-कबीर भक्ति आंदोलन के प्रभावशाली संत, महान समाज सुधारक एवं निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। कबीर के अधिकांश विचार हिंदू धर्म से प्रभावित हैं, लेकिन उन पर मुसलमान सूफी संतों और कवियों का भी अच्छा प्रभाव था। उन्होंने ईश्वर की एकता पर बल देते हुए जाति प्रथा का घोर विरोध किया तथा भक्ति एवं प्रेम को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताया।
- **गुलबदन बेगम**-गुलबदन बेगम, मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर की पुत्री थी। वह एक विदुषी महिला थी। उसने अपनी रचनाओं में मुगलकालीन घटनाओं का बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन किया है। गुलबदन बेगम द्वारा रचित हुमायूंनामा में 1530 से 1556 ई. तक के हुमायूं के शासनकाल के संबंध में महत्वपूर्ण विवरण मिलता है। मुगलकालीन भारत में आंरभिक वर्षो की आर्थिक दशा की जानकारी का हुमायूंनामा महत्वपूर्ण श्रोत है।
- **मिर्जागालिब**-मिर्जागालिब को गजलों का जनक कहा जाता है। विशेष रूप से उर्दू भाषा में लिखित रचना को गजल के रूप में गाया जाता है। मिर्जा गालिब का जन्म दिल्ली में हुआ था। उन्होंने काफी लोकप्रिय गजलों की रचना की।
- **गुरुगोविंद सिंह** - गुरुगोविंद सिंह सिक्खों के दसवें तथा अंतिम गुरु थे। इन्होंने ही सिक्खों को एक सैनिक शक्ति के रूप में स्थापित कराया। पाहुल प्रथा की शुरुआत भी गुरुगोविंद सिंह ने की। खालसा की नींव भी गुरुगोविंद सिंह ने ही डाली थी। उन्होंने औरंगजेब की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार युद्ध में बहादुरशाह का पक्ष लिया और उसके जीत में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
- **चंदबरदाई**-चंदबरदाई मध्यकालीन भारत के प्रसिद्ध कवि थे। दिल्ली और अजमेर के राजदूत शासक पृथ्वीराज चौहान ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया था। चंदबरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' नामक वीरगाथात्मक महाकाव्य की रचना की थी। इस महाकाव्य में पृथ्वीराज चौहान की उपलब्धियां तथा मुस्लिम शासकों से युद्ध का प्रसंग वर्णित है।
- **छत्रसाल**-छत्रसाल बुंदेला चम्पतराय का पुत्र और उसका उत्तराधिकारी था। आरंभ में छत्रसाल ने शिवाजी के विरुद्ध औरंगजेब की सेनाओं का समर्थन किया, परंतु बाद में यही मराठा नेता उनके प्रेरणास्रोत बन गयें। अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से छत्रसाल ने शिवाजी की ही भांति साहसिक और जोखिमपूर्ण कदम उठाया। अंतत: 1671 में मालवा में उसने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया।

- **जयदेव**-जयदेव, बंगाल के प्रसिद्ध कवि थे, इन्हें बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन का संरक्षण प्राप्त था। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना गीत गोविन्द है, जिसे आज भी अत्यधिक लोकप्रिय भक्तिमय गीतिकाव्य माना जाता है। संस्कृत में रचित इन गीतों में राधा और कृष्ण के अलौकिक प्रेम को वर्णित किया गया है जो अत्यंत ही उत्कृष्ट है।
- **जियाउद्दीन बर्नी**- जियाउद्दीन बर्नी, एक प्रसिद्ध मुस्लिम इतिहासकार था, जिसे सल्तनत कालीन तुगलक वंश के शासक फिरोजशाह तुगलक का संरक्षण प्राप्त था। इसके द्वारा उर्दू में रचित ग्रंथ 'तारीख-ए-फिरोजशाही' है, जिसमें उसने फिरोजशाह तुगलक के शासनकाल का विस्तृत विवरण किया है।
- **जीन बैप्टिस्ट**-ट्रैवेरनियर एक फ्रांसीसी व्यापारी था, जो शाहजहां के शासनकाल में एक यात्री के रूप में भारत आया। उसने 1641 से 1686-87 के बीच छः बार भारत की यात्रा की। उसके विवरणों से समुद्री मार्ग, सड़क मार्ग, सिक्कों, बाटों, निर्यात, परिवहन के साधनों की जानकारी मिलती है। ट्रैवेरनियर मुख्यतः हीरों का व्यापारी था। ट्रैवेरनियर ने ही भारत के प्रसिद्ध हीरे कोहिनूर के संबंध में जानकारी दी है।
- **टोडरमल**-टोडरमल, मुगल सम्राट् अकबर का वित्त मंत्री था, जिसे राजा की उपाधि से सम्मानित किया था। वह अकबर के दरबार में 1573 में आया। टोडरमल ने ही भूमि नापने की समरूप प्रणाली विकसित की थी। टोडरमल अकबर के नवरत्नों में से एक था। टोडरमल के कार्यों से प्रभावित होकर अकबर ने उसे 1580 में बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा का सूबेदार नियुक्त किया।
- **डोमिंगो पायस**-डोमिंगो पायस एक महान पुर्तगाली यात्री था, जिसने कृष्णदेव राय के शासनकाल में विजयनगर की यात्रा की। पायस विजयनगर साम्राज्य की विशालता और प्रसिद्धि का प्रत्यक्ष गवाह था। पायस ने लिखा है, विजयनगर रोम के बराबर बड़ा नगर है। विश्व में इससे अधिक खूबसूरत कोई दूसरा नगर नहीं हैं।
- **तुलसीदास**-तुलसीदास भक्तिकाल के महान संत एवं रामभक्ति शाखा के सगुणोपासक कवि थे। इनका जन्म उत्तर प्रदेश के बांदा जिले के राजापुर नामक ग्राम में हुआ था। इनकी पत्नी का नाम रत्नावली था जिसके उपदेश से तुलसी एक महान कवि के रूप में प्रख्यात हुए। इनकी प्रसिद्ध रचना रामचरितमानस की गणना विश्व के प्रमुख ग्रंथों में की जाती है। कवितावली, गीतावली, विनय-पत्रिका आदि इनकी अन्य प्रसिद्ध कृतियां हैं।
- **गुरू तेगबहादुर**-गुरू तेगबहादुर, सिक्खों के नवें गुरू थे। वे सिक्खों के छठे गुरू हरगोविन्द सिंह जी के पुत्र थे। मुगल सम्राट के विरूद्ध कश्मीर के ब्राह्मणों को भड़काए जाने के आरोप में इन्हें बंदी बना लिया गया और यह शर्त रखी गयी कि या तो मुसलमान बन जाएं या मृत्यु को स्वीकार कर लें। तेगबहादुर ने धर्म छोड़े की अपेक्षा मौत को गले लगाना उचित समझा और 1675 में औरंगजेब की आज्ञा से उन्हें मृत्युदंड दे दिया गया।
- **त्यागराज**-संत, विद्वान एवं कवि त्यागराज का जन्म तमिलनाडु के तंजौर जिले में हुआ था। त्यागराज को कर्नाटक संगीत का जनक कहा जाता है। उन्होंने कर्नाटक संगीत को एक नई दिशा प्रदान की। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय तिरूवाचुरू में व्यतीत किया, जहां उन्होंने समाधि भी ली। उनके कार्यों में-पंचरत्नकृति, उत्सव सम्प्रदाय कीर्तन, प्रहलाद भक्ति विजयम एवं नौका चरितम आदि प्रमुख है। उन्होंने ईश्वर की आराधना भगवान राम के रूप में की।

- **सर थॉमस रो**-सर थॉमस रो ब्रिटिश दूत था। यह 1616 में मुगल सम्राट् जहांगीर के दरबार में आया। उसे जहांगीर के साथ मांडू अहमदाबाद और अजमेर जैसे अनेक स्थलों पर भ्रमण करने का अवसर मिला। वह 1619 में बादशाह के इस आशय का फरमान लेकर इंग्लैण्ड लौटा कि मुगल दरबार में अंग्रेजों का इस तरह स्वागत किया जाता रहेगा। थॉमस रो ने मुगल दरबार में होने वाले षड्यंत्रों एवं भ्रष्टाचार के विषय में भी लिखा है।
- **दादू**-दादू दयाल का जन्म गुजरात राज्य के अहमदाबाद में हुआ था। लेकिन उनका अधिकांश जीवन राजस्थान में नरैना और मुरैना में व्यतीत हुआ। वह जाति से मोची थे। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन किया और छुआछूत, मूर्ति पूजा, अवतारवाद आदि का विरोध किया। दादू एकेश्वर वादी थे। दादू ने ईश्वर की भक्ति के लिए समर्पण की भावना को मुख्य माना है।
- **निकोलो कोण्टी**-निकोलो कोण्टी इटली का निवासी था। उसने दक्षिण भारत के विजयनगर सम्राज्य की यात्रा की। वह विजयनगर के शासक देवराय प्रथम के शासनकाल में 1420-21 में आया था। उसने अपनी यात्रा के विवरणों का लैटिन भाषा में लिखा, जिससे विजय नगर साम्राज्य के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।
- **निम्बार्काचार्य**-निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतवाद के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। निम्बार्क तेलुगू ब्राह्मण थे और उन्होने गंगा की घाटी में खासी लोकप्रियता हासिल की। निम्बार्क का मत है कि जीवन अवस्था-भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। निम्बार्क ने राधा-कृष्ण की युगल उपासना का विधान किया, जिसके आधार पर बाद में स्वामी हरिदास ने सखी-सम्प्रदाय की स्थापना की।
- **नुनीज**:-नुनीज एक पुर्तगाली यात्री था, जो 1535 में विजयनगर आया था। उसने संपूर्ण विजयनगर राज्य का विस्तृत भ्रमण किया और उसके इतिहास तथा उस समय की राजनीजिक, सामाजिक, धार्मिक-सांस्कृतिक एवं आर्थिक दशा का विस्तृत वर्णन किया है। नुनीज ने विजयनगर की स्थापना से लेकर अच्युत देवराय तक वर्णन किया है।
- **पेट्रा डेला वाले**- पेट्रा डेला वाले एक इतालवी यात्री था, जो 1663 में सूरत पहुंचा। उसने खंभात, अहमदाबाद, चोल, गोआ इक्कड़ी, मंगलौर, कालीकट आदि कई स्थानों की यात्राएं की। उसके यात्रा विवरणों का प्रथम संस्करण 1663 में इतालवी भाषा में प्रकाशित हुआ था। पेट्रा डेला वाले ने भारतीय लोगों की धार्मिक मान्यताओं, अंधविश्वासों तथा रीति-रिवाजों का भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।
- **फ्रांसिस्को पेलसार्ट**-फ्रांसिस्को पेलसार्ट एक डच गुमाश्ता था, जो जहांगीर के शासनकाल में भारत आया। पेलसार्ट ने भारत में मसूलीपट्टम से प्रवेश किया और उपमहाद्वीप के संपूर्ण उत्तरी और पश्चिमी भागों मे उत्पादन और व्यापार से संबंधित महत्वपूर्ण स्थलों का भ्रमण किया। पेलसार्ट ने इन स्थलों की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का उत्यधिक रोचक वर्णन अपने वृतांत में किया है।
- **बर्नियर**-बर्नियर एक विद्वान फ्रांसीसी चिकित्सक था, जो भारत में मुगलकाल में 1656 से 1668 तक रहा। उसने शाहजहां तथा औरंगजेब के मध्यवर्ती शासनकाल का रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। बंगाल की समृद्धि देखकर वह बहुत प्रभावित हुआ था, पर जनसाधारण की निर्धनता से वह अत्यधिक द्रवित भी हो गया था।

- **बारबोसा**–बारबोसा पुर्तगाल का निवासी था। उसने विजयनगर की यात्रा सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक कृष्णदेवराय के शासनकाल में की। उसके पश्चात् उसने उत्तरी भारत तथा बंगाल की यात्रा की। बारबोसा ने राजा कृष्णदेवराय के श्रेष्ठ प्रशासन और उनके साम्राज्य की समृद्धि की प्रशंसा खुले शब्दों में की है। वह विजयनगर की समृद्धि और बंगाल में निर्मित उत्कृष्ट वस्तुओं से अत्याधिक प्रभावित हुआ।
- **राजा बीरबल**–बीरबल, अकबर के नवरत्नों में से एक थे। बीरबल एक राजपूत सरदार थे, जिनका वास्तविक नाम महेशदास था। अकबर ने उन्हें 'राजा' तथा कविराय की उपाधि से विभूषित किया। बीरबल अपनी हाजिरजवाबी के लिए प्रसिद्ध थे। 1506 में पश्चिमोत्तर सीमा के यूसुफजाई कबीले पर चढ़ाई करते समय बीरबल युद्ध में मारे गये थे।
- **मलिक अम्बर** – मलिक अम्बर, अहमदनगर राज्य का वजीर था। वह अहमदनगर में एक गुलाम के रूप में आया था, लेकिन अहमदनगर में योग्य व्यक्तियों के अभाव में मलिक अम्बर ने अपनी स्थिति सुदृढ़ की और अहमद नगर को नेतृत्व प्रदान करने की कोशिश की। चांद बीबी के मृत्यु के बाद वह अहमदनगर का वजीर बन गया। और मुगल सम्राट जहांगीर के दक्षिण अभियान के समय अहमदनगर की स्वतंत्रता को बचाए रखने की कोशिश की। मलिक अम्बर ने ही अहमदनगर की सेना को गुरिल्ला-युद्ध की शिक्षा दी थी।
- **मलिक काफूर** – मलिक काफूर दिल्ली सल्तनत के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी का एक प्रसिद्ध गुलाम था, जो गुजरात से लाया गया था। मलिक काफूर को 'हजार दीनारी' भी कहा जाता था, उसे एक हजार दीनार देकर खरीदा गया था। अलाउद्दीन ने 1307 में काफूर को सल्तनत का मलिक नायक (सेनापति) बना दिया। मलिक नायक के रूप में काफूर ने दक्षिण में अनेक अभियान किए और देवगिरि, वारंगल, द्वारसमुद्र, मदुरा और मालाबार को जीतकर दिल्ली सल्तनत के अधीन कर दिया।
- **मनूची**–मनूची वेनिस का रहने वाला था। वह 14 वर्ष की आयु में वेनिस से भागकर भारत आया और 1653 में दारा शिकोह की सेना में भर्ती हो गया। दारा की पराजय के पश्चात् उसने चिकित्सक का व्यवसाय अपना लिया और 1708 तक भारत में रहा। उसने अपने विवरणों में दक्षिण भारत और भारत के उद्योगों की महत्वपूर्ण जानकारी दी है। उसके विवरण तत्कालीन भारतीय आर्थिक दशा का वास्तविक चित्रण करते हैं।
- **फादर मोंसेरात** – फादर एंथोनी मोंसेरात, फादर एक्वाविवा के साथ 1578 में पुर्तगाल से भारत आया था। वह 1580–82 में अकबर के दरबार में रहा था। उसे शहजादा मुराद का शिक्षक नियुक्त किया गया था। उसने सूरत, मांडू, सिरोंज, नरवर, ग्वालियर, दिल्ली, सरहिन्द, लाहौर आदि शहरों का वर्णन किया है। फादर मोंसेरात ने अकबर के दरबार का भव्य वर्णन किया है। उसने मांडू के रथ सप्तमी और परवर की होली और मुहर्रम उत्सव का वर्णन भी किया है।
- **मार्कोपोलो** – मार्कोपोलो वेनिस का रहने वाला था। उसने 1292–93 में दक्षिण भारत की यात्रा की। मार्कोपोलो ने अपनी यात्राओं का वर्णन 'बुक ऑफ सर मार्कोपोलो' में किया है। इस पुस्तक में भारत की तत्कालीन आर्थिक स्थिति का वर्णन किया गया है। मार्कोपोलो ने दक्षिण भारत का आश्चर्यजनक वर्णन किया है। मार्कोपोलो पांड्य राजा के दरबार में आया था।

- **मिन्हास-उस-शिराज-मिन्हास-उस-शिराज** ने सल्तनत-काल में खिलजी काल के प्रारंभिक वर्षों में तबाकत-ए-नासिरी नामक पुस्तक लिखी। इसमें उसने राजनीतिक इतिहास का वर्णन किया है। यह पुस्तक तेईस तबाकतों अर्थात् जीवनियों में विभक्त है जिसमें राजवंशों के संदर्भ में क्रमानुसार विवरण मिलता है।
- **राल्फ फिंच** - राल्फ फिंच एक ब्रिटिश यात्री था, जो 1588 से 1591 तक भारत में रहा। उसने खंभात, आगरा, फतेहपुर सीकरी, बनारस, पटना और बुरहानपुर आदि के संबंध में विवरण प्रस्तुत किया। फिंच प्रथम अंग्रेज यात्री था, जिसने भारतीय जनता के संबंध में उनकी वेश-भूषा और रीतिरिवाज के संबंध में लिखा है। उसने सोलहवीं शताब्दी में भारत की व्यापार दशा का वर्णन किया है।
- **रामानुजाचार्य** - इस मत की स्थापना की थी। इस सिद्धांत के अनुसार, पुरुषोत्तम ब्रम्ह, सगुण और सविशेष हैं। मोक्ष अवधारणा के प्रति इनका दृष्टिकोण सभी वर्गो के लिए एक समान नहीं था। बल्कि उच्च तथा निम्न वर्गो के लिए उन्होंने क्रमश: मोक्ष और प्रपित्ति के विचार प्रस्तुत किए, जिसमें प्रपित्ति को ईश्वर के समक्ष पूर्ण आत्मसमर्पण का एक माध्यम बताया गया है। रामानुजाचार्य का समय 11वीं शताब्दी निर्धारित किया गया है।
- **वल्लभाचार्य** - वल्लभाचार्य कृष्ण भक्ति शाखा के महान संत थे। उनका जन्म 1479 में वाराणसी में हुआ था। उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा में अनेक ग्रंथ लिखे। ईश्वर प्रेम वल्लभाचार्य के दर्शन का प्रमुख आधार था। पुष्टि मार्ग और भक्ति को वे ईश्वर प्राप्ति का साधन मानते थे। उनकी दृष्टि में श्री कृष्ण परम ब्रम्ह थे।
- **विलियम हॉकिन्स** - विलियम हॉकिन्स ईस्ट इंडिया कंपनी का एक व्यापारिक कर्मचारी थी। वह 1608 में जहांगीर के दरबार में आया और 1613 तक भारत में रहा। हॉकिन्स ने जहांगीर के दरबार और महल की साज-सज्जा तथा जहांगीर के व्यक्तिगत जीवन का विस्तृत विवरण लिखा है। हॉकिन्स ने लिखा है-भारत चांदी के मामले में बहुत समृद्ध है, क्योंकि सभी देशों के व्यापारी अपने सिक्कों के बदले में यहां से वस्तु ले जाते हैं। चांदी यहाँ आती तो है, किंतु यहां से जाती नहीं है।
- **सायण**-सायण, मध्यकालीन भारत के प्रसिद्ध विद्वान और राजनीतिज्ञ थे। वे विजयनगर के राजा हरिहर द्वितीय के मंत्री थे। उन्होंने चारों वेदों-ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद पर प्रसिद्ध भाष्य लिखा। सायण की मृत्यु 1387 में हो गई।
- **सूरदास**-सूरदास 16वीं शताब्दी के महान कवि एवं भक्ति आंदोलन के प्रमुख संत थे। उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से कृष्ण-भक्ति का खूब प्रचार किया। यद्यपि जन्मान्ध थे, किंतु उनकी रचनाओं में जीवन और प्रकृति का सजीव वर्णन मिलता है। सूरसागर, सूर-सारावली एवं सहित्य लहरी उनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। सूरदास सगुण ब्रह्म के उपासक थे।
- **सैय्यद अली तबतबा**-सैय्यद अली तबतबा 1580 में भारत आए और गोलकुण्डा के सुल्तान की सेवा में भर्ती हो गए और उसके पश्चात बुरहान निजाम शाह द्वितीय की सेवा में चले गए। वहीं उन्होंने बुरहान-ए-मासिर नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में गुलबर्ग, बीदर और अहमदनगर के राजवंशों पर प्रकाश डाला गया है।

- **हरिविजय सूरि**-हरिविजय सूरि एक प्रमुख जैन मुनि थे। वह मुगल सम्राट अकबर के समकालीन थे। अकबर ने फतेहपुर सीकरी में इबादत खाना की स्थापना की थी, जिसमें विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के प्रमुखों को विचार-विमर्श के लिए आमंत्रित किया था। हरिविजय सूरि भी अकबर द्वारा आमंत्रित विद्वानों में से एक थे।

आधुनिक भारत के प्रमुख व्यक्तित्व

- **इंदुलाल याज्ञनिक** - इंदुलाल याज्ञनिक गुजरात के निवासी थे तथा उन्होंने एक समाज सुधारक, स्वतंत्रता सेनानी व पत्रकार के रूप में अपनी एक अलग पहचान बनायी। यह राष्ट्रीय आंदोलन से सक्रिय रूप से जुड़े हुए थे। उन्होंने होमरूल आंदोलन तथा करिया सत्याग्रह में भाग लिया। उन्होंने आदिवासी बच्चों के लिए बहुत से स्कूलों की स्थापना की। वे अंत्यज सेवा मण्डल के सदस्य बने तथा 1942 में उन्हें अखिल हिन्द किसान सभा का अध्यक्ष नियुक्त किया।
- **इला भट्ट** - इला भट्ट का जन्म 1933 में हुआ था। इला भट्ट महिलाओं में आर्थिक उत्थान के लिए जागरुकता उत्पन्न करने के लिए संघर्षरत रहीं हैं। महिलाओं की स्वरोजगार योजना में इनका अकथनीय योगदान है। इन्हें निर्धन महिलाओं की ट्रेड यूनियन के पथ-प्रदर्शक के रूप में जाना जाता है। 1977 में इन्हें मैग्सेसे पुरस्कार से सम्मानित किया गया है।
- **ऊधम सिंह** - ऊधम सिंह पंजाब के क्रांतिकारी नेता थे। पंजाब के अमृतसर स्थित जलियांवाला बाग में 13 अप्रैल, 1919 को हुए सामूहिक हत्याकाण्ड का उत्तरदायी ब्रिटिश फौजी कमांडर जनरल डायर था, जिसने निहत्थी जनता पर गोलियां बरसाने का आदेश दिया था। जलियांवाला बाग हत्याकांड का बदला ऊधम सिंह ने मार्च, 1940 में जनरल डायर की हत्या करके लिया था। ऊधम सिंह को 1940 में गिरफ्तार करके फांसी दे दी गई।
- **कमला देवी चट्टोपाध्याय** - कमला देवी चट्टोपाध्याय ने भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभायी। इसके अतिरिक्त उन्हें समाज सुधारक एंव कलाकर के रूप में भी जाना जाता है। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय थियेटर संस्थान व भारतीय राष्ट्रीय थियेटर केंद्र की स्थापना की। उन्होंने भारतीय हस्तकला क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया।
- **कांजीवरम नटराजन अन्नादुरै** - सी.एन. अन्नादुरै तमिलनाडु के एक महत्वपूर्ण सामाजिक कार्यकर्त्ता तथा कुशल राजनीतिज्ञ थे। जीवन के प्रारंभिक दिनों में कुछ समय तक वह एक अध्यापक तथा पत्रकर के रूप में चर्चित रहे। उन्होंने विदुतली, कडी अरासू आदि पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया। जस्टिस पार्टी में शामिल होने के बाद जस्टिस के उप-संपादक के रूप में कार्य किया। इन्होंने तमिलनाडु के मुख्यमंत्री पद को संभाला तथा 1969 में अपनी मृत्यु तक उसी पद पर बने रहे।
- **के.एम. मुंशी** - भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल होने से पूर्व वह क्रांतिकारी समूह के प्रति विशेष रूप से प्रभावित व आकर्षित थे। उन्होंने नमक सत्याग्रह व सविनय अवज्ञा आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। 1937 में वह बम्बई में गृहमंत्री के रूप में नियुक्त किये गये। के.एम. मुंशी एक सफल राजनीतिज्ञ के साथ-साथ एक प्रसिद्ध लेखक, वकील, शिक्षाशास्त्री तथा समाज-सुधारक भी थे। 1938 में इन्होंने भारतीय विद्या-भवन की स्थापना की।

- **के.कामराज** - के.कामराज ने भारत में स्वतंत्रतता आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभायी। कामराज कांग्रेस के चर्चित नेता के रूप में जाने जाते हैं। इन्हें ही प्रसिद्ध कामराज योजना का जनक कहा जाता है। इनका जन्म कर्नाटक में हुआ था।
- **चक्रवर्ती राजगोपालाचारी** - सी. राजगोपालाचारी का जन्म 1897 में मद्रास के सलेम नाम स्थान में एक सनातन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे एक प्रसिद्ध वकील थे किंतु 1919 में गांधी जी के संपर्क में आने के बाद उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में आने का निर्णय लिया। 1921-22 में वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जनरल सचिव बने और 1922 से 1924 तक वह कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सक्रिय सदस्य रहे। 1937 से 1939 तक ये मद्रास के मुख्यमंत्री रहे।
- **चापेकर बंधु (बालकृष्ण चापेकर, दामोदर चापेकर)** - चापेकर बन्धु महाराष्ट्र के थे तथा बाल गंगाधर तिलक से प्रभावित होकर उन्होंने अपने आपको क्रांतिकारी गतिविधियों मे पूरी सक्रियता से झोंक दिया। उन्होंने एक संस्था की स्थापना की जो कि 'सोसायटी फार दि रिमूवल ऑफ आब्सटैकल्स ऑफ द हिन्दू रिलीजन' नाम से प्रसिद्ध हुई। इन्हें पूना के ब्रिटिश प्लेग कमिश्नर रैण्ड की हत्या के आरोप में फांसी की सजा दी गई थी।
- **सी.वी. रमन** - चंद्रशेखर वेंकट रमण भौतिक विज्ञान के प्रख्यात वैज्ञानिक थे। इनका जन्म 7 नवंबर, 1888 को दक्षिण भारत के तिरुचिरापल्ली नगर में हुआ । वे 1933 से 1948 तक बंगलौर स्थित भारतीय विज्ञान संस्थान के भौतिक विभाग के अध्यक्ष रहे। उन्होंने 1934 में 'इंडियन जनरल ऑफ फिजिक्स' नामक पत्रिका की और 'इंडियन एकेडमी ऑफ साइंस' नामक संस्था की स्थापना की। उन्हें रमण प्रभाव के आविष्कार के लिए 1930 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।
- **सी.शंकरन नायर** - सी. शंकरन नायर भारत के विख्यात राजनीतिज्ञ एवं न्याय विशेषज्ञ थे। उनका जन्म 11 जुलाई, 1857 को मालाबार में हुआ था। सन 1907 में वे मद्रास राज्य के प्रथम भारतीय एडवोकेट जनरल बने। वे समाज सुधार के साथ-साथ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के समर्थक के रूप में ख्याति प्राप्त थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अमरावती में 1897 में आयोजित तेरहवें अधिवेशन में शंकरन नायर को अध्यक्ष नियुक्त किया था।
- **जयप्रकाश नारायण** - जयप्रकाश नारायण ने भारत छोड़ो आंदोलन में सक्रिय भूमिका अदा की थी। इनका जन्म बिहार में हुआ था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ये सोशलिस्ट पार्टी के नेता बन गए। बाद में इन्होंने आचार्य विनोबा भावे के सर्वोदय तथा भूदान आंदोलन में सक्रियता से भाग लिया। समग्र क्रांति का नारा जयप्रकाश नारायण ने ही दिया था।
- **जगदीश चंद्र बोस** - जगदीश चंद्र बोस एक वैज्ञानिक थे। इनका जन्म बंगाल के ढाका जिले में सन 1858 में हुआ था। इन्होंने भौतिक विज्ञान में विद्युत विकिरण के क्षेत्र में और जीव एवं वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य किया। इन्होंने पौधों पर निद्रा, हवा, भोजन और औषधियों के प्रभाव को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रयोगात्मक तरीके अपनाए।
- **जमनालाल बजाज** - जमनालाल बजाज एक प्रसिद्ध उद्योगपति थे। वह 30 वर्ष की अवस्था में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सम्मिलित हुए तथा जीवन पर्यन्त कांग्रेस के कोषाध्यक्ष बने रहे। उन्होंने 'गांधी सेवा संघ', 'गऊ सेवा

संघ' तथा 'सस्ता–साहित्य मण्डल' की स्थापना की तथा वर्धा में सत्याग्रह आश्रम संस्थापित करने में काफी महत्वपूर्ण योगदान दिया।

- **जॉर्ज यूले** – जॉर्ज यूले उन गिने-चुने अंग्रेज व्यापारियों में एक एक थे, जो भारत की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं से सहानुभूति रखते थे। वे भारतीय कांग्रेस के समर्थक थे। उन्होंने कांग्रेस के 1888 ई. के इलाहाबाद में सम्पन्न चौथे राष्ट्रीय अधिवेशन की अध्यक्षता की थी।
- **डॉ. जाकिर हुसैन** – डॉ. जाकिर हुसैन एक प्रतिष्ठित राष्ट्रवादी व एक महान शिक्षा-शास्त्री थे। इनका जन्म फरवरी, 1897 में हैदराबाद में एक अफगानी परिवार में हुआ था। जाकिर हुसैन का राजनैतिक जीवन 1920 में शुरू हुआ तथा गांधी जी के आह्वान पर 1921 के असहयोग आंदोलन में सक्रिय रहे। 1962 में इन्हें भारत के उपराष्ट्रपति के पद पर नियुक्त किया गया। 1967 में इन्हें भारत का राष्ट्रपति नियुक्त किया गया।
- **सी.वाई चिंतामणि** – सी.वाई. चिंतामणि एक बहुचर्चित पत्रकार व संपादक थे। इन्होंने द लीडर, द इंडियन पीपुल तथा हिंदुस्तान रिव्यू का संपादन किया। स्वतंत्र पार्टी के संस्थापक सदस्यों में यह भी थे। इन्होंने गोलमेज सम्मेलन में स्वतंत्र पार्टी की तरफ से प्रतिनिधित्व किया था। सी.वाई. चिंतामणि नेशनल लिबरल फेडरेशन ऑफ इंडिया के 9 वर्ष तक जनरल सेक्रेटरी रहे तथा 1920 व 1931 में इसके अध्यक्ष नियुक्त किये गये।
- **सी.एफ. एंड्रूज** – सी.एफ. एंड्रूज इंग्लैण्ड के एक ईसाई धर्म प्रचारक, मानव प्रेमी तथा परोपकारी व्यक्तित्व के स्वामी थे। भारत में आने के बाद वह पूरे 8 वर्ष तक दिल्ली के सेंट स्टीफन कॉलेज में अध्यापन के कार्य में जुड़े रहे। समय के साथ–साथ वह पूर्ण रूप से भारतीय संस्कृति में रंग गये थे। अपना परिचय वह एक विदेशी के रूप में नहीं एक भारतीय के रूप में देते थे। वह 1925 व 1927 में वे ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये।
- **टीटू मीर** – टीटू मीर ने पश्चिमी बंगाल में वहाबी आंदोलन का नेतृत्व किया था। निसार अली उर्फ टीटूमीर सैयद अहमद राय बरेलवी के शिष्य थे। टीटू मीर ने मुस्लिम कृषकों को हिन्दू जमींदारों और ब्रिटिश नील उत्पादकों के विरुद्ध संगठित किया। टीटू मीर के संगठन या आंदोलन की गतिविधियां क्रांतिकारी नहीं थी, लेकिन अंग्रेजों ने उन्हें क्रांतिकारी बताया।
- **तेज बहादुर सप्रू** – तेज बहादुर सप्रू का जन्म 8 दिसंबर, 1875 को अलीगढ़ के एक कश्मीरी ब्राम्हण परिवार में हुआ। उन्होंने आगरा कॉलेज से बी.ए. आनर्स तथा एम.ए. अंग्रेजी साहित्य में विश्वविद्यालय में सर्वोच्च अंक प्राप्त किए। वह पेशे से वकील थे। सप्रू ने 1923 में लंदन में साम्राज्यवाद सम्मेलन में भारत सरकार का प्रतिनिधित्व किया और उन्होंने वहां पर समानता हेतु अपनी आवाज बुलंद की।
- **थियोडोर बेक** – थियोडोर बेक एक अंग्रेज थे, जो 1883 से 1899 तक अलीगढ़ कॉलेज के प्रिंसिपल थे। कैम्ब्रिज में शिक्षा प्राप्त बेक को भारत में मुस्लिम पृथकतावाद के वास्तविक निर्माता के रूप में जाना जाता है। बेक प्रतियोगता परीक्षाओं के इसलिए विरूद्ध थे क्योंकि इससे बंगालियों को अधिक लाभ मिलता था और अन्य समुदायों को इसमें न के बराबर ही सफलता मिल पाती थी। बेक सैयद अहमद खां की महत्वाकांक्षाओं का समर्थन करते थे।

- **दयानन्द सरस्वती** - स्वामी दयानन्द सरस्वती 20वीं शताब्दी के प्रमुख सामाजिक व धार्मिक सुधारकों में से एक थे। इनका जन्म 1824 में गुजरात प्रांत के टंकारा नामक स्थान में हुआ था। दयानन्द ने हिन्दु धर्म में व्याप्त अंधविश्वासों व बुराइयों को दूर करने के लिए सतत् प्रयास किए, जैसे-मूर्ति पूजा, अवतारवाद, बहुदेव पूजा, पशुता व्यवहार व विचार, अंधविश्वासी धार्मिक कृत्य आदि।
- **नन्द लाल बोस** - नन्द लाल बोस का जन्म कलकत्ता (वर्धमान) में हुआ था। ये मॉडर्न स्कूल ऑफ आर्ट्स से सम्बंधित प्रतिभाशाली चित्रकार थे। उमा की तपस्या, घायल बकरी को ले जाते हुए भगवान बुद्ध, कृष्णार्जुन, नदी-पूजा, शिव-पार्वती एवं गोपिनी आदि अनकी अनुपम कृतियां हैं। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में भी इनका सराहनीय योगदान रहा है। उन्होंने कांग्रेस के लखनऊ, हरिपुरा सहित कई अधिवेशनों के मंचों को सुंदर चित्रकारी से सजाने का कार्य किया।
- **आचार्य नरेंद्र देव** - यह प्रसिद्ध विद्वान और समाजशास्त्री तथा राष्ट्रवादी थे। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपना वकालत का व्यवसाय त्यागकर 1921 में गांधी जी के असहयोग आंदोलन में भाग लिया था। वह 1934 में पटना के 'समाजवादी सम्मेलन' के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। कुछ समय के लिए नरेन्द्र देव कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य रहे। 1948 में उन्होंने पार्टी से अपना नाता तोड़कर समाजवादी पार्टी की स्थापना की। कुछ समय के लिए वह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति रहे।
- **श्री नारायण गुरू**-श्री नारायण गुरू केरल के एक प्रसिद्ध सामाजिक व धार्मिक सुधारक थे। वे इजवा जाति के लोंगों के लिए एक प्रेरक प्रतिनिधि के रूप में आगे बढ़कर आये, जिन्हें अछूत माना जाता था। उन्होंने ब्राह्मणों के प्रभुत्व व पुरोहित-गिरी का जमकर विरोध किया तथा सभी जातियों के लिए मंदिर में प्रवेश के अधिकार का प्रबल समर्थन किया। 1888 में उन्होंने अरविंदपुरम आंदोलन की शुरूआत की।
- **पण्डित रमाबाई** - उन्नीसवीं शताब्दी में जिन थोड़ी-सी भारतीय महिलाओं ने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त की, उनमें अग्रणी थी पण्डित रमाबाई। उन्होंने ईसाई धर्म अपनाकर एक विधवा आश्रम की स्थापना की। उन्होंने अमरीका में व्याख्यान दिए और भारतीय महिलाओं, विशेष रूप में हिन्दू विधवाओं के लिए एक शिक्षण संस्थान खोलने के निमित्त धन-संग्रह किया। महिलाओं के उत्थान में उनका योगदान सराहनीय रहा।
- **पी.आनंद चारलू** - पी. आन्नद चारलू दक्षिण भारत के थे, जिन्होंने कई राजनैतिक संगठनों को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। अपने सहयोगी मित्रों के सहयोग से उन्होंने 1884 में 'मद्रास महाजन सभा' नामक एक राजनैतिक संस्था की स्थापना की। पी. आनंद चारलू उन 72 प्रतिनिधियों में से एक थे जिन्हें 'बहादुर-72' के नाम से जाना जाता है। इन्होंने 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पहले अधिवेशन का मुंबई में सूत्रपात किया और इसके उद्देश्य व रूपरेखा का निर्धारण किया।
- **पी.सी. चारलू** - पी.सी. चारलू वामपंथी तथा श्रमिक आंदोलनों से संबद्ध थे। 1935 में 'संयुक्त श्रमिक मोर्चा' की स्थापना की गई, जिसके महासचिव पी.सी. जोशी ही थे। 1929 के देशव्यापी श्रमिक आंदोलन के दौरान 'मेरठ

षड्यंत्र काण्ड' में मुजफ्फर अहमद, डांगे, मिराजकर तथा दो ब्रिटिश साम्यवादियों – बेन ब्रैडले और फिलिप स्प्रेट के साथ पी.सी. जोशी को भी जेल में डाल दिया गया था।

- **पुरूषोत्तम दास टंडन** – पुरूषोत्तम दास टंडन राष्ट्रीय आंदोलन के असहयोग आंदोलन में अपनी सक्रिय भूमिका के लिए चर्चित रहे। बाद में उन्होंने उत्तर प्रदेश में सविनय अवज्ञा आंदोलन का नेतृत्व किया और उस समय के किसान आंदोलन के मुख्य नेता बने। उन्हें राजर्षि के रूप में भी जाना जाता है। उन्हें 1937 में उत्तर प्रदेश विधान सभा का सभापित नियुक्त किया गया। 1951 में इन्हें कांग्रेस पार्टी का अध्यक्ष मनोनीत किया गया।
- **लॉर्ड पेथिक लारेंस**–लॉर्ड पेथिक लारेंस ब्रिटिश संसद में भारतीय मामलों के सचिव थे। 24 मार्च, 1946 को भारत पहुंचने वाले मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल योजना का नेतृत्व लारेंस ने ही किया था, जिसमें ब्रिटिश संसद के दो सदस्य स्टेफोर्ड क्रिप्स और ए.वी. एलेक्जेण्डर भी थे। मंत्रिमण्डलीय शिष्टमण्डल का मुख्य उद्देश्य भारत में संविधान सभा अर्थात भारतीयों द्वारा अपना संविधान बनाने के कार्य को आरंभ करना था।
- **बलवंत वासुदेव फडके** – बलवंत वासुदेव फड़के ने रामोसी जाति के सदस्यों को संगठित कर बंबई प्रेसीडेंसी में सफलतापूर्वक अंग्रेजी सरकार क विरूद्ध क्रांति का नेतृत्व किया। इन्हे जुलाई, 1877 में गिरफ्तार कर जीवन पर्यंत अंडमान निकोबार में काला पानी की सजा दे दी गई। काला पानी की सजा के दौरान ही आमरण अनशन पर बैठे हुए फरवरी, 1883 में उनका देहांत हो गया।
- **बाल गंगाधर तिलक**– तिलक प्रथम राष्ट्रवादी नेता थे, जिन्होंने जनता से निकट संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया, इस दृष्टि से वह महात्मा गांधी के अग्रगामी थे। तिलक ने अपने विचारों के प्रसार के लिए दो समाचार-पत्र अंग्रेजी में 'द मराठा' और मराठी में 'केसरी' आरंभ किए। 'शिवाजी उत्सव' और 'गणपति महोत्सव' का आयोजन सर्वप्रथम तिलक ने आरम्भ किया था। तिलक ने पूना में 1916 में होमरूल लीग स्थापित की।
- **बाबा आम्टे** – मुरलीधर देवीदास आम्टे प्रसिद्ध समाज सेवी हैं जिन्हें 1985 के रमन मैग्ससे पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इन्होंने महाराष्ट्र के चंद्रपुर जिले में कुष्ठ रोगियों व दूसरे विकलांग लोगों के लिए 'आनंद वन' नामक आश्रम की स्थापना की । पंजाब में शांति स्थापनार्थ व भारत की एकता और अखण्डता को मजबूती प्रदान करने के उद्देश्य से 'भारत जोड़ो' नामक यात्रा की। इन्हें 1999 में एक करोड़ रूपये का अंतरराष्ट्रीय गांधी शांति पुरस्कार भी प्रदान किया गया है।
- **भाई परमानंद**–भाई परमानंद पंजाब के सुप्रसिद्ध आर्य समाजी नेता तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में गदर पार्टी के प्रमुख कार्यकर्ता थे। ये लाला हरदयाल के निकट सहयोगी थे तथा इन्होंने गदर पार्टी की गतिविधियों को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1913 में भारत लौटने पर इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और प्रथम लाहौर षड्यंत्र कांड में इन पर मुकद्मा चला कर इन्हें मृत्युदंड दिया गया था, किंतु वायसराय लॉर्ड हार्डिंग ने इनकी सजा को आजीवन कारावास में बदल दिया।
- **भूलाभाई देसाई**–भूलाभाई देसाई राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गांधी के निकट सहयोगी थे। इन्होंने केंद्रीय विधानसभा में नौ वर्षों तक कांग्रेस पार्टी का नेतृत्व किया। 1944 में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच समझौता कराने के

प्रयत्नों में लियाकत अली खां के साथ निजी तौर पर बातचीत करके अंतरिम सरकार के संदर्भ में 'देसाई-लियाकत समझौता' संपन्न कराया।

- **मदन लाल ढींगरा**-मदन लाल ढींगरा पंजाब के महान क्रांतिकारी थे। ये इंजीनियरी में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए 1906 में इंग्लैण्ड गये, जहां वे श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा वी.डी. सावरकर जैसे क्रांतिकारी भारतीय नेताओं के घनिष्ट सम्पर्क में आए। ये लंदन में भारतीय होमरूल सोसायटी, अभिनव भारत सोसाइटी तथा इंडिया हाउस से भी संबद्ध रहे। 1 जुलाई, 1909 को लंदन में भारतीय राष्ट्रीय संघ की बैठक में उन्होंने भारत के राज्य सचिव के सलाहकार कर्जन वायली की हत्या कर दी।
- **महादेव गोविन्द रानाडे**-प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ व समाज सुधारक महादेव गोविन्द रानाडे का जन्म 1842 में महाराष्ट्र में हुआ था। 1893 में उन्हें बम्बई उच्च न्यायालय में न्यायाधीश नियुक्त किया गया। वह सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक उत्थान के उद्देश्य को सार्थक करते हुए बहुत सी भारतीय संस्थाओं में अपने सक्रिय योगदान के साथ सेवारत थे, जैसे -पूना सार्वजनिक सभा, सामाजिक सभा, औद्योगिक सभा, प्रार्थना समाज तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आदि।
- **पं. मदन मोहन मालवीय** - पं. मदन मालवीय का जन्म 25 दिसंबर, 1861 में इलाहाबाद में हुआ था। 1907 में उन्होंने इलाहाबाद में 'भारतीय औद्योगिक सभा' तथा उत्तर प्रदेश औद्योगिक संस्था की स्थापना की। मालवीय ने 1916 में बनारस में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। 1926 में उन्होंने राष्ट्रवादी पार्टी की स्थापना की। अमृतसर के जलियावाला बाग नरसंहार के शहीदों की स्मृति में उसी क्षेत्र में एक स्मारक बनाने के लिए कांग्रेस को प्रोत्साहित किया।
- **एम.आर. जयकर**-एम.आर. जयकर राष्ट्रीय आंदोलन के प्रखर प्रवक्ता थे, जालियावाला बाग व पंजाब में अशांति के कारणों की विस्तृत रिपोर्ट तैयार करने के लिए उन्हें 1919 में कांग्रेस आयोग का सदस्य बनाया गया । वह 1923 से 1925 तक बंबई विधान परिषद में स्वराज पार्टी का नेतृत्व करते रहे। इंग्लैण्ड के गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने वाले भारतीय प्रतिनिधियों में से वह भी थे।
- **मानवेन्द्र नाथ राय**-कम्युनिस्ट विचारों के समर्थक राष्ट्रवादी एम. एन. राय ने 1920 में ताशकंद में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की। 1930 में भारत वापस आने के बाद कम्युनिस्ट षड्यंत्र आंदोलन में भाग लेने के कारण उन्हें 6 वर्ष के लिए जेल भेजा गया। मार्क्सवादी विचारों से संबंधित पुस्तकों का अनुवाद करना भारत के लिए उनका सबसे महान योगदान था।
- **मदर टेरेसा**-मदर टेरेसा अल्बानिया में स्थित स्कोप्जे के एक कृषक परिवार में जन्मी समाज सेविका थी, जिन्होंने भारत की नागरिकता ग्रहण कर अपना जीवन दीनों की सेवा में समर्पित कर दिया। 1979 में इन्हें नोबल शांति पुरस्कार प्रदान किया गया तथा इंग्लैण्ड की महारानी एलिजाबेथ द्वितीय ने इन्हें 'आर्डर ऑफ मेरिट' से सम्मानित किया। 1980 में उन्हें 'भारत रत्न' की उपाधि से सम्मानित किया गया। 5 सितम्बर, 1997 को कोलकाता में मदर टेरेसा की मृत्यु हो गई।

- **मैत्रेयी देवी**-मैत्रेयी देवी एक प्रसिद्ध लेखिका तथा समाज सेविका थी। उन्होंने कुछ समय तक रवीन्द्र नाथ टैगोर के साथ कार्य भी किया। 16 वर्ष की अवस्था में उनका पहला उपन्यास उदित प्रकाशित हुआ। एक समाज सेविका के रूप में 1971 में उन्होंने अनाथ बच्चों के लिए 'खेल घर' की स्थापना की। फरवरी, 1990 में कोलकाता में उनकी मृत्यु हो गई।
- **रविशंकर**-रविशंकर भारत के विश्वविख्यात सितार वादक हैं। ये प्रसिद्ध नर्तक उदयशंकर के छोटे भाई हैं। इन्हें 'भारत रत्न' सहित अन्य अनेक राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। वे यूनेस्को के पेरिस सम्मेलन में सितार वादन प्रस्तुत करने वाले प्रथम भारतीय कलाकार है। गुटनिरपेक्ष देशों के दिल्ली में सम्पन्न सम्मेलन, एशियाड-82 व गांधी फिल्म में भी उन्होंने संगीत दिया।
- **रास बिहारी घोष**-रास बिहारी घोष स्वतंत्रता आंदोलन के सक्रिय उदारवादी नेता थे। वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सक्रिय नेताओं में से एक थे। 1907 में हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में लाला लाजपत राय के स्थान पर रास बिहारी घोष को अध्यक्ष चुना गया।
- **रानी गिडाल्यू**- नागा महिला रानी गिडाल्यू राष्ट्रवादी नेता थी और जदोनांग की शिष्या थी, जिन्होंने मणिपुर से ब्रिटिश सरकार को उखाड़ फेकने के लिए राजनैतिक आंदोलन छेड़ रखा था। जदोनांग को गिरफ्तार कर फांसी पर लटका दिये जाने के बाद रानी ने उस आंदोलन का नेतृत्व सम्भाला। 1932 में गिडाल्यू को गिरफ्तार करके 14 वर्ष के लिए जेल में बन्द कर दिया गया। जवाहरलाल नेहरू ने इन्हें 'नागाओं की रानी' की उपाधि से विभूषित किया।
- **राम मनोहर लोहिया**-लोहिया एक परम व विशिष्ट देशभक्त थे, जिन्होंने समाज में व्याप्त व प्रचलित सामाजिक अन्याय के विरूद्ध कठिन संघर्ष किया। राम मनोहर लोहिया 1934 में स्थापित 'कांग्रेस समाजवादी पार्टी' के संस्थापित सदस्यों में से एक थे। उन्होंने 'द कांग्रेस सोशलिस्ट' पत्रिका का भी सम्पादन किया। लोहिया ने जून, 1946 में गोआ को स्वतंत्र कराने के लिए एक आंदोलन का सूत्रपात किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लोहिया ने 'समाजवादी आंदोलन' का संचालन किया।
- **लाला लाजपत राय**-लाला लाजपत राय एक प्रसिद्ध राष्ट्रवादी तथा समर्पित समाज सुधारक थे, जिनकी उपलब्धियों के फलस्वरूप पूरा देश उन्हें शेर-ए-पंजाब के नाम से जानता है। लाला लाजपत राय का जन्म लुधियाना में 1865 में हुआ था। उनके क्रांतिकारी विचारों ने बाल गंगाधर तिलक तथा विपिन चंद्र पाल के साथ मिलकर एक प्रसिद्ध ग्रुप 'बाल, लाल और पाल' की स्थापना की। लाला लाजपत राय द वंदे मातरम पत्र के संस्थापक-संपादक थे तथा साथ ही साथ उन्होंने 'पंजाबी' तथा 'द पीपुल' का संपादन किया।
- **वी.एन.मेनन**-आधुनिक भारत के एक महान कवि वी.एन. मेनन, कुमारन असन तथा उल्लूर के साथ आधुनिक मलयालम के क्षेत्र में त्रिमूर्ति के रूप में जाने जाते हैं। वी.एन. मेनन का जन्म 1878 में केरल प्रांत के चेन्नरा ग्राम में हुआ था। मेनन ने अपनी कविताओं में भारतीय राष्ट्रवाद के गीत रचे। 1921 में वह गांधी जी से मिले और उन्हें अपने साक्षात गुरू के रूप में आदर दिया। 1948 में मद्रास सरकार ने उन्हें 'राजकवि' के रूप में सम्मानित किया।

- **सर विलियम जोन्स**-विलियम जोन्स लंदन में पैदा हुए थे। वह 1783 में भारत आये और कलकत्ता (वर्तमान कोलकाता) सुप्रीम कोर्ट के सहायक न्यायधीश के पद पर नियुक्त किये गये। उनका भारत की मौलिक संस्कृति व दर्शन से विशेष रूप से लगाव था। जोन्स ने मनु-स्मृति, शंकुतला और हितोपदेश आदि ग्रंथों का अनुवाद किया। विलियम जोन्स एशियाटिक रिसर्च सोसाइटी के स्थापित अध्यक्ष थे। इन्हें 'फादर ऑफ इंडोलाजी' के रूप में जाना जाता था।
- **वीरेसलिंगम**-आंध्र प्रदेश प्रांत के राजामुंदरी के निवासी वीरेसलिंगम ने अपना पूरा जीवन एक समाज सुधारक के रूप में समर्पित किया। उन्होंने बाल-विवाह का विरोध किया तथा विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहन दिया। वीरेसलिंगम ने राजामुंदरी में 'हितकारी ट्रस्ट' की स्थापना की, ताकि सामाजिक उद्देश्यों की उपलब्धियां प्राप्त की जा सकें। 'तेलगू साहित्य' को विकसित करने का श्रेय वीरेसलिंगम को ही दिया जाता है।
- **वी.डी. सावरकर**-वी.डी. सावरकर की ख्याति एक कवि, विद्वान सामाजिक कार्यकर्ता, इतिहासकार व निडर क्रांतिकारी के रूप में है। 1899 में सावरकर ने 16 वर्ष की अवस्था में अपने मित्रों के सहयोग से 'मित्र मेला' संस्था की स्थापना की। 1904 में इस संगठन का नाम 'अभिनव भारत समाज' रखा गया। उन्होंने इंडियन वार ऑफ इंडिपेंडेस नामक पुस्तक लिखी। 1910 में उन्हें 'नासिक षड्यंत्र काण्ड' में गिरफ्तार कर लिया गया और देश से निर्वासित कर दिया गया। किंतु 1924 में मुक्त किये जाने के पश्चात् वे हिन्दू महासभा में शामिल हो गए।
- **सर विलियम वेडरबर्न**-सर विलियम वेडरबर्न एक अंग्रेज थे, जिन्होंने कांग्रेस के संस्थापक ए.ओ. हयूम की जीवनी लिखी थी। 1889 में बम्बई में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में वेडरबर्न को अध्यक्ष बनाया गया था। पुन: 1910 में इलाहाबाद में आयोजित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता वेडरबर्न ने की। वेडरबर्न ने लिटन के प्रशासनिक काल की आलोचना करते हुए लिखा था कि इससे भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को बढ़ावा मिला।
- **शरत चंद्र चट्टोपाध्याय**-शरत चंद्र चट्टोपाध्याय बंगला साहित्य के एक प्रसिद्ध उपन्यासकार थे। उनका जन्म बंगाल में 1876 में हुआ था। चरित्रहीन, श्रीकांत, गृहदाह तथा शेष प्रश्न इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। रवीन्द्र नाथ टैगोर तथा बंकिमचंद्र चटर्जी से प्रभावित शरत चन्द्र की रचनाएं हृदय को बहुत अधिक स्पर्श करती हैं।
- **श्यामजी कृष्ण वर्मा**-क्रांतिकारी गतिविधियों से संबंधित 1905 में लंदन में 'इंडियन होम रूल सोसाइटी' की स्थापना की तथा 'इंडियन सोशियोलोजिस्ट' नामक जर्नल के प्रकाशन का प्रारंभ किया। श्यामजी कृष्ण वर्मा की पहल से लंदन में 'इंडिया हाउस' की स्थापना हुई।
- **सर सैय्यद अहमद खां**-सर सैय्यद अहमद खां मुसलमान सुधारकों में अग्रणी थे। वे आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से काफी प्रभावित थे तथा जीवन भर इस्लाम के साथ उनका तालमेल करने के लिए प्रयत्नरत रहे। सर सैयद जीवन भर परंपरा के अंध अनुकरण, रीति-रिवाजों, अज्ञानता तथा अबुद्धिवाद के खिलाफ संघर्ष करते रहे। उन्होंने 1875 में अलीगढ़ में मुहम्मडन एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज की स्थापना पाश्चात्य विज्ञान तथा संस्कृति का प्रचार करने वाले एक केंद्र के रूप में की।

- **सैफुद्दीन किचलू**–सैफुद्दीन किचलू ने भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। 1919 के सत्याग्रह आंदोलन को संचालित करने में वह लौह-स्तम्भ की तरह अडिग रहे। मार्शल कानून आयोग ने उन्हें आजीवन काले पानी की सजा दी थी पर बाद में वह रिहा कर दिये गये। एक बैरिस्टर के रूप में किचलू ने दिल्ली व मेरठ षड्यंत्र केस में सराहनीय कार्य किया। वह अखिल भारतीय शांति परिषद के संस्थापक अध्यक्ष रहे थे।
- **सरोजनी नायडू**–सरोजनी नायडू को भारत कोकिला (नाइटिंगेल ऑफ इंडिया) के रूप में याद किया जाता है। सरोजनी चट्टोपाध्याय का जन्म 1879 में हुआ था। उन्होंने बहुत कम आयु में ही भिन्न-भिन्न आयामों पर भावपूर्ण कविताओं की रचना शूरू कर दी थी। उनकी पहली पुस्तक द गोल्डेन थ्रेसहोल्ड 1905 में प्रकाशित हुई। 1893 में डा. गोविंद राजूलू नायडू से शादी होने के बाद इन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय रूप में भाग लिया। इन्हें 1925 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पर नियुक्त किया गया।
- **सुब्रमण्यम भारती**–सुब्रमण्यम भारती का जन्म 11 दिसंबर, 1882 को तमिलनाडु के तिन्नेवेली जिले में हुआ था। वह महान कवि, समाज सुधाकर व स्वतंत्रता सेनानी थे। उन्होंने अपने राष्ट्रवादी गीतों व कविताओं के द्वारा मातृभूमि को स्वतंत्र कराने लिए समर्पित देशभक्तों को प्रेरित किया। पत्र इंडिया के सम्पादक के रूप में तथा अंग्रेजी सप्ताहिकी 'बाल भारती' में उनके क्रांतिकारी लेखों से अंग्रेजी सरकार बौखला गई।
- **एस. सत्यमूर्ति**–सत्यमूर्ति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रसिद्ध नेता थे। उन्होंने दक्षिण भारत में राष्ट्रवादी विचारों का प्रचार क्रिया। उन्हें तमिलनाडु कांग्रेस कमेटी के सचिव पद पर नियुक्त किया गया। अपनी उचित कार्य-विधियों व सक्रियता के परिणामस्वरूप सत्यमूर्ति को दक्षिण भारत का 'फायर बांड' कहा जाता था। 1939 में वह मद्रास नगर पालिका के मेयर चुने गये तथा इसी बीच 'पुन्डी धाम योजना' की विस्तृत रूपरेखा तैयार की, जिसका नाम बाद में 'सत्यमूर्ति सागर' रखा गया।
- **डॉ. सत्यपाल**–सत्यपाल ने राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान अपनी सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र देकर रॉलेट बिल के खिलाफ आंदोलन में सक्रिय भाग लिया था। हालांकि उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा, फिर भी वे राष्ट्रीय गतिविधियों में भाग लेने से न तो कभी विमुख हुए और न निराश। उन्होंने पंजाब कांग्रेस के सचिव व अध्यक्ष पद पर रहते हुए काफी सराहनीय कार्य किए। वह पंजाब विधान सभा के सभापति के पद पर भी नियुक्त किये गये। वह पेशे से डॉक्टर थे।
- **एस.ए. डांगे**–एस.ए. डांगे कम्युनिस्ट आंदोलन से संबद्ध थे। अगस्त, 1922 में डांगे ने बंबई से 'सोशलिस्ट' नामक एक साप्ताहिक पत्र के प्रकाशन का प्रारंभ किया, जो भारत में प्रकाशित होने वाली प्रथम कम्युनिस्ट पत्रिका थी। डांगे एम.एन. राय के निकट सहयोगी थे। मई, 1924 में 'कानपुर बोल्शेविक षड्यंत्र केस' में मुजफ्फर अहमद, शौकत उस्मानी तथा नलिनी गुप्ता के साथ इन्हें भी जेल भेजा गया था।
- **हेनरी विवियन डेरोजियो**–हेनरी विवियन डेरोजियो कलकत्ता हिन्दू कॉलेज में अंग्रेजी साहित्य व इतिहास के प्राध्यापक थे। डेरोजियो ने 'यंग बंगाल मूवमेंट' का सूत्रपात किया। उन्हें आधुनिक भारत का पहला राष्ट्रवादी कवि माना जाता है। उन्होंने समाचार-पत्र 'हेसपेरस' और 'द कलकत्ता लाइब्रेरी गजट' का सम्पादन भी किया।

❖❖❖❖❖